उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

DCEPS-104

आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारधारा

खंड

1

इकाई 15
भारत में उपनिवेश विरोधी आदिवासी आंदोलन 3

विशेषज्ञ समिति

प्रो. इकबाल नारायण (अध्यक्ष)
उपकुलपति
उत्तर-पूर्वी हिल विश्वविद्यालय
शिलांग

प्रो. के. मधुसूदन रेड्डी
राजनीतिशास्त्र विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

प्रो. मनोरंजन मोहन्ती
राजनीतिशास्त्र विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

प्रो. ए.पी. राना
राजनीतिशास्त्र विभाग
एम.एस. विश्वविद्यालय
बड़ौदा

प्रो. रशीदुद्दीन खां
तृतीय विश्व अध्ययन केन्द्र
जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

डॉ. शोभनलाल दत्त गुप्ता
रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता

प्रो. आर.एस. मोरखंडिकर (संयोजक)
सामाजिक विज्ञान संस्थान (भूतपूर्व निदेशक)
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

पाठ्यक्रम निर्माण दल

श्री आदित्य निगम
परामर्शदाता (राजनीति विज्ञान)
इग्नू
नयी दिल्ली

डॉ. राजेन्द्र वोरा
राजनीति विज्ञान नागरिक प्रशासन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे

डॉ. सुहास पलसिकर
राजनीति विज्ञान और नागरिक प्रशासन
विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे

डॉ. जगपाल सिंह
परामर्शदाता (राजनीति विज्ञान)
इग्नू

प्रो. पांडव नायक
निदेशक
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इग्नू
नयी दिल्ली

डॉ. दरवेश गोपाल
व्याख्याता, राजनीति विज्ञान
इग्नू
नयी दिल्ली

श्री अनुराग जोशी
व्याख्याता,राजनीति विज्ञान
(पाठ्यक्रम समन्वयकर्ता)
इग्नू
नयी दिल्ली

श्री विजयशेखर रेड्डी
व्याख्याता, राजनीति विज्ञान
इग्नू
नयी दिल्ली

पाठ्यक्रम संपादक

प्रो. के. एन. पन्निकर
ऐतिहासिक अध्ययन केंद्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

सैक्रेटेरियल सहयोग

श्री पी.वी. चड्डा
सुश्री रेनु मल्होत्रा
श्री बिरेन्दर के. शर्मा

सामग्री निर्माण

श्री बालकृष्ण सेल्वराज
कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

सितम्बर 1992 (पुनर्मुद्रित)

© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1991

ISBN-81-7091 914-2

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित - 2025

मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा0लि0 42/7 जवाहर लाल नेहरु रोड, प्रयागराज

NFT-174

इकाई 15 भारत में उपनिवेश विरोधी आदिवासी आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 उपनिवेश काल के दौरान आदिवासियों की सामाजिक आर्थिक स्थिति
15.3 आदिवासियों पर अंग्रेजी नीतियों का प्रभाव
15.3.1 प्रस्तावना
15.3.2 वन-नीति
15.4 आदिवासी आंदोलनों की मुख्य विशेषताएं
15.5 भारत के कुछ प्रमुख आदिवासी आंदोलन
15.5.1 तामर विद्रोह (1789-1832)
15.5.2 संथालों का खेखार आंदोलन (1833)
15.5.3 संथाल विद्रोह (1855)
15.5.4 बोकटा विद्रोह, सरदारी लड़ाई या मुक्ति लड़ाई आंदोलन (1858-95)
15.5.5 बिरसा मुंडा विद्रोह (1895-1901)
15.5.6 गुजरात का देवी आंदोलन (1922-23)
15.5.7 मिदनापुर का आदिवासी आंदोलन (1918-24)
15.5.8 मालदा में जीतू संथाल का आंदोलन (1924-32)
15.5.9 उड़ीसा के आदिवासी और राष्ट्रीय आंदोलन (1921-36)
15.5.10 असम (तत्कालीन असम, नागालैंड, मेघालय और मिजोरम) का आदिवासी आदोलन
15.6 सारांश
15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

इस खंड की पहले की इकाइयों में आपने निम्न जातियों के कल्याण के लिये काम करने वाले नेताओं के विचारों और उनकी गतिविधियों और जाति-व्यवस्था पर उपनिवेशवाद के प्रभाव का अध्ययन किया है, इस इकाई को पढ़कर आप निम्न बिंदुओं को समझ सकेंगे:

- उपनिवेश काल के दौरान आदिवासियों की सामाजिक-आर्थिक स्थितियाँ,
- आदिवासियों पर अंग्रेजी नीतियों का प्रभाव, और
- औपनिवेशिक शोषण और दमन के खिलाफ होने वाले आदिवासी आंदोलन।

15.1 प्रस्तावना

भारत में दूसरे सामाजिक समूहों की तरह, आदिवासियों ने भी उपनिवेश विरोधी आंदोलन में हिस्सा लिया। उपनिवेश विरोधी आदिवासी आंदोलन दो प्रकार के थे : पहले, आदिवासियों पर दमन करने वालों, अर्थात् जमींदारों, महाजनों, व्यापारियों, ठेकेदारों, सरकारी अधिकारियों और ईसाई मिशनरियों, के खिलाफ होने वाले आंदोलन, और दूसरे वे आंदोलन जो भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े और उसी में विलय हो गये। पहले प्रकार के आंदोलनों को इसलिये उपनिवेश विरोधी कहा जा सकता है क्योंकि ये आंदोलन उन वर्गों को लक्ष्य कर किये गये थे जो अंग्रेजी उपनिवेशवाद की देन थे और जिनकी सांठगांठ आदिवासियों से थी। इन वर्गों को आदिवासी बाहरी मानते थे। एक आकलन के अनुसार 1778 से 1848 तक के 70 वर्षों में 70 से अधिक आदिवासी विद्रोह हुए। ये विद्रोह विभिन्न स्तरों के उपनिवेश

विरोधी विद्रोह थे। मुख्य उपनिवेश विरोधी आदिवासी आंदोलन और विद्रोह थे : छोटा नागपुर क्षेत्र के आदिवासी विद्रोह—तामर विद्रोह (1789-1832), संथालों का खेरवार (1858-95), संथाल विद्रोह (1855), बिरसा मुंडा का आंदोलन (1895-1901), गुजरात का देवी आंदोलन (1922-23), मिदनापुर का आदिवासी आंदोलन (1918-24), मालदा में जीतू संथाल का आंदोलन (1924-32), उड़ीसा का आदिवासी और राष्ट्रीय आंदोलन (1921-36) और असम के आदिवासी आंदोलन (19वीं शताब्दी के अंतिम वर्ष)।

15.2 उपनिवेश काल के दौरान आदिवासियों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति

ग्रामीण भारत में प्रारंभ से ही आदिवासियों की आबादी रही। आदिवासी समुदाय शताब्दियों तक अपेक्षाकृत कटे हुए और दूर-दूर रहे, और उनकी आर्थिक स्थिति अलग-अलग रही। गैर-आदिवासियों से संपर्क होते हुए भी, इन आदिवासियों ने अपनी अलग पहचान बनाये रखी। हरेक आदिवासी समुदाय ने अपनी निजी सामाजिक-धार्मिक और सांस्कृतिक जिंदगी और राजनीतिक और आर्थिक संगठनों को बनाये रखा।

आदिवासी क्षेत्रों में अंग्रेजों के पहुंचने तक, आदिवासियों के लिये उत्पादन और जीविका के मुख्य साधन जमीन और जंगल होते थे, जंगल पूरे भारत के आदिवासियों के लिये बहुत महत्व की चीज थे। आदिवासियों को जंगल के छोटे उत्पादनों के इस्तेमाल का पारंपरिक अधिकार हासिल था। ईंधन की लकड़ी, फूल, फल, पत्ते, शहद, इमारती सामान, खाये जाने वाले गिरीदार फल, जड़ी-बूटियां आदि आदिवासियों की दैनिक उपयोग की जरूरी चीजें थीं। वे जंगल में पैदा होने वाली चीजों का इस्तेमाल अपने खाने, मकान बनाने और फसल को इधर से उधर करने के लिये करते थे। वे अपने मवेशियों को जंगलों में चराते थे। जंगल उन्हें सुरक्षा प्रदान करते थे। आदिवासियों के लिये जंगलों का क्या महत्व था, इस बारे में सुरेश सिंह का कहना है : "इसलिये वे (आदिवासी समुदाय) उन स्थितियों में भी निर्वाह कर सकते हैं जिनमें इन अधिक सभ्य नस्ल के सदस्य जीवित नहीं रह सकते। जब फसल नहीं होती तो, तमाम किस्म के जंगली फल और सब्जियां कीमती भंडार का काम करते हैं। इनकी मदद से उस कष्टकारी दौर को काट लेते हैं जो उन्हें तबाह करने की क्षमता रखता था।"

इसके अलावा, आदिवासी जन बुनाई, टोकरी बनाने, मछली मारने, शिकार करने और भोजन-सामग्री इकट्ठी करने का भी काम करते थे। श्रम और जीविका के उनके उपकरण बहुत विकसित नहीं थे। तीर-कमान, आत्म-रक्षा और शिकार के मुख्य उपकरण थे।

सभी आदिवासी समुदायों के अपने-अपने सरदार और अपनी-अपनी पंचायतें थीं जो उनकी देखभाल करती थीं, और उनके सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक मामलों को देखती थीं। हरेक आदिवासी फसल का एक हिस्सा अपने सरदार को देता था। लेकिन यह कोई कानूनी अधिकार नहीं था, एक नैतिक आवश्यकता थी। आदिवासी जन अपनी इच्छा से अपने सरदार को किसी किस्म का अंशदान और हरेक साल कुछ दिन मुफ्त सेवा देते थे।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) अपना उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तर से करें।

1) आदिवासियों की अर्थव्यवस्था के लिये जंगलों का क्या महत्व था?

....

....

....

....

....

....

15.3 आदिवासियों पर अंग्रेजी नीतियों का प्रभाव

15.3.1 प्रस्तावना

अंग्रेजों की नीतियों ने परंपरा से चली आ रही आदिवासी व्यवस्थाओं को गड़बड़ा दिया। आदिवासियों की भूमि व्यवस्था में भूमि का स्वामित्व सामूहिक था और उसमें जमींदारों के लिये कोई स्थान नहीं था। लेकिन अंग्रेजों ने आदिवासियों की भूमि व्यवस्था को बदल दिया। उन्होंने आदिवासी क्षेत्र एक बिल्कुल नया जमींदार के विना दिया। ब्राह्मणों और राजपूतों को छोटा नागपुर के आदिवासी क्षेत्रों में सैनिक और धार्मिक सेवाएं देने के लिये ले आया गया। उनके इन कामों के एवज में उन्हें भूमि में जमींदारी अधिकार दिये। आदिवासियों की स्थिति केवल काश्तकारों की होकर रह गयी। आदिवासियों की पंचायतों के स्थान पर राजाओं की पंचायतें बन गयीं जिनमें उनके ही अनुयायी होते थे। परंपरा से चली आ रही भूमि व्यवस्था को अंग्रेजों ने काश्तकारी व्यवस्था में बदल डाला। उन्होंने आदिवासी क्षेत्रों में ठेकेदारों को भी खड़ा कर दिया। जमींदारों और ठेकेदारों ने आदिवासी क्षेत्रों में भूमि किराया या लगान को लागू कर दिया।

बाजारी अर्थव्यवस्था लागू होने के बाद, आदिवासी क्षेत्रों में व्यापारियों का एक वर्ग भी बन गया। आदिवासी काश्तकारों को लगान का भुगतान नगदी में करना होता था। उनके पास नगद राशि तो होती नहीं थी, इसलिये उन्हें महाजनों से उधार लेना होता था। इसलिये, आदिवासी क्षेत्रों में महाजनों का एक वर्ग भी बन गया।

संचार और यातायात के साधन आने के बाद कटे हुए या अलग-अलग पड़े आदिवासी समुदायों का संपर्क बाहरी दुनिया से हुआ। आत्म-सक्षम आदिवासी अर्थव्यवस्था बाजारी अर्थव्यवस्था में बदल गयी। न्याय की पारंपरिक व्यवस्था की जगह नयी कानून व्यवस्था ने ले ली। नयी कानून व्यवस्था आदिवासियों को माफिक या अनुकूल नहीं बैठती थी। आदिवासी नयी कानून व्यवस्था का लाभ नहीं उठा पाते थे, क्योंकि वे शिक्षित नहीं थे, और उनके पास वकीलों का मेहनताना देने को पैसा भी नहीं था। अंग्रेज आदिवासी क्षेत्रों में छोटे स्तर के सरकारी अधिकारी और क्लर्क भी ले आये।

ये सभी वर्ग—जमींदार, ठेकेदार, व्यापारी, महाजन, सरकारी अधिकारी—आदिवासी क्षेत्रों के बाशिंदे नहीं थे। न ही वे आदिवासी समुदायों के सदस्य थे। उन्हें आदिवासी क्षेत्रों में लेकर आने वाले अंग्रेज थे। वे हिंदू, मुसलमान, ईसाई, सिख या यूरोपीय हो सकते थे। इसलिये आदिवासी उन्हें "दिकु" या बाहरी तत्व मानते थे। आदिवासियों के शोषण और दमन की प्रक्रिया में इन वर्गों की अंग्रेजी प्रशासन से सांठगांठ थी। जमींदार आदिवासियों से अंधाधुंध लगान वसूलते थे, उन्हें उनकी जमीन से बेदखल कर देते थे और उनसे बेगार कराते थे। अगर आदिवासी प्रतिरोध करते तो, जमींदार उन्हें शारीरिक प्रताड़ना देते थे। उनसे उनका सामान छीन लिया जाता था। महाजन आदिवासियों से अंधाधुंध ब्याज वसूल कर उनका शोषण करते थे। कई बार तो आदिवासियों को जमींदारों और महाजनों की मांगें पूरी करने के लिये अपना सामान और अपने बीवी-बच्चों को बेच देना पड़ता था। सरकारी अधिकारी उनकी अज्ञानता का लाभ उठाते थे। आदिवासियों के शोषण के मामले में ये सरकारी अधिकारी जमींदारों, महाजनों, ठेकेदारों और व्यापारियों के संगी-साथी थे।

15.3.2 वन-नीति

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक, आदिवासियों का जंगल में पारंपरिक अधिकार था। जंगल में पैदा होने वाली चीजों का इस्तेमाल करने के उनके अधिकार को मान्यता प्राप्त थी। लेकिन अंग्रेजों की 1884 की वन-नीति ने जंगल में पैदा होने वाली चीजों का इस्तेमाल करने के आदिवासियों के अधिकार में कटौती कर दी। इसके अलावा, संचार व्यवस्था—तार, सड़क और रेलपथ सेवा—के विकास और एक सामान्य प्रशासनिक व्यवस्था लागू होने से जंगलों की प्राकृतिक अर्थव्यवस्था नष्ट हो गयी। इन विकास प्रक्रियाओं को देश भर के आदिवासियों पर प्रभाव पड़ा। दिकुओं या बाहरी तत्वों को अंग्रेजी वन-नीतियों से लाभ हुआ। अंग्रेजी नीतियां आदिवासियों के हितों के प्रतिकूल थीं।

जंगलों के अतिक्रमण से जो नुकसान होता था, सरकार उसके लिये आदिवासियों को कभी-कभी मुआवजा देती थी। लेकिन मुआवजे की रकम उन तक नहीं पहुंच पाती थी।

क्लर्क, वकील और मुंशी बीच में ही उसे हड़प जाते थे।

इसके अलावा, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पड़ने वाले अकालों ने आदिवासियों के हालात को बदतर कर दिया। आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में लगातार वृद्धि से उनकी हालत असहनीय हो गयी। आदिवासियों के लिये भूमि केवल जीविका का साधन ही नहीं थी, बल्कि उनके पुरखों का दिया हुआ एक आत्मिक स्रोत भी थी। संकट के कारण वे अपनी भूमि से अलग-थलग हो रहे थे। उनकी भूमि पर बाहरी तत्वों—महाजनों और जमींदारों के अधिकारों को मान्यता मिल गयी थी। आदिवासी व्यवस्था पर प्रहार उनके अस्तित्व के लिये खतरा था।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) अपना उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तर से करें।

1) आदिवासियों की अर्थव्यवस्था में अंग्रजी नीतियों से क्या बदलाव आये?

....

....

....

....

....

....

15.4 आदिवासी आंदोलनों की मुख्य विशेषताएँ

आदिवासियों ने अपने शोषण और दमन का जवाब विद्रोहों और आंदोलनों की शक्ल में दिया। उन्होंने "दिकुओं" या बाहरी तत्वों—जमींदारों, महाजनों, ठेकेदारों, मिशनरियों और यूरोपीय सरकारी अधिकारियों—को अपना दुश्मन माना। उन्होंने अपने-अपने क्षेत्रों में अपने दमनकारियों के खिलाफ आंदोलन चलाये। बाहरी तत्वों के खिलाफ उनके आंदोलनों को उपनिवेश-विरोधी कहा जा सकता है। उन्होंने उनके द्वारा होने वाले अपने शोषण के कारण उनके खिलाफ विद्रोह किया। यह शोषण आदिवासियों की भूमि पर उनके अतिक्रमण, उनकी भूमि से बेदखली, उनके पारंपरिक सामाजिक अधिकारों और रीतियों की समाप्ति, लगान में वृद्धि की शक्ल में था। आदिवासियों ने इस बात के लिये विद्रोह किया कि भूमि को जोतने वाले को हस्तांतरित किया जाये, और सामंती और अर्धसामंती किस्म के भूमि-स्वामित्व को समाप्त किया जाये। कुल मिलाकर, इन आंदोलनों का रंग सामाजिक और धार्मिक था। लेकिन ये विद्रोह उनके अस्तित्व से संबंधित मुद्दों को लक्ष्य कर किये गये थे। ये आंदोलन इन आदिवासी समुदायों के अपने-अपने सरदारों के नेतृत्व में शुरू किये गये थे। वैसे तो प्रारंभिक दौर में इन आंदोलनों की शुरूआत सामाजिक और धार्मिक मुद्दों पर और बाहरी तत्वों के दमन करने के खिलाफ हुई थी, लेकिन उनका विलय राष्ट्रीय आंदोलन और कर बहिष्कार अभियान में हो गया। आदिवासी अपने शत्रुओं से अपने पारंपरिक हथियारों—कमान, तीर, लाठी और कुल्हाड़ी से लड़े। उनके आंदोलन ने कई बार हिंसक रूप धारण कर लिया जिसके परिणामस्वरूप दमनकारियों की हत्याएं हुई और उनके मकानों को आग लगा दी गयी। अधिकांश आंदोलनों को तो सरकार ने निर्ममतापूर्वक दबा दिया। आदिवासियों को उन अंग्रेजी नीतियों का अनुसरण करना पड़ा जो उनके हितों के प्रतिकूल थीं। सरकार ने आदिवासी क्षेत्रों में संरक्षात्मक प्रशासन लागू किया। सरकार का सोचना था कि सामान्य कानूनों को आदिवासी क्षेत्रों में लागू नहीं किया जा सकता। सरकार ने अनुसूचित जनपद अधिनियम (1874) पारित किया और आदिवासी क्षेत्रों को भारत सरकार अधिनियम (1935) में बहिष्कृत क्षेत्रों की कोटि में रखा।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) अपना उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तर से करें

भारत में आदिवासी आंदोलनों की मुख्य विशेषताएं क्या थीं?

....

....

....

....

....

....

15.5 भारत के कुछ प्रमुख आदिवासी आंदोलन

आदिवासी विद्रोह की पहली लहर 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देखने में आयी। आदिवासियों ने 1857 के विद्रोह में भाग लिया जो समूचे आदिवासी क्षेत्रों में फैल गया। लोगों ने अपने आपको इस विद्रोह में शामिल पाया। कुछ बुनियादी तौर पर उपनिवेश विरोधी आंदोलनों के विषय में आगे पृष्ठों पर चर्चा की गयी है।

15.5.1 तामर विद्रोह (1789-1832)

तामर के आदिवासियों ने 1789-1832 के दौरान सात बार अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह किया। इस विद्रोह में उनका साथ आसपास के क्षेत्रों—मिदनापुर, कायेलपुर, ढाढा, वतशिला, जालदा और सिल्ली— के आदिवासियों ने दिया। उन्होंने सरकार की (दिकुओं के साथ) सांठगांठ वाली दोषपूर्ण व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह किया। तामर विद्रोहों का नेतृत्व तामर के भोनालाथ सहाय ने किया। 1832 में विद्रोह की लपट पूरे क्षेत्र में फैल गयी। अलग साभाजिक और सांस्कृतिक पहचान वाले ओरांव, मुंडा, हो या कोल आदिवासी बनमूम राज परिवार के सदस्य गंगा नारायण सिंह के नेतृत्व में विद्रोहियों के साथ शामिल हो गये। आदिवासियों ने इन क्षेत्रों के हरेक गांव में दिकुओं को मार डाला। उन्होंने उनके घरों को आग लगा दी और लूट लिया। लेकिन इस आंदोलन को 1832-33 में सरकार ने दबा दिया। हो प्रदेश को सरकार ने अपनी रियासत के तौर पर अपने में मिला लिया। प्रशासन के आसान नियम बनाये गये, वैसे हो आदिवासी मुखिया या सरदार के जरिये सरकार की व्यवस्था बरकरार रही।

15.5.2 संथालों का खेरवार आंदोलन (1833)

यह आंदोलन आदिवासी स्वाधीनता के आदर्श अतीत की ओर लौटने की इच्छा से प्रेरित था। "खेरवार" संथालों का एक पुराना नाम बताया जाता है। संथालों का कहना है कि यह शब्द उनके इतिहास के स्वर्णिम युग से जुड़ा है। उस समय, संथालों के बारे में बताया जाता है कि, उनके पास पूरी स्वाधीनता थी। उनका सरदार उन्हें सुरक्षा प्रदान करता था जिसके बदले वे उसे नजराना दिया करते थे। यह आंदोलन भागीरथ माझा के कारश्यामी नेतृत्व में शुरू हुआ। उसे बाबा जी की पदवी मिली थी। उसने ऐलान किया था कि वह संथालों के स्वर्णिम युग को वापस ला देगा, लेकिन इसके लिये उन्हें ईश्वर पूजा की ओर लौटना होगा और अपने पापों से मुक्त होना होगा। उसने कसम खायी कि वह उन्हें अधिकारियों, जमींदारों और महाजनों के दमन से मुक्ति दिलायेगा। उसने उन्हें यह उपदेश दिया कि वे हिंदू भगवान राम की पूजा करें जिनकी प्रतिमूर्ति संथाली "कौदो" थे। उसने संथालों के सुअरों और पक्षियों पर पाबंदी लगा दी। उसने उन्हें विश्वास दिलाया कि उनकी जमीन उन्हें वापस दिलायी जायेगी। उसने उन्हें उनके दमन का कारण यह समझाया कि यह ईश्वर की ओर से इस बात का दंड था कि वे ईश्वर की पूजा न करके क्षुद्र और दुष्ट आत्माओ में आस्था रखते थे। उसने संथालों पर उन नियमों और व्यवहारों को थोपा जिनमें शुद्धि और अशुद्धि की हिंदू धारणा का प्रतिबिंब मिजता था बाद में इस आंदोलन में गैर-संथालों को उनके आवास से निकाल बाहर करने के लिये और अधिक राजनीतिक रूप धारण कर लिया।

15.5.3 संथाल विद्रोह (1855)

संथालों का यह आंदोलन उन जमींदारों द्वारा दमन के खिलाफ था जो संथालों की भूमि पर नाजायज कब्जा किये हुए थे। यह आंदोलन गांव के महाजनों और अधिकारियों के भी खिलाफ था। इस आंदोलन का नेतृत्व दो भाइयों—सिदेंधू और कान्हू ने किया। उन्होंने भग्नाडीह में एक सभा करके यह ऐलान किया कि उनके दमन का अंत उनकी भूमि को उनके

दमनकारियों से वापस लेकर किया जा सकता था। इस सभा में कोई 35,000 संथालों ने उनके अंगरक्षकों का काम किया। सभा में यह ऐलान होने के बाद हजारों संथालों ने अपने पारंपरिक हथियार—धनुष, बाण, कुल्हाड़ी आदि— लेकर कलकत्ता के लिये कूच कर दिया, वे गवर्नर को एक याचिका देने की गरज से गये। पुलिस अधिकारियों ने उनका रास्ता रोककर उन्हें हिंसा के लिये भड़काया। कई संथाल अंग्रेजों के हाथों मारे गये। यह आंदोलन 60 दिन चला। संथालों के आंदोलन के कारण सरकार को उनके प्रति अपनी नीति बदलनी पड़ी। कोई 5000 वर्ग मील क्षेत्र को "नियमन रहित" जनपद बनाया गया, जिसे संथाल परगना के नाम से जाना गया। पृथक हुई भूमि को वापस लेने के लिये एक प्रशासनिक अध्यक्ष को नियुक्त किया गया।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : 1) अपना उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तर से करें।

1) तामर विद्रोह क्या थे और सरकार की उनके प्रति क्या प्रतिक्रिया रही?

....
....
....
....
....

2) संथालों का खेरवार आंदोलन (1833) किसके खिलाफ था और इसके नेताओं ने हिंदू धर्म को इससे कैसे जोड़ा?

....
....
....
....

3) संथाल विद्रोह (1855) के क्या परिणाम हुए?

....
....
....
....

15.5.4 बोक्टा विद्रोह, सरदारी लड़ाई या मुक्ति लड़ाई आंदोलन (1858-95)

यह आंदोलन छोटा नागपुर के विभिन्न भागों में हुआ। इसका लक्ष्य घृणा के पात्र जमींदारों को निकाल बाहर कर भूमि पर आदिवासियों के प्राचीन अधिकार को फिर से प्राप्त करना था। सुरेश सिंह के अनुसार यह आंदोलन तीन दौरों से होकर चला : (i) कृषि का दौर, (ii) पुनरुत्थान का दौर, और (iii) राजनीतिक दौर। पहले दो दौरों में तो जमींदारों और आदिवासी काश्तकारों में झड़पें हुईं। आदिवासी काश्तकारों ने लगान में वृद्धि, भूमि से बेदखली और जमींदारों के हाथों काश्तकारों को तंग किये जाने के खिलाफ विद्रोह किया। इस दौर में, जमींदारों और काश्तकारों के बीच कई बार झड़पें हुईं। 1890 से सरदार आंदोलन उन तमाम यूरोपियों के खिलाफ हो गया जिन पर जमींदारों के साथ सांठगांठ करने का संदेह था, उनमें मिशनरी भी थे और अधिकारी भी। इन लोगों का सोचना था कि उनके संकटों का मुख्य कारण अंग्रेजी राज था और उनका सुख इसकी समाप्ति पर ही निर्भर था। जब संवैधानिक तरीकों का कोई नतीजा नहीं निकला तो, आदिवासी हिंसक हो गये। उन्होंने अपने पारंपरिक हथियारों, धनुष-बाणों, का इस्तेमाल किया। सितम्बर 1892 में, सरदारों ने ठेकेदारों और जर्मन मिशनरियों को मार डालने का षडयंत्र रचा। लेकिन उनके पीछे कोई संगठन न होने के कारण उनकी योजना नाकाम हो गयी। आदिवासी एक नये नेता की तलाश

में लग गये। यह नेता इन्हें बिरसा मुंडा के रूप में मिला।

15.5.5 बिरसा मुंडा विद्रोह (1895-1901)

बिरसा मुंडा विद्रोह बिहार के छोटा नागपुर के सिंहभूम और रांची जनपदों के मुंडा आदिवासियों का सबसे लोकप्रिय आंदोलन है। ऊपर जिन आंदालनों की चर्चा की गयी है, उनकी तरह यह आंदोलन भी बकुओं या बाहरी तत्वों—जमींदारों, व्यापारियों, सौदागरों और सरकारी अधिकारियों—के खिलाफ था। ये वर्ग अंग्रेजों के बनाये हुए थे ओरांव और मुंडा आदिवासी जिन क्षेत्रों में रहते थे उनमें अंग्रेजों की नीतियां लागू होने से पहले इन आदिवासियों की परंपरा से चली आ रही भूमि और सामाजिक रीतियां विद्यमान थी उनकी भूमि व्यवस्था 'खुंटकारी व्यवस्था' के नाम से जानी जाती थी। आदिवासियों का उनकी भूमि पर परंपरागत अधिकार था इस व्यवस्था में जमींदारों के लिए कोई स्थान नहीं था आदिवासी अपनी भूमि पर काम करते थे और अपने सरदारों को मुनाफा देते थे। 1874 आते-आते अंग्रेजों ने पारंपरिक खुंटकारी व्यवस्था को समाप्त कर उसकी जगह जमींदारी व्यवस्था लागू कर दी। जमींदारी व्यवस्था लागू होने से जमींदारों और रैयता (काश्तकारों) के वर्ग बन गये। अब आदिवासियों को जमींदारों को लगान देना पड़ता था और अगर वे लगान नहीं दे पाते थे तो उन्हें भूमि से बेदखल कर दिया जाता था। जमींदार इन तरीकों से आदिवासियों का शोषण करते थे। वे आदिवासियों की भूमि पर आसपास के क्षेत्रों से किसान को ले आते थे और आदिवासियों को उनकी भूमि से बेदखल कर देते थे, उन्हें पाशविक बल से तंग करते थे, उनकी भूमि पर अतिक्रमण कर लेते थे, उनका लगान बढ़ा देते थे, सामूहिक लगान को व्यक्तिगत लगान में बदल देते थे, उनसे जबरन बेगार करवाते थे, उन्होंने शारीरिक प्रताड़ना देते थे, उनसे विभिन्न किस्म की वसूली करते थे, जैसे घोड़ा, पालकी, दुधारू गाय, किसी बच्चे के जन्मदिन या विवाह के मौके पर उपहार, और जमींदारों के परिवार में किसी सदस्य की मृत्यु पर दान दक्षिणा।

अर्थव्यवस्था का मुद्रीकरण हो जाने के बाद आदिवासियों को लगान देने और अपनी दैनिक आवश्यकता की वस्तुएं खरीदने के लिए नगद पैसों पर निर्भर करना पड़ता था इससे वे महाजनों पर निर्भर हो गये। महाजन आदिवासियों को दिये ऋण पर मनमाना ब्याज वसूल करते थे।

जमींदार, महाजन और सरकारी अधिकारी एक-दूसरे के साथ सांठगांठ करे आदिवासियों का शोषण करते थे यहां तक कि आदिवासियों की सामाजिक व्यवस्था भी अंग्रेजी नीतियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रही, बिना कोई पैसा लिये उन्हें न्याय देने वाली पंचायतों की जगह आधुनिक अदालतें आ गयीं। दिकुओं या बाहरी तत्वों के कारण होने वाले मुंडा आदिवासियों के शोषण और दमन और उनकी पारंपरिक सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के गड़बड़ाने के अलबत्ता प्राकृतिक आपदाओं से भी उनके 1896-97 और 1898-1900 में पड़े दो अकालों ने उन्हें भुखमरी का मुंह दिखा दिया।

मुंडा आदिवासियों ने अपने दु:खों के लिए दिकुओं और मिशनरियों को जिम्मेवार माना इसलिये वे दिकुओं से घृणा करने लगे उनका मानना था कि उनके दु:खों का एक ही इलाज था वह यह कि दिकुओं को हटाकर अपना स्वयं का राज स्थापित किया जाये। बिरसा मुंडा विद्रोह से भी पहले, सरदार आंदोलन उन तमाम यूरोपियों के खिलाफ चला था जिन पर जमींदारों से मिली-भगत का संदेह था, उनमें मिशनरी भी थे और अधिकारी भी।

इस आंदोलन का नेतृत्व बिरसा मुंडा ने किया।

बिरसा मुंडा

बिरसा के जन्म की सही तिथि का पता नहीं है। सुरेश सिंह के अनुसार वह 1874 या 1875 में पैदा हुआ होगा। उसका जन्म एक गरीब मुंडा आदिवासी परिवार में, बांस की पाट्टियों वाले, बिना मिट्टी की लिपाई या सुरक्षित छत वाले एक घर में हुआ था। बुजरू के जर्मन मिशन से निम्न प्राथमिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वह आगे पढ़ाई के लिए चाईबासा भेज दिया गया। चाईबासा में 1886 से 1890 तक का लंबा प्रवास उसकी जिंदगी का निर्माणकारी दौर रखा। उसे मिशनरियों की आलोचना करने के अपराध में स्कूल से निकाल दिया गया। स्कूल से निकाला जाना उसकी जिंदगी का एक महत्वपूर्ण मोड़ था वह अक्सर कहा करता : "साहब, साहब एक टोपी है" (सभी गोरे, चाहे वे अंग्रेज हों या मिशनरी, एक सी टोपी पहनते हैं) मिशनरियों और सरकार के प्रति उसके दृष्टिकोण ने उसे मिशनरी विरोधी और

सरकार विरोधी बना दिया, उसने शायद प्राथमिक स्तर तक पढ़ाई पूरी की। 1860 में उसके परिवार ने जर्मन मिशन के खिलाफ सरदार आंदोलन का अनुकरण करते हुए उसकी सदस्यता छोड़ दी।

वह 1891 में बंद गांव गया, जहां उसका संपर्क आनंद पौड़े से हुआ। आनंद पौड़े बंद गांव के एक जमींदार, जगमोहन सिंह का मुंशी था। उसका वैष्णव धर्म और हिंदू महाकाव्यों में अच्छा दखल था और उसका सम्मान और प्रभाव था। मुंडा उससे प्रभावित हुआ, उसने जनेऊ धारण कर लिया, चंदन तिलक लगाने लगा और गोहत्या बंद करने की वकालत करने लगा। बिरसा एक "नबी" हो गया। उसने अपने आपको एक भगवान घोषित कर दिया। उसने अपने धर्म (विचारों) का प्रचार मुंडा आदिवासियों में किया। हजारों मुंडा उसके अनुयायी हो गये और बिरसाई कहलाये। उसने अपने अनुयायियों को उपदेश दिया कि वे दिन में तीन बार प्रार्थना करें, सफाई से रहें और एक-दूसरे के साथ प्रेम और सद्भाव बनाकर रहें और सामूहिक प्रगति करें। उसने उन्हें अंग्रेज सरकार और विदेशियों के खिलाफ लामबंद किया और उन्हें उपदेश दिया। मृत्यु 9 जनवरी 1900 को जेल में हुई।

आंदोलन की प्रगति

बिरसा आंदोलन की पृष्ठभूमि सरदार आंदोलन की पृष्ठभूमि जैसी ही थी बिरसा का उद्देश्य मुंडा आदिवासियों के लिए धार्मिक और राजनीतिक स्वाधीनता हासिल करना था। उसका मानना था कि इस उद्देश्य का दिकुओं द्वारा दमन को समाप्त करके और यूरोपीय (अंग्रेजों) को अपने क्षेत्र से बाहर निकाल कर या उन्हें मार कर हासिल किया जा सकता था, उसने बिरसा राज का ऐलान किया जिसमें बिरसा को छोड़ और किसी का आदेश नहीं माना जा सकता था। उसने मुंडा आदिवासियों से कहा कि वे लगान नहीं दें। सरकार ने 22, अगस्त, 1895 को बिरसा को गिरफ्तार करने का फैसला किया। बिरसा और दूसरे लोगों पर 19 नवम्बर, 1895 को दंगा करने का अभियोग लगा। उसे दो साल कैद की सजा हुई और रु. 50 जुर्माना देने का आदेश हुआ जुर्माना न दे पाने की स्थिति में उसे छह महीने सश्रम कारावास (कैद) के अतिरिक्त सजा भी भुगतनी थी, लेकिन 22 जून, 1895 को की गयी एक अपील के आधार पर निचली अदालत के आदेशों में संशोधन किया गया और कैद की अवधि ढाई वर्ष से घटाकर दो वर्ष कर दी गयी। बिरसा की गिरफ्तारी से आंदोलन के सरकार विरोधी पूर्वग्रह ने जोर पकड़ लिया। 1895 के दंगों की भीषणता के बारे में रेवरेंड हॉफमैन ने लिखा, "अगर सरकार ने तुरंत कार्यवाही न की होती तो, रांची के बाहर रहने वाले अधिकांश विदेशी मौत के घाट उतार दिये जाते।" इस आंदोलन के बारे में सुरेश सिंह ने कहा है, "सन 1895 का आंदोलन एक अधूरी कहानी थी यह विद्रोह नहीं था बल्कि एक व्यापक आंदोलन की शुरुआत थी।"

मुंडा आदिवासियों ने दिकुओं के खिलाफ बिरसा के नेतृत्व में एक बार फिर विद्रोह किया। बिरसा राज की प्राप्ति केवल यूरोपीयों (अधिकारियों और मिशनरियों) से मुक्त दुनिया में ही संभव थी। बिरसा ने ऐलान किया कि मुंडा धरती के स्वामी थे। अंग्रेज गैर आदिवासियों को जमींदार नियुक्त करके उन (मुंडा आदिवासियों) से उनका देस छीन रहे थे। बिरसा ने मुंडा जनों से कहा कि वे जमींदारों को लगान देना बंद करें, भूमि पर लगान मुक्त कब्जा रखें और भूमि पर मुंडा आदिवासियों के पुराने अधिकारों को हासिल करें। रेवरेंड हॉफमैन के शब्दों में, "विदेशियों के प्रति चाहें वे हिंदू हों या यूरोपीय, पूरा जुनून था।" यह उल्लेखनीय है कि यह आंदोलन उन बाहरी तत्वों के खिलाफ था जो शोषक वर्गों के सदस्य थे। आंदोलन में उन वर्गों को निशाना नहीं बनाया गया जो थे तो बाहरी तत्व लेकिन निचले वर्गों के सदस्य थे, अर्थात् मजदूर दस्तकार, जुलाहे, बढ़ई, नाई आदि।

इस आंदोलन ने हिंसक रूप धारण कर लिया। ये पूर्व निश्चित दिन बड़े दिन की पूर्व संध्या (24 दिसम्बर, 1899) को शुरू हुआ। इसका निशाना जमींदार, ठेकेदार, पुलिस और सरकारी अधिकारी थे। आदिवासियों में बाहरी तत्वों पर अपने पारंपरिक हथियारों—धनुष-बाण से हमला किया और उनके घरों को आग लगा दी। आंदोलन के लिए जो दिन जो मौका चुना गया था वह ईसाईयों, यूरोपीयों और जर्मन मिशनरियों के प्रति उसकी घृणा का प्रतीक था। बिरसाई चिल्लाते थे, "काले ईसाईयों को काट डालो, गोरे ईसाईयों को काट डालो" जल्दी ही आंदोलन "सामान्य हो गया था" बिसाईयों की लकड़ी के ठेकेदारों से झड़प हुई, उन्होंने 6 जनवरी, 1900 को एक ठेकेदार को मार डाला। 5 जनवरी, 1900 को उन्होंने सिपाहियों को मारा और चौकीदारों पर हमला किया। 6 जनवरी, 1900 को उनकी मुठभेड़ उपआयुक्त से हुई। 7 जनवरी, 1900 को उन्होंने एक सिपाही को मार डाला। जल्दी ही सरकार ने जवाबी कार्यवाही की। सरकार ने 13 जनवरी से 26 जनवरी तक गश्त और तलाशी अभियान छेड़ा।

28 जनवरी को दो अगुआ मुंडा सरदारों और 32 अन्यों उनकी जायदाद की कुर्की के बाद आत्म समर्पण कर दिया। पुलिस ने 3 फरवरी, 1900 को बिरसा को गिरफ्तार कर लिया। वह बीमारी हैजा और कमजोरी से ग्रस्त था। उसकी मृत्यु 9 जनवरी, 1900 को भयकर दस्त से हुई। गिरफ्तार मुंडा आदिवासियों पर निर्ममता से मुकदमा चलाया गया। मुंडा (बिरसाईयों) के मुकदमे की खबर देते हुए कलकत्ता के एक अखबार के संवाददाता ने लिखा, "मुझे लगभग तीस वर्षो का अनुभव है... मैंने पहले कभी अंग्रेजी न्याय के विचारों से मेल न रखने वाली ऐसी कोई कार्यवाही नहीं देखी जैसी कि मुंडा आदिवासियों के दंगों के मामले में देखने को मिली।" गिरफ्तार मुंडा आदिवासियों को जेल में डाल दिया गया, उन्हें मौत की सजा सुनायी गयी मुकदमे के नतीजे ने मुंडा आंदोलन को कमजोर कर दिया।

आंदोलन का प्रभाव

बिरसा मुंडा आंदोलन का प्रभाव उनकी समस्याओं के प्रति सरकार के रवैये पर पड़ा। अधिकारियों ने भूमि के रिकार्ड तैयार करने की आवश्यकता महसूस की जिससे वे आदिवासियों के हितों की रक्षा कर सकें। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार ने 1902 और 1910 के बीच आदिवासियों के लिए सर्वेक्षण और भूमि बंदोबस्त अभियान चलवाये। सरकार ने अनिवार्य बेगार व्यवस्था समाप्त करने का निश्चय किया और मुंदरी खुतकारी व्यवस्था को मान्यता देने वाले काश्तकारी कानून (अधिनियम) 1903 को पारित किया। सरकार ने छोटा नागपुर काश्तकारी कानून (1908) भी पारित किया।

बिरसा आने वाली पीढ़ियों के लिए एक नायक बन गया। उसके आंदोलन ने भविष्य के सामाजिक, धार्मिक और धार्मिक आदिवासी आंदोलनों को प्रेरणा दी। इन आंदोलनों ने आदिवासियों में चेतना या जागृति का विकास करने में योगदान किया। वर्स डे स्कूल के बिरसाईयों और धरना भगतों ने 1920 के दशक में राष्ट्रीय आंदोलन में एक महत्वपूर्ण उद्देश्य के लिये वे इस तरह प्रार्थना करते थे :

"है पिता पाना, सीमा पर दुश्मनों को बाहर निकालो,
चुडैलों और प्रेतात्माओं को बाहर निकलो,
अंग्रेजी सरकार को बाहर निकालो।"

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और फार्वर्ड ब्लॉक ने भी राष्ट्रीय आंदोलन में बिरसाईयों का समर्थन लेने के लिए बिरसा के नाम का आहवान किया। कांग्रेस और फार्वर्ड ब्लॉक दोनों ने 1940 में बिरसा दिवस मनाया।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : 1) अपना उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरों से करें।

1) मुंडा आदिवासियों की भूमि व्यवस्था को किस नाम से जाना जाता है?

....

....

....

....

2) मुंडा (बिरसा) कौन था और उसके नेतृत्व वाले आंदोलन का क्या प्रभाव पड़ा?

....

....

....

....

....

15.5.6 गुजरात का देवी आंदोलन (1922-23)

दक्षिण गुजरात में 1922-23 में होने वाला देवी आंदोलन शुरुआत में एक सामाजिक आंदोलन था। इस आंदोलन में यह मानकर चला गया था कि देवी सालाबाई आदिवासियों को यह आदेश दे रही थी कि वे मांस, मदिरा या ताड़ी का सेवन न करें, प्रतिदिन स्नान करें, शौच

के बाद सफाई के लिए पत्ते की जगह पानी का इस्तेमाल करें, घरों को साफ रखें, (खाने या भेंट चढ़ाने या बलि देने के लिए रखे) बकरियों और मुर्गे-मुर्गियों को या तो छोड़ दें या बेच दें और पारसी शराब विक्रेताओं और जमींदारों का बहिष्कार करें। उनका यह विश्वास था कि जो लोग इन दैवीय आदेशों का पालन नहीं करेंगे वे या तो दुर्भाग्य के शिकार होंगे या पागल हो जायेंगे या फिर मर जायेंगे। दिसम्बर 1922 तक इस आंदोलन ने आदिवासियों की रिहायश वाले समूचे क्षेत्र और सूरत शहर को अपनी चपेट में ले लिया। इस आंदोलन का निशाना वे लोग बने जो आदिवासियों का शोषण करते थे और शराब का धंधा कर रहे थे। इन वर्गों में पारसी महाजन और जमींदार भी शामिल थे जो शराब भी बेचते थे। आदिवासियों ने यह फैसला किया, कि वे पारसियों और मुसलमानों का बहिष्कार करेंगे, शराब के धंधे से जुड़े किसी भी व्यक्ति के साथ काम नहीं करेंगे और किसी पारसी की छाया पड़ जाने पर स्नान करेंगे।

यह आंदोलन शुरुआत में एक धार्मिक आंदोलन था, लेकिन दिसम्बर 1922 के समाप्त होते-होते यह एक असहयोग आंदोलन का अंग बन गया। आदिवासियों ने विदेशी कपड़ों की होली जलाने और सरकारी स्कूलों का बहिष्कार करने की वकालत शुरू कर दी। जलालपुर तालुक में आदिवासियों ने देवी के माध्यम के बल पर ताड़ी बेचने वाले एक पारसी दुकानदार से जुर्माने के तौर पर रु. 120 एक राष्ट्रवादी स्कूल को जबरन दिलवाये। गांधीवादी बारदोली तालुक और महल के आदिवासियों के बीच 1921 से काम कर रहे थे। गांधी जी ने आदिवासियों के क्षेत्र में कोई सविनय अवज्ञा शुरू होने से पहले ही आदिवासियों के राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने पर जोर दिया था। तब तक आदिवासियों ने राष्ट्रीय आंदोलन में कोई दिलचस्पी नहीं दिखायी थी। कांग्रेसी नेता कुनराव जी मेहता ने आदिवासियों के बीच काम किया और आदिवासी गांधी जी के नाम से परिचित हो गये। आदिवासी राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति और भी सहानुभूति रखने लगे। बाद के वर्षों में गांधी जी का नाम देवी के माध्यम से देवी के नाम के साथ जुड़ गया, उसके बाद कांग्रेसी नेता बारदोली गये और उन्होंने देवी को कुछ सभाओं में भाग लिया। उन्होंने आदिवासियों को यह सुझाव दिया कि खादी पहनने से देवी के आदेश को और बल दिया जा सकता था। कांग्रेस ने कालिप राज अधिवेश का आयोजन किया जिसकी अध्यक्षता वल्लभभाई पटेल ने 21 जनवरी, 1923 को की इस अधिवेश में कोई 20,000 आदिवासियों ने भाग लिया। अधिवेशन में ताड़ी के पेड़ काटने, शराब की दुकानें बंद करने और खादी के प्रचार की वकालत करने का प्रस्ताव पारित किया गया। आने वाले दो दशकों में 1920 के दशक में 1930-31 और 1942 में आदिवासियों के कई चौधरियों ने अंग्रेजी राज के खिलाफ गांधीवादी आंदोलन और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को समर्थन देने की प्रतिबद्धता को पूरा किया।

15.5.7 मिदनापुर का आदिवासी आंदोलन (1918-24)

मिदनापुर में जंगल बहल के संथाल, भूमजी और कुर्मी (महतो) आदिवासियों ने अंग्रेजों के खिलाफ 1760 में ही विद्रोह कर दिया था। उन्होंने 1760 में आदिवासी सरदारों की भूमि छीनने के कारण ईस्ट इंडिया कंपनी के खिलाफ विद्रोह किया। ईस्ट इंडिया कंपनी ने पाचेट के राजा, राजपुर के जमींदार और गंगा नारायण जैसे सरदारों को बेदखल कर दिया था। अंग्रेजों ने स्थायी भूमि बंदोबस्त लागू किया और जमींदार वर्ग खड़ा किया। 19वीं शताब्दी के अंत तक बाहर से आकर बसने वालों ने आदिवासियों की भूमि पर अतिक्रमण कर लिया था। दूसरे क्षेत्रों के आदिवासियों की तरह, यहां के आदिवासियों का भी बाहरी तत्वों, जमींदारों, महाजनों, व्यापारियों और अधिकारियों के हाथों शोषण होता था। आदिवासियों में दिकुओं के प्रति गहरी घृणा का भाव पनप गया था।

सन् 1921 और 1923 के बीच, जंगल महल और बांकुरा और सिंहभूम के पड़ोसी क्षेत्रों के किसानों ने जमींदारों के खिलाफ विद्रोह कर दिया। इस किसान आंदोलन का नेतृत्व मुख्य तौर पर आदिवासियों ने किया। इसे दो दौरों में बांटा जा सकता है। पहला दौर संयोग कांग्रेस की भागीदारी रही, दूसरा दौर गांधी जी की गिरफ्तारी के बाद का दौर था। 1921 तक जंगल महल में कांग्रेस का कोई संगठन नहीं था। आदिवासियों को राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल करने के कोई प्रयास उस समय तक नहीं हुए थे। 1921 के शुरुआती महीनों में सी.आर. दास और और सतकौड़ीपति रॉय ने असहयोग आंदोलन में आदिवासियों को शामिल करने का काम शुरू किया।

कांग्रेस ने एम.जेड.सी. (मिदनापुर जमींदारी कंपनी) को अपना निशाना बनाया। यूरोपीय जमींदारों के नियंत्रण वाली एम.जेड.सी. का रवैया आदिवासियों के प्रति दमनकारी था। इन

कंपनियों में काम करने वाले आदिवासियों को बहुत कम मेहनताना मिलता था। उन्हें 19 मील तक लकड़ी ढोने के 4.... और 35 मील के 8...! मिलते थे। सतकौड़ीपति रॉय ने मजदूरों की सफल हड़ताल करवायी। एम.जेड.सी. ने आदिवासियों को काम पर वापस लाने के लिए बल प्रयोग करके इसका जवाब दिया। इसमें मारपीट हुई और एक "निष्ठावान" आदिवासी मारा गया। आदिवासियों ने अब जंगलों को लूट लेने की धमकी दी। एम.जेड.सी. ने अदालती कार्यवाही का निश्चय किया। इस बीच आंदोलन एक हड़ताल से बढ़कर एम.जेड.सी. के खिलाफ एक सामान्य विद्रोह का रूप धारण कर चुका था। इस टकराव में आदिवासियों के बीच कांग्रेस की विश्वसनीयता बन गयी। एम.जेड.सी. को बाहरी तत्व माना गया।

जुलाई 1921 में, शैलआनंद सेन ने 200 संथाल स्त्रियों के एक प्रदर्शन का नेतृत्व किया और स्थानीय जमींदारों की धान की गाड़ियों का रास्ता रोका। मई 1921 में कांग्रेस ने 700 संथालों की एक सभा की जिन्होंने शराब न पीने का निश्चय किया। कांग्रेसी नेता शैलआनंद सेन और मुरारी मोहन बारंबार विदेशी सामान विशेष तौर पर विदेशी कपड़ों के बहिष्कार की वकालत अपने भाषणों में करते थे। जनवरी 1922 में कांग्रेस ने विदेशी कपड़ों के खिलाफ एक अभियान छेड़ा। मिदनापुर माइनिंग सिंडीकेट ने एक याचिका दायर की जिसमें उसने कांग्रेस पर संथालों जंगल लूटने के लिए उकसाने का आरोप लगाया। जनवरी 1922 में विदेशी कपड़ों के खिलाफ कांग्रेस के अभियान का नतीजा यह हुआ कि बार हाटों पर छापा पड़ा। विदेशी कपड़े नष्ट कर दिये गये। इन छापों की उल्लेखनीय बात थी "गुमनाम लिखे संदेश" जिनका वितरण संथालों को हाटों को लूटने के लिए उकसाने को किया गया। रणजीत गुहा ने इस तरह के "गुमनाम संदेशों" को "विद्रोही किसानों का संवाद" बताया। आदिवासियों ने कांग्रेस के साथ अपनी एकजुटता दिखायी। 1000 लोगों की भीड़ इस अदालत के बाहर जमा हुई जहां कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं पर मुकदमा चलाया धनराशि पर तय की। भीड़ ने जमानत की राशि कम करने को नहीं कहा। इसका मतलब सरकार के अधिकार को स्वीकार करना होता। इसकी जगह आदिवासियों ने कैदियों की तुरंत रिहाई की मांग की... अधिकारी ने भीड़ के बारे में लिखा, "ये लोग बिल्कुल बेकाबू हैं और इन्हें यह दिखाना होगा कि अभी भी सरकार है" लेकिन आंदोलन अभी सामान्य रूप धारण कर ही रहा था कि गांधी जी ने चौरी चौरा की घटना के बाद असहयोग आंदोलन वापस ले लिया। असहयोग आंदोलन वापस लिये जाने का प्रभाव यह हुआ कि आदिवासियों का संघर्ष अलग-थलग पड़ गया और व्यापक बाहरी संपर्कों से वंचित हो गया।

मई 15 और 21, 1918 के बीच मयूरमंज के संथालों ने फ्रांस जाने वाली श्रमिक कौर में जबरन भर्ती किये जाने की कथित धमकी के खिलाफ विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह के कारण सरकार को अपनी इस भर्ती की योजना को छोड़ना पड़ा। जून 14, 1918 को संथालों ने चौकीदारी कर वन नियमन कानून आदि जैसी प्रमुख संथाली शिकायतों को बंद रखने के खिलाफ विद्रोह कर दिया। सरकारी उपायों को छाता बताने की अपनी सामूहिक सामर्थ्य दिखा देने के बाद संथाल अब इस स्थिति में थे कि वे अपने विद्रोह को सरकार की अन्य दमनकारी कार्यवाहियों के खिलाफ भी बढ़ा सके। अगस्त 1922 में आदिवासियों ने जंगलों और तालाबों की मछलियों का उपयोग करने के अपने पारंपरिक अधिकारों को व्यक्त किया आंदोलन अब केवल एम.जेड.सी. तक सीमित नहीं रह गया था वह भारतीय जमींदारों के तहत आने वाले क्षेत्रों में भी फैल गया था।

15.5.8 मालदा में जीतू संथाल का आंदोलन (1924-32)

मालदा जनपद के संथालों ने 1929-32 में एक जमींदार विरोधी आंदोलन छेड़ा, यह आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन के साथ गुंथ गया। स्वराज पार्टी के नेताओं ने जमींदारों के खिलाफ काश्तकारों के संघर्ष में काश्तकारों का साथ दिया। इस आंदोलन का नेता जीतू संथाल या जीतू छोटका स्वराजवादियों के निकट आ गया उसे स्वराजवादियों से यह निर्देश मिला कि वह इस आंदोलन को आगे बढ़ाये। यह आंदोलन दिकू विरोधी उपनिवेश-विरोधी होते हुए भी हिंदू संप्रदायवाद के रंग से ग्रस्त था। स्वराजियों ने आदिवासियों के बीच इसलिये काम किया जिससे कि वे उन्हें शुद्धि और सामाजिक सुधार के माध्यम से हिंदू समाज की धारा में ले आयें। संयासी बाबा के नाम से मशहूर स्वराजवादी कशीश्वर चक्रवर्ती ने जीतू संथाल के साथ 1925 में मालदा का दौरा किया। जीतू संथाल को लोग संयासी बाबा के दलाल (या प्रतिनिधि) और प्रचारक के रूप में जानते थे। उन्होंने एक "संयासी दल" का गठन किया और पुलिस आज्ञा को तोड़कर काली की पूजा की। इसका उद्देश्य आदिवासियों को नयी हिंदू स्थिति देना था। उन्होंने आदिवासियों से आग्रह किया कि वे अपनी आदिवासी पहचान को छोड़ दें और उनसे वायदा किया कि वे उन्हें नयी हिंदू स्थिति देंगे। आदिवासियों को यह

उपदेश भी दिया गया कि वे सुअर और पक्षियों का उपभोग छोड़ दें। अगर वे ऐसा करेंगे तो ऊंची जाति के लोग बिना किसी भय के उनके हाथ का पानी ग्रहण कर लेंगे उनसे कहा गया कि वे जीतू को अपना नेता मानें। ऐसी अफवाहें भी रहीं कि जीतू राज को स्वीकार कर लिया गया।

सन् 1928 में जीतू ने संथालों को निर्देश दिया कि वे पतझड़ की फसल को लूट लें। उसने आदिवासियों से यह वायदा किया कि भूमि बंदोबस्त में उन्हें काश्तकारों का दर्जा मिलेगा अधियरों का नहीं। संथालों द्वारा लूट की कई घटनाएं हुई दिसम्बर 3, 1932 को जीतू ने संथालों को हिंदू बना लिया। उसने ऐतिहासिक पाडुआ शहर में अदीना मस्जिद के खंडहर पर इस गरज से कब्जा कर लिया कि उसे मंदिर बना देगा। वह अपने आपको गांधी कहता था उसने इस अधिकृत मस्जिद के अंदर अपनी निजी सरकार की स्थापना और अंग्रेजी राज के खात्मे का ऐलान किया। जीतू एक लोककथा नायक बन गया। स्वराजवादियों और हिंदुस्तानी आंदोलन के साथ जुड़ाव के कारण उसे मालदा कस्बे के राष्ट्रवादी हिंदुओं की सहानुभूति मिल गयी। आंदोलन में स्वराजवादियों और हिंदू संप्रदायवादियों के बीच आपसी निर्भरता देखने में आयी।

यह आंदोलन संथालों की गिरती हालत की पृष्ठभूमि में छेड़ा गया। आंदोलन भड़कने के पीछे आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में भारी वृद्धि जमींदारों द्वारा काश्तकारों की भूमि से जबरन बेदखल करना जमींदारों द्वारा भर्ती और लगान की और भी अधिक मांग होना और अन्य किस्म के शोषण और तंग किये जाने जैसे कारण थे ये समस्याएं 1930 के दशक में कई गुना बढ़ गयी। एक संथाल ने कहा, "हमें तमाम मुर्गियों, सुअरों और मुसलमानों को मार देना होगा।"

15.5.9 उड़ीसा का आदिवासी और राष्ट्रीय आंदोलन (1921-36)

इस आंदोलन ने उड़ीसा और बिहार के उड़ीसा मंडल को अपनी चपेट में लिया जिसमें कटक, पुरी, बालासुर, आंगुल और कोंडमाल आते थे। आदिवासियों और दूसरे किसानों ने 1920 और 1930 के दशकों में राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लिया। 1909 में गोपबंधु ने जिस सत्यवादी स्कूल की स्थापना की थी, उसके प्रयासों से उड़ीसा के आदिवासी और किसान राष्ट्रीय आंदोलन में आये। किसानों और आदिवासियों ने असहयोग आंदोलन में भाग लिया। उन्होंने असहयोग आंदोलन के "लगान नहीं दो" पक्ष को लागू किया। फरवरी 1922 तक, किसानों और आदिवासियों ने जंगल में पैठ कर ली और वन कानूनों की अवहेलना कर ली थी। किसानों ने करों का भुगतान रोक देने का निश्चय किया। जिन लोगों ने करों का भुगतान रोक देने का निश्चय किया। जिन लोगों ने करों का भुगतान किया उनका सामाजिक बहिष्कार कर दिया गया। मई 1921 में, अधिकारियों ने उस क्षेत्र में धारा 144 लगा दी और आदिवासियों को गिरफ्तार कर लिया। इससे मुइयां आदिवासी आंदोलित हो उठे और कोई 500 मुइयां आदिवासियों ने अधीक्षक के बंगले पड़ गया।

वन कानूनों को लक्ष्य कर ही चलाया गया आलुटी सीताराम का संपा विद्रोह उड़ीसा के आदिवासियों के लिये प्रेरणा का स्रोत बना। 1921-30 में, गुनपुर के आदिवासियों ने "लगान नहीं दो" संघर्ष छेड़ा। उन्होंने वन कानूनों की अवहेलना की। अधिकारियों को उन्हें नियंत्रित कर पाना कठिन लगा। खोंडों ने भी लगान देना बंद कर दिया। उन्होंने उन्हें गिरफ्तार करने आयी पुलिस पर हमला बोल दिया। उन्होंने जयपुर के महाराजा को किश्त देने से इंकार कर दिया। कोरापुट और गंजम पाट्टियों में, सविनय अवज्ञा आंदोलन के प्रति आदिवासियों की लोकप्रिय प्रतिक्रियाएं जमींदारों, महाजनों और दोषपूर्ण वन कानूनों के हाथों आदिवासियों के दमन और शोषण के कारण बनी।

15.5.10 असम (तत्कालीन असम, नागालैंड, मेघालय और मिजोरम) का आदिवासी आंदोलन

उपनिवेश काल के असम (जिसमें असम, नागालैंड, मेघालय और मिजोरम आते थे) के आदिवासियों ने अपनी भूमि पर अंग्रेजों के अतिक्रमण करने के प्रयास का विरोध किया। बाद में असम के नाम से जाने जाने वाले अंग्रेजी प्रांत ने 1873 तक आकार लिया। अंग्रेजों ने जैतिया, काचार और असम, और खासी पहाड़ियों के स्वाधीन आदिवासी राज्यों को 1826 में (इस प्रांत में) मिला लिया। नागा पहाड़ियों का कुछ हिस्सा 1860 के दशक में मिला लिया गया, और मिजो पहाड़ियों को 1870 के दशक में मिला लिया गया। अंग्रेज असम की कृषि

को चाय बागानों में बदलना चाहते थे जो विशेष तौर पर उनके लिये ही हों, वे आदिवासियों की संस्कृति और परंपराओं को भी अपने औपनिवेशिक हितों के अनुकूल बदलना चाहते थे। आदिवासियों ने अंग्रेजी नीतियों के खिलाफ 1828 और 1829 में गंधार कुंवर और रूपचंद कुंवर के नेतृत्व में विद्रोह किया। अंग्रेजों ने उन्हें निर्ममतापूर्वक दबा दिया। पियाली बारफूकन को 1828 के विद्रोह में उसकी भूमिका के लिये प्राणदंड दे दिया गया। खासियों ने स्वाधीनता की जंग छेड़ी (1829-33)। उनका नेतृत्व यू. तिरोत सिंह ने किया। वह खासियों के छोटे-छोटे गणराज्यों के एक संघ का अध्यक्ष था। उन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ छापामार युद्ध छेड़ा था। खासी सरदार, लोगों के साथ, अंग्रेजों से लड़े लेकिन अंत में उन्हें समर्पण करना पड़ा।

असम के आदिवासियों को 1857 के विद्रोह से प्रेरणा मिली। 1860 में, अंग्रेजों के खिलाफ दो बड़े विद्रोह हुए—एक जैंतिया पहाड़ियों में और दूसरा नौगांव के मैदानों में, ये विद्रोह करों में वृद्धि की देन थे। खासियों ने करों में वृद्धि के खिलाफ अपने सरदारों के नेतृत्व में विद्रोह किया। वे अपनी स्वाधीनता के लिये धनुष-बाणों से लड़े। उन्होंने 1863 में जाकर तब आत्म-समर्पण किया जब उन्हें कुचलने के लिये सेना भेजी गयी। नौगांव जनपद में, आदिवासियों को 1860 में धतूरे की खेती में नुकसान हुआ। इसके बाद मालगुजारी की राशि बढ़ा दी गयी। उनसे सुपाड़ी और पान पर भी बढ़े हुए कर देने को कहा गया। सरकारी अधिकारियों ने बढ़े हुए करों की वसूली के लिये बल प्रयोग किया। नौगांव के आदिवासियों ने, मुख्य तौर पर पलनमुड़ी क्षेत्र में, अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह कर दिया। उन्हें अपने विद्रोह के लिये जैंतिया पहाड़ियों के आदिवासियों से प्रेरणा मिली जिन्होंने कुछ समय पहले ही विद्रोह किया था।

बोध प्रश्न 6

टिप्पणी : 1) अपना उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरे से करें।

1) गुजरात के आंदोलन (1922-23) को "देवी आंदोलन" क्यों कहा गया और इसकी विशेषताएं क्या थीं?

....
....
....
....

2) भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में आदिवासियों की भूमिका के बारे में बताइये।

....
....
....
....

3) कौन-सा आदिवासी आंदोलन सांप्रदायिकता के रंग से ग्रस्त था?

....
....
....
....

15.6 सारांश

आदिवासी उपनिवेश काल के दौरान शोषित सामाजिक समूहों का हिस्सा थे। अंग्रेजी क्षेत्रों में आदिवासी क्षेत्रों को मिला लिये जाने के पहले, उनकी अपनी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाएं थीं। ये व्यवस्थाएं परंपरागत थीं और आदिवासियों की आवश्यकताओं के अनुसार

थीं। प्रत्येक समुदाय की सामाजिक व्यवस्था का अध्यक्ष का सरदार होता था। आदिवासी समुदाय के मामलों को ये ही सरदार देखते थे। उन्हें इस सिलसिले में रीतिगत कानूनों और परंपराओं का पालन करना होता था। वे अपने मामलों के बंदोबस्त के लिये स्वाधीन भी थे। भूमि और जंगल उनकी जीविका के मुख्य साधन थे। जंगलों से आदिवासियों को उनकी आवश्यकता की बुनियादी वस्तुएं मिलती थीं। आदिवासी समुदाय गैर-आदिवासियों से कटे हुए थे। फिर भी, यह पृथकता संपूर्ण नहीं थी (वे पूरी तौर पर कटे हुए नहीं थे)।

आदिवासी क्षेत्रों पर कब्जा कर लेने के बाद, अंग्रेजों ने ऐसी नीतियां बनायीं जिनका लक्ष्य औपनिवेशिक हितों को जीवित रखना था। उन्होंने आदिवासियों की पृथकता को समाप्त किया और उन्हें राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से जोड़ा। उन्होंने उनके अपेक्षाकृत आत्म-सक्षम समुदायों को अव्यवस्थित कर दिया। अंग्रेजों ने नयी कानून व्यवस्था लागू की, जो आदिवासियों की क्षमता से बाहर की बात साबित हुई। उन्होंने कई शोषक वर्गों को खड़ा किया—जमींदार, ठेकेदार, व्यापारी, महाजन और आदिवासी क्षेत्रों के सरकारी अधिकारी, ये दमनकारी आदिवासी समुदायों के नहीं थे। आदिवासियों ने उन्हें दिकु (बाहरी) माना। इन लोगों ने अंग्रेज प्रशासन के साथ मिलकर आदिवासियों का शोषण किया।

विभिन्न क्षेत्रों के आदिवासियों ने अपने दमनकारियों के खिलाफ विद्रोह कर दिया। उनके आंदोलन इसलिये उपनिवेश-विरोधी थे क्योंकि वे औपनिवेशिक प्रशासन और शोषक वर्गों (दिकुओं) को लक्ष्य कर चलाये गये थे। दिकुओं के खिलाफ होने वाले आंदोलन इसलिये उपनिवेश विरोधी थे क्योंकि—

अपने सरदारों के नेतृत्व में विद्रोह किया। जंगलों के अतिक्रमण और शास्त्रीय शोषकों के दमन के खिलाफ उनके आंदोलन अक्सर राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े या उसमें विलय हो गये। आदिवासियों ने अपने पारंपरिक हथियारों, मुख्य तौर पर धनुष-बाणों का इस्तेमाल किया और अक्सर उन्होंने हिंसा का सहारा लिया। उन्होंने अपने दमनकारियों को मार डाला और उनके मकानों को आग लगा दी।

प्रशासन ने उनसे निपटने के लिये सख्ती बरती। उन्हें अपराधी और समाज-विरोधी घोषित किया गया। उनकी जायदाद कुर्क कर ली गयी। उन्हें जेल में डाल दिया गया और उनमें से कई को फांसी लगा दी गयी। अंग्रेजों को कुछ भूमि संबंधी कानून भी बनाने पड़े। लेकिन ये कानून आदिवासियों के हालात को बदल नहीं सके। भारत के आदिवासी आंदोलन केवल क्षेत्रों तक सीमित रहे। वे एक अखिल भारतीय आंदोलन का रूप धारण नहीं कर पाये। जहां तक उपपनिवेश-विरोधी आंदोलनों में भागीदारी का सवाल है, आदिवासी दूसरे सामाजिक गुटों से पीछे नहीं रहे।

15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

गुहा, अमलेन्दु, *प्लांटर राज़ टु स्वराज : फ्रीडम स्टरगल एंड इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन असम : 1926-1947*, नई दिल्ली; आई.सी.आर., 1977.

गुहा, रंजीत, *एलीमेंट्री आस्पेक्ट्स ऑफ पीजेंट इनसर्जेंसी इन कॉलोनियल इंडिया*, दिल्ली, ओ.यू.पी., 1983.

हार्डमैन, डेविड, *"आदिवासी एर्जशन इन साउथ गुजरात : द देवी मूवमेंट ऑफ 1922-23 इन रंजीत गुहा"*, संपा. सब आल्टर्न स्टडीज, दिल्ली, ओ.यू.पी., 1930.

पाटी, विश्वमय, *"पीजेंट्स, ट्राइबलस एंड नेशनल मूवमेंट इन उड़ीसा (1921-1928). सोशल साइंटिस्ट*, 11, अंक 7, जुलाई 1978.

पति, जगन्नाथ, *ट्राइबल पीजेंट्री : डायनमिक्स ऑफ डेवलपमेंट*, नई दिल्ली, इंटर इंडिया, 1984.

सरकार, सुमित, *मॉडर्न इंडिया : 1885-1947*, मद्रास मैकमिलन, 1985.

सरकार, तनिका, *"जीतू संथाल्स मूवमेंट इन मालदा, 1924-1932 : ए स्टडी इन ट्राइबल प्रोटेस्ट"*, इन *रंजीत गुहा*, संपा., सब आल्टर्न स्टडीज़, खंड 4, दिल्ली, ओ.यू.पी., 1985.

सिंह, सुरेश, *बिरसा मुंडा हिज़ मूवमेंट, 1874-1901 : ए स्टडी ऑफ मिलनेरियन मूवमेंट इन छोटा नागपुर*, कलकत्ता, ओ.यू.पी., 1983.

दासगुप्ता, स्वप्न, *"आदिवासी पॉलिटिक्स इन मिदनापुर, 1924-1932"*, इन रंजीत गुहा, संपा., सब आल्टर्न स्टडीज़, खंड 4, दिल्ली, ओ.यू.पी., 1985.

देसाई, ए.आर. (संपा.), *पीज़ेंट स्ट्रगल्स इन इंडिया*, मुम्बई, ओ.यू.पी., 1979.

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखिये 15.2

बोध प्रश्न 2

1) देखिये 15.3

बोध प्रश्न 3

1) देखिये 15.4

बोध प्रश्न 4

1) देखिये 15.5.1
2) देखिये 15.5.2
3) देखिये 15.5.3

बोध प्रश्न 5

1) देखिये 15.5.5
2) देखिये 15.5.5

बोध प्रश्न 6

1) देखिये 15.5.6
2) देखिये 15.5.7, 15.5.8 और 15.5.9
3) देखिये 15.5.8

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

DCEPS-104

आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारधारा

खंड

2

आधुनिक भारत में राजनीति और धर्म : अंतरापृष्ठ (The Interface)

इकाई 16 23

परिचय

इकाई 17 34

स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद और वी.डी. सावरकर

इकाई 18 44

सर सैयद अहमद खान, मोहम्मद इकबाल, एम.ए. जिन्ना और अबुल कलाम आज़ाद

विशेषज्ञ समिति

प्रो. इकबाल नारायण
उप-कुलपति
नॉर्थ ईस्टर्न हिल यूनिवर्सिटी
शिलाँग

प्रो. के. मधुसूदन रेड्डी
राजनीति शास्त्र विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

प्रो. मनोरंजन मोहंती
राजनीति शास्त्र विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. ए. पी. राना
राजनीति शास्त्र विभाग
एम. एस. विश्वविद्यालय
बड़ौदा, वदोदरा

प्रो. रशीदुद्दीन खान
तृतीय विश्व अध्ययन केंद्र
जामिया मिलीया इस्लामिया विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. शोभनलाल दत्ता गुप्ता
रीडर, राजनीति शास्त्र विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता

प्रो. आर. एस. मोरखंडीकर (संयोजक)
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ (भूतपूर्व निदेशक)
इं. गां. रा. मु. वि., नई दिल्ली

पाठ्यक्रम निर्माण दल

डॉ. बी. बी. सरकार
राजनीति शास्त्र विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

डा. जगपाल सिंह
परामर्शदाता (राजनीति विज्ञान)
इं. गां. रा. मु. वि., नई दिल्ली

श्री आदित्य निगम
परामर्शदाता (राजनीति विज्ञान)
इं. गां. रा. मु. वि., नई दिल्ली

प्रो. पांडव नायक
निदेशक, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इं. गां. रा. मु. वि., नई दिल्ली

डा. दरवेश गोपाल
व्याख्याता, राजनीति विज्ञान
इं. गां. रा. मु. वि., नई दिल्ली

श्री अनुराग जोशी
व्याख्याता, राजनीति विज्ञान
(पाठ्यक्रम समन्वयकर्ता)

श्री विजयशेखर रेड्डी
व्याख्याता, राजनीति विज्ञान
इं. गां. रा. मु. वि., नई दिल्ली

पाठ्यक्रम संपादक

प्रो. के. एन. पन्निकर
ऐतिहासिक अध्ययन केंद्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

अनुवाद

डॉ. चंदगी राम
मानसरोवर, जयपुर

श्री आनंद कुशवाहा
नई दिल्ली

सामग्री निर्माण

श्री बालकृष्ण सेल्वराज
कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

नवम्बर, 1991

© *इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1991*

ISBN-81-7263-007-7

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त *विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा* किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

खंड 5 प्रस्तावना

प्रस्तुत खंड भारतीय राजनीति तथा धर्म के अन्तरापृष्ठ यानी भारतीय राजनीति एवं धर्म के अन्तःसम्बन्धों पर प्रकाश डालता है। इस खंड में उक्त विषय के संदर्भ में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध अर्थात् देश की स्वतंत्रता (15 अगस्त 1947) तक के काल को समाहित किया गया है। अगले पृष्ठों में प्रमुख रूप से इस काल के कतिपय प्रख्यात भारतीय विचारकों द्वारा व्यक्त दृष्टिकोण के आधार पर तत्कालीन भारतीय राजनीति तथा धर्म के परस्पर संबंधों को विश्लेषित करने का प्रयास किया जा रहा है।

इस खंड को तीन इकाइयों में विभाजित किया गया है। प्रथम इकाई का स्वरूप परिचयात्मक है। आप देखेंगे कि इस इकाई में राजनीति तथा धर्म के संयोजन की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इसके अंतर्गत उस काल के लब्धप्रतिष्ठित भारतीय विचारकों एवं दार्शनिकों यथा—दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द इत्यादि के विचारों के आलोक में उस काल की राजनीति एवं धर्म के अन्तःसंबंधों की रूपरेखा दी गई है।

अगली इकाई में स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द तथा वी.डी. सावरकर के दृष्टिकोण पर प्रकाश डाला गया है। जैसा कि स्पष्ट है, इस इकाई में राजनीति एवं धर्म के अन्तःसंबंधों के संदर्भ में इन तीनों मनिषियों के विचारों का विवेचन किया गया है। यहां हिन्दू-पुनरूत्थान अथवा हिन्दू पुनर्जागरण का विशेष रूप से ध्यान रखा गया है।

इस खंड की अन्तिम इकाई का शीर्षक "सर सैयद अहमद खान, मोहम्मद इकबाल, एम.ए. जिन्ना एवं अबुल कलाम आज़ाद" है तथा इसका संबंध राजनीति एवं धर्म के क्रियान्वयन में मुस्लिम प्रतिक्रिया से है।

आशा की जाती है कि इस खंड के माध्यम से आपको हमारे देश में राजनीति एवं धर्म के अन्तःसम्बन्धों के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में उपयोगी जानकारी उपलब्ध हो पायेगी।

इकाई 16 परिचय

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 ब्रितानवी (ब्रिटिश) शासन के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया
16.2.1 विभिन्न प्रतिक्रियायें
16.2.2 संगठनों एवं आंदोलनों के माध्यम से प्रतिबिम्बित भारतीय प्रतिक्रिया
16.2.3 नरमपंथी प्रतिक्रिया
16.2.4 उग्र राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया
16.3 मुस्लिम साम्प्रदायिक अलगाववाद
16.3.1 मुस्लिम राजनीतिक चिंतन की प्रमुख प्रवृत्तियां
16.3.2 धार्मिक बिम्ब विधान एवं प्रतीकवाद
16.4 पुनर्जागरणवादी राष्ट्रवादी राजनीति
16.4.1 दयानन्द सरस्वती
16.4.2 स्वामी विवेकानन्द
16.4.3 वी. डी. सावरकर
16.5 हिन्दू-मुस्लिम समस्या के कतिपय आयाम
16.6 सारांश
16.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप अग्रांकित बिन्दुओं पर सक्षम होंगे:

- आप ब्रितानवी (ब्रिटिश) उपनिवेशवाद के प्रति भारतवासियों के रुख को समझ पायेंगे।
- आप मुस्लिम साम्प्रदायिक अलगाववाद के अर्थ की व्याख्या कर पायेंगे।
- आप पुनर्जागरणवादी राष्ट्रवादी राजनीति की प्रमुख विशेषताओं का विवेचन करने में सक्षम होंगे।
- आप हिन्दू-मुस्लिम तनावों को प्रभावित करने वाले कतिपय आयामों को विश्लेषित कर पायेंगे।
- आप भारत में राजनीति एवं धर्म के अन्त:संबंधों पर सामान्य रूप से विचार व्यक्त कर पायेंगे।

16.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आप प्रमुख रूप से भारत में राजनीति तथा धर्म के परस्पर संयोजन के सन्दर्भ में अध्ययन करेंगे। इन संयोजनों अथवा सहबद्धताओं का हो जाना कोई हाल ही की घटना नहीं है अपितु इस प्रक्रिया का प्रारम्भ काफी पहले हो चुका था। फिर भी इस इकाई के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु ब्रितानवी उपनिवेशवाद के आगमन से प्रारंभ होकर बाद तक का काल है।

16.2 ब्रितानवी (ब्रिटिश) शासन के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया

ब्रितानवी (ब्रिटिश) औपनिवेशिक शासन एवं पाश्चात्य संस्कृति तथा सभ्यता के प्रभाव के फलस्वरूप शिक्षित एवं चिंतित भारतीयों में विभिन्न श्रेणियों की प्रतिक्रियायें सामने आईं। इन प्रतिक्रियाओं का अस्तित्व 1860 से ही प्रकट होने लगा था जबकि भारत के लिए ब्रितानवी नीति में कठोर परिवर्तन प्रारंभ हुए। इस नीति के परिणामस्वरूप संदेह, दमन तथा विभिन्न भारतीय समुदायों के मध्य विद्यमान सामाजिक दूरी को योजनाबद्ध ढंग से स्वार्थ साधन का एक तरीका बनाया जाने लगा तथा अपने राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विभाजक (फूट डालने वाली) प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया जाने लगा। इसके साथ ही इन मामलों में 1858 से पूर्व की (प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के प्रारंभ के समय की) ढ़लाई के स्थान पर सुनिश्चित निगरानी की व्यवस्था की जाने लगी। हालांकि, हमारे प्रयोजन (प्रस्तुत इकाई से सम्बन्धित विषय के अध्ययन के लिए) हेतु उपरोक्त तत्वों का विश्लेषण सन् 1885 से प्रारंभ करेंगे जबकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की विधिवत् स्थापना हो चुकी थी। हमारे द्वारा ऐसा किये जाने के पीछे साधारणता तर्क यह है कि उस समय किसी एक श्रेणी अथवा दूसरी श्रेणी की प्रतिक्रिया को समर्थन देने के लिए एक संगठित राजनीति का स्वरूप सामने आ चुका था।

16.2.1 विभिन्न प्रतिक्रियायें

इन प्रतिक्रियाओं का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है:

क) राजनीति एवं सामाजिक सुधारों का पश्चिम के तर्कणपूर्ण सिद्धांतों के आधार पर आधुनिकीकरण किया जाये। यह आधुनिकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया के माध्यम से हो जिसमें क्रमिक रूपांतरण हो, वह निष्ठावादी, शांतिपूर्ण एवं संविधानवादी ढंग के अधीन हो।

ख) राजनीति का आमूलचूल परिवर्तन किया जाये, जो आध्यात्मिकीकरण के उद्देश्यों और उसी पद्धति से किया जाये। इसके लिए हिन्दू धार्मिक प्रतीकों का उपयोग किया जाये तथा राष्ट्र की आत्मनिर्भरता के महत्व एवं विगत गौरव को याद दिलाते हुए भावनात्मक ढंग से लोगों को इस दिशा में आकर्षित करते हुए संगठित किया जाये। ब्रितानवी शासन का विरोध किया जाये तथा सामाजिक सुधारों हेतु पारंपरिक पद्धति अपनाई जाये।

ग) एक ऐसा राजनीतिक दृष्टिकोण जो निष्ठावादी एवं संविधानवादी हो। इस्लाम धर्म एवं मुस्लिम हितों के लिए आग्रह करते हुए लोगों को संगठित किया जाये।

घ) एक ऐसा राजनीतिक दृष्टिकोण जिसके अन्तर्गत सरकार हेतु पाश्चात्य सिद्धांतों को वरीयता दी जाये। ये सिद्धांत परिवर्तनकारी हों तथा इनमें शांतिपूर्ण एवं सक्रिय विरोध को भी स्थान दिया जाये। इसके साथ ही लोगों को संगठित करके इस दिशा में कार्य किया जाये और देश की स्वतन्त्रता को लक्ष्य बनाया जाये।

इसके अतिरिक्त अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों द्वारा तत्कालीन विकसित हो रही राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत शक्ति एवं स्थान प्राप्त करने के प्रयास किये गये। मार्क्सवादी वामपंथी शक्तियों ने भी, जो कि तीस के दशक (1930-1939) में बहुत महत्वपूर्ण थी, औपनिवेशिक पराधीनता के लिए विचार एवं कार्य दोनों रूपों में प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाली एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व किया। इसका भारतीय राजनीति पर सार्थक प्रभाव पड़ा।

16.2.2 संगठनों एवं आन्दोलनों के माध्यम से प्रतिबिम्बित भारतीय प्रतिक्रिया

इन प्रवृत्तियों को प्रारंभिक अभिव्यक्ति उन संगठनों एवं आंदोलनों में मिली जो कि ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, अलीगढ़ कॉलेज व सर सैयद अहमद खान, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी तथा समाज सुधार कांग्रेस से सम्बद्ध थे। इन संगठनों तथा इनके समानान्तर चल रहे आंदोलनों का उद्देश्य धार्मिक अथवा बुद्धिवादी विचारों के माध्यम से सम्पूर्ण समाज का सुधार एवं पुनरूद्धार या किसी वर्ग विशेष का सुधार तथा

पुनरूद्धार करना था। अर्थात् कुछ संगठन तथा आंदोलन तो सम्पूर्ण समाज के लिए कार्यरत थे तथा कुछ संगठनों तथा आंदोलनों का क्षेत्र सीमित था। वे भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों एवं वर्गों में सुधार हेतु संलग्न थे। इन संगठनों एवं आंदोलनों का साधन एक ही था धर्म तथा **बुद्धिवादी** विचारधारा। इन संगठनों तथा आंदोलनों का क्षेत्र सीमित था। प्रत्यक्षतः ये राजनीतिक प्रकृति के नहीं थे। फिर भी धर्म तथा परंपरा द्वारा एक प्रयोजन हेतु जन उत्साह पैदा करने में इन संगठनों एवं आंदोलनों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से एक निर्णायक भूमिका का निर्वहन किया। इनके लिए धर्म, भाषण एवं विचार-विमर्श का एक विषय तथा सामाजिक संघठन का एक साधन था। यह प्रवृत्ति युद्ध प्रिय राष्ट्रवादियों तथा उग्रवादियों (जैसा कि कांग्रेस की भाषा में कतिपय संगठनों को "मिलिटेन्ट नेशनलिस्ट" तथा "एक्सट्रीमिस्ट" के नाम से बोला जाता था) में भी विद्यमान थी क्योंकि वे भी पाश्चात्य संघात हेतु राजनीतिक प्रतिक्रिया की द्वितीय पंक्ति का प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

16.2.3 नरमपंथी प्रतिक्रिया

जब तक उदारवादी नरमपंथी नेता कांग्रेस के कर्ता-धर्ता थे (1885-1906) तब तक पाश्चात्य उदारवादी सिद्धांतों यथा—तर्क, अधिकार, निष्ठा, पूर्वाग्रह एवं भेदभाव से मुक्ति, राष्ट्रीय एकता, क्रमिक विकासवाद तथा अभिजात्यवर्गवाद आदि को वास्तविक रूप से महत्व दिया जाता था। धर्म को व्यक्तिगत् महत्व का विषय माना जाता था। उदारवादी अपने सिद्धान्तों में लोकतन्त्रीय थे, लेकिन उनकी राजनीति कभी भी जनसामान्य के स्तर तक नहीं पहुंची। उन्होंने अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु धर्म तथा राजनीति को जानबूझकर मिश्रित करने का प्रयास भी नहीं किया। यद्यपि कांग्रेस के कतिपय नेता यथा—महाराष्ट्र में बालगंगाधर तिलक, बंगाल में अरबिन्दो घोष, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बिपिन चन्द्रपाल तथा पंजाब में लाला लाजपत राय ने जन राजनीति में प्रवेश किया। हालांकि यह प्रवेश सीमित था तथा उदारवादी नेतृत्व ने वस्तुतः इसको अनुमोदित नहीं किया था। सन् 1903 ईस्वी के पश्चात् जब सरकार ने प्रशासनिक सुविधा के आधार पर बंगाल प्रान्त के विभाजन का प्रस्ताव रखा, उस समय अतिवादी तथा उग्र राष्ट्रवादी राजनीति का वास्तविक रूप में राजनीतिक दृश्यपटल पर प्रादुर्भाव हो चुका था।

16.2.4 उग्र राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया

यह एक नयी किस्म की राजनीति थी, जो सक्रिय एवं अधीर थी। इसका प्रादुर्भाव बढ़ती हुई शिकायतों, भारत में नवीन परिवर्तनों एवं तत्कालीन परिस्थितियों के प्रति घृणा के फलस्वरूप हुआ। उस समय उद्योगों में नव प्रविष्ट भारतीयों में आत्मविश्वास का नवसंचार हुआ जिसके कारण उन्होंने अपने उद्योगों के विस्तार हेतु स्थान की मांग करना प्रारंभ कर दिया। शिक्षित बेरोजगारों की संख्या में वृद्धि हुई। जनसामान्य की आर्थिक व्यथा बढ़ी। इसके साथ ही दादा भाई नौरोजी की रचना "पवर्टी एण्ड दि ब्रिटिश रूल इन इण्डिया", आर.सी. दत्त की रचना "इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया" तथा विलियम डिगबाइ की रचना "प्रॉसपरस ब्रिटिश इण्डिया" का भी लोगों पर सामूहिक प्रभाव पड़ा। बंगाल के अधिकांश उग्रवादी कई समूहों में विभाजित थे। एक समूह मातृ उपासक था। वह शक्ति (शक्ति देवी) के गुणगान करता था। इस समूह के अनुसार शक्ति भारत के भूत, वर्तमान और भविष्य की प्रतीक थी। दूसरा समूह वेदान्ति कहलाता था। इसके सदस्य स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों तथा भगवान कृष्ण के संदेश का अनुसरण करते थे। दोनों ही समूहों की शक्ति के प्रयोग अथवा हिंसा में आस्था थी। हालांकि यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि केवल शक्ति प्रयोग या हिंसा ही उनका कार्यक्रम था। इन दोनों समूहों के संदर्भ में लाजपत राय ने अति रोचक टिप्पणी की है। उन्होंने कहा कि "वे न तो विनाशवादी हैं और न ही अराजकतावादी। वे राष्ट्र भक्त हैं, जिन्होंने अपनी राष्ट्रभक्ति एक धर्म के धरातल से उठाई है। उनका धर्म असाधारण रूप से उनके राष्ट्रभक्ति से साम्य रखता है। और वह धर्म राष्ट्र-भक्ति को अनिर्वचनीय रूप से प्रचण्ड एवं सजीव बना देता है।"

पुनः के.एस. शेलवेंकर के शब्दों में बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में भारतीय राष्ट्रवाद—"स्वच्छन्दतावादी, रहस्यात्मक, आक्रमणशील तथा अविश्वसनीयताओं से प्रहेलिकापूर्ण किया हुआ था। लेकिन यह मध्यम वर्ग के आत्मसम्मान को पुनः प्रतिष्ठित करने हेतु अत्यन्त विवेकपूर्ण था।" और वह "एक आत्मविश्वासपूर्ण युद्ध संलग्नता की

जिसकी किलेबन्दी भारत के भूतकाल का जो कुछ भी विरोचित एवं गौरवपूर्ण था, उससे की गई थी।"

बाल गंगाधर तिलक तथा अरबिन्दो घोष की मान्यता थी कि धर्मवत् आह्वान से भारतीय राष्ट्रवाद को बल मिलेगा। बीसवीं सदी के द्वितीय एवं तृतीय दशक के दौरान बंगाल में उग्रवादी मोटे रूप में दो प्रकार की गतिविधियों में संलग्न थे। प्रथम प्रकार की गतिविधियों के अन्तर्गत बम फेंकना, आतंकवाद फैलाना तथा अधिकारियों को आतंकित करके अस्थिरता उत्पन्न करना था। दूसरा समूह अपनी गतिविधियों को संगठित विद्रोह करने, सेना में घुसपैठ करने तथा छापामार युद्ध के लिए भूमिका तैयार करने हेतु संकेन्द्रित कर रखा था। व्यक्ति विशेष की हत्या करने अथवा लूटपाट में इनका विश्वास नहीं था।

बाल गंगाधर तिलक ने एक अन्य तथा महाराष्ट्र के प्रारंभिक उग्र राष्ट्रवादियों के एक वर्ग का प्रतिनिधित्व किया। तिलक ने अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु धर्मग्रन्थ सम्मत व्याख्याओं के व्यवस्थित उपयोग पर ध्यान केंद्रित किया। इसके साथ ही उन्होंने धार्मिक उत्सवों तथा उन मेलों के माध्यम से जिनमें कि शिवाजी जैसे ऐतिहासिक वीरों की याद में उत्सव मनाये जाते थे—जन जागृति पैदा करने पर बल दिया ताकि औपनिवेशिक दासता एवं निस्सहायता के विरुद्ध संघर्ष में जनता की उत्साहपूर्ण सहभागिता सुनिश्चित हो सके। अरबिन्दो के शब्दों में "तिलक प्रथम राजनीतिक नेता थे जिन्होंने इसके (कांग्रेस के) पारंपरिक कार्यक्रम को एक सीमा तक शास्त्रीय पद्धति से तोड़ा ताकि वर्तमान तथा भूतकाल के मध्य विद्यमान खाई को पाटने हेतु सेतुबंध बनाया जा सके तथा राष्ट्र के राजनीतिक जीवन का नैरंतर्य पुन स्थापित हो सके। उन्होंने ऐसी पद्धति का उपयोग किया जिससे आंदोलन का भारतीयकरण हुआ और वह आंदोलन जन सामान्य तक पहुंचा।"

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: i) नीचे छोड़े गये स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर को इस इकाई के अन्त में दिये गये मानक उत्तर के आधार प जांचें।

1) ब्रितानवी उपनिवेशवाद के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया की प्रमुख विशेषतायें क्या थीं?

....

....

....

....

....

....

....

....

16.3 मुस्लिम सांप्रदायिक अलगाववाद

बहुत से लेखकों ने संकेत किया है कि महाराष्ट्र तथा बंगाल शैली के राष्ट्रवाद ने भारतीय मुसलमानों को विरोधी बना दिया तथा यह मुस्लिम साम्प्रदायिक अलगाववाद के उदय के पीछे एक प्रबल कारण था। यहां यह स्मरणीय है कि उपरोक्त दोनों शैलियों में, जो कि आक्रमणशील एवं जनप्रिय थी तथा जिनमें औपनिवेशिकता विरोधी राष्ट्रवाद समाहित था, किसी का भी मुस्लिम हितों के विरुद्ध प्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं था। और न ही उनमें से कोई मुसलमानों की भावनाओं को ठेस पहुँचाना चाहती थी। वास्तव में उग्र राष्ट्रवाद के प्रारंभिक चरणों में बंगाल में मुसलमान उग्रवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सहभागी के रूप में विद्यमान थे, हालांकि इनकी संख्या अधिक नहीं थी। वे ब्रितानवी शासन के प्रति अनम्य शत्रुता के भी प्रशंसक थे। तथा उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन के प्रारंभ के समय उसका विरोध नहीं किया। हालांकि यह सत्य है कि बंगाल तथा महाराष्ट्र दोनों ही शैलियों के

राष्ट्रवाद के अन्तर्गत उत्तेजनात्मक धार्मिक प्रतीकात्मकता को शिवाजी के संदर्भ से सहारा दिया गया, जो कि मुस्लिम शासन के विरुद्ध लड़े थे। इसके साथ ही बंकिमचन्द्र के उपन्यास "आनन्दमठ" (जिसमें एक विद्रोह का संकेत दिया गया था तथा इस विद्रोह हेतु लेखक ने एक प्रकार के धर्म प्रचारक अथवा मिशनरी उत्साह के प्रभाव का प्रदर्शन उस उपन्यास में किया था) ने अवश्य मुसलमानों के मस्तिष्क में अशांति तथा अलगाव की भावना हेतु भूमिका तैयार की। इसी प्रकार भारत की ब्रितानवी सरकार के वे सुनियोजित घनघोर प्रयास जो कि राष्ट्रवादी शक्तियों में फूट डालकर 6 करोड़ 20 लाख मुसलमानों की राष्ट्रीयता की खेप (तह) से अलग करने हेतु किये जा रहे थे, निश्चित रूप से मुसलमानों में अलगाव की भावना उत्पन्न करने वाले महत्वपूर्ण कारणों में से थे। लार्ड मोरले के निदेशानुसार तथा मिन्टो, जो कि वायसराय थे। एवं नौकरशाही के उकसाने से उच्चवर्गीय मुसलमानों के एक प्रतिनिधिमण्डल ने वायसराय से मिलने का आग्रह किया। उस प्रतिनिधिमंडल का अतिशय करने हेतु वायसराय ने अपने शिमला स्थित बाग में 1 अक्टूबर, 1906 को आमंत्रित किया। उस समय इस प्रतिनिधिमंडल ने प्रकट रूप से वायसराय से यह निवेदन किया कि वे मुस्लिम समुदाय के हितों की हिन्दू बहुमत के संभावित आक्रमण से रक्षा करें। मुस्लिम उच्च वर्ग का अधिकांश जो कि औपनिवेशिक सरकार पर निर्भर था उसे तुरन्त अनुगृहीत कर दिया गया। वायसराय महोदय ने प्रतिनिधिमंडल द्वारा प्रस्तुत की गई राजकीय संरक्षण से संबंधित मांग के प्रति सहानुभूति दिखाई। इस घटना के संदर्भ में एक अधिकारी ने वायसराय को लिखा कि यह 'राजनीतिमत्ता का ऐसा कार्य है जो कि भारत तथा भारतीय इतिहास को बहुत वर्षों तक प्रभावित करता रहेगा।" इसी प्रकार के विचार मोरले तथा मिन्टो ने भी व्यक्त किये।

उसी वर्ष (1906) 30 दिसम्बर को मुस्लिम लीग की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य ब्रितानवी सरकार के प्रति निष्ठा की भावना को बढ़ाना तथा भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक एवं अन्य हितों की रक्षा करना था। सन् 1908-1909 में लीग ने साम्प्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व के विस्तार हेतु मांग की। सन् 1909 ई. में अल्पसंख्यकों को धर्म के आधार पर प्रतिनिधित्व देने वाला सिद्धान्त मोरले-मिन्टो सुधारों में सामने आया। यह सिद्धान्त निःसन्देह फूट डालने वाला था। ब्रितानिया द्वारा भारतवासियों में फूट डालने तथा एक वर्ग का दूसरे वर्ग के विरुद्ध प्रयोग करने वाला रुख साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के माध्यम से पुनः स्पष्ट हो गया। ऐसे षड़यंत्र रचे गये जिससे साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिले, राजनीतिक भेदभाव की शुरुआत हो, विशेषरूप से कांग्रेस तथा उन राष्ट्रवादी शक्तियों—जो कि भारत को औपनिवेशिक दासता से मुक्त करवाने हेतु संघर्षरत थी—उनके लिए अन्तहीन समस्यायें पैदा की जायें। साम्प्रदायिक आधार पर दिये जाने वाले प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त तथा मुसलमानों को दिये गये असंगत प्रतिनिधित्व का कांग्रेस ने तत्काल विरोध किया। सन् 1909 ई. के अपने लाहौर अधिवेशन में स्पष्ट किया कि ये जो भेदभाव किये गये हैं वे "अन्यायपूर्ण, पक्षपातपूर्ण तथा अपमानजनक" हैं।

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान इस अत्यन्त खेदजनक तथा अधोगामी परिवर्तन के विश्लेषण के अन्तर्गत उग्र राष्ट्रवादियों के धार्मिक प्रतीकवाद तथा उच्च वर्गीय मुसलमानों की भूमिका के साथ-साथ ब्रितानवी सरकार की विद्वेषपूर्ण तथा अनिष्टकर नीतियों पर समुचित बल दिया जाना चाहिए।

16.3.1 मुस्लिम राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख प्रवृत्तियां

यदि हम बीसवीं सदी के प्रथम तथा द्वितीय दशक के मुस्लिम राजनीतिक चिन्तन का विश्लेषण करें तब यह ज्ञात होगा कि इस अवधि के दौरान इनके चिन्तन की प्रमुख प्रवृत्तियां इस प्रकार थीं :

क) कि कांग्रेस भारत की सभी राष्ट्रीयताओं तथा जातियों का समुचित रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करती है।

ख) कि मुसलमान शैक्षणिक तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े एवं हिन्दुओं की तुलना में अल्पसंख्यक हैं। अतः भविष्य में किसी भी प्रकार की प्रतिनिध्यात्मक सरकार तथा प्रशासन के अन्तर्गत मुसलमानों को हिन्दू परेशान करते रहेंगे।

ग) कि मुसलमानों की संस्कृति, आचार संहिता, सामाजिक संगठन तथा धर्म हिन्दुओं से

भिन्न है। अतः मुसलमान एक पृथक सत्ता अथवा राष्ट्रीयता का निर्माण करते हैं। अर्थात् उनकी राष्ट्रीयता भी हिन्दुओं से भिन्न है।

उपरोक्त के अतिरिक्त अन्य चिन्तन प्रवृत्तियां भी थी, जिनमें से प्रत्येक का उतार-चढ़ाव (प्रभुत्व एवं क्षय) मुसलमानों में था। उदाहरणार्थ—मुसलमानों का यह दायित्व है कि वे सरकार के प्रति निष्ठावान रहें, राजनीतिक अधिकारों सहित सुरक्षा की मांग करें। दूसरी प्रवृत्ति ब्रितानवी सरकार के विरुद्ध चल रहे संघर्ष में सम्मिलित होने के पक्ष में थी। एक छोटा किन्तु यदाकदा प्रभावशाली रहने वाला राष्ट्रीयतावादियों का समूह भी था। इस समूह की राय थी कि दोनों समुदायों को जितने कार्यक्षेत्रों में संभव हो वहां आपस में सहयोग करना चाहिए। इन कार्यक्षेत्रों में स्वतंत्रता के लिए संघर्ष भी सम्मिलित था। इस समूह का यह भी सुझाव था कि अल्पसंख्यक समुदाय की आवश्यकताओं तथा भावनाओं के प्रति हिन्दुओं को अधिक उदारता दिखानी चाहिए। चिन्तन की इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त सर्व-इस्लामिक भावुकता ने भारतीय मुसलमानों को अपनी व्यवस्था को कार्य हेतु एकताबद्ध करने के लिए प्रोत्साहित करने की महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन किया।

हम देखेंगे कि जैसे ही भारत के स्वतंत्रता संग्राम का फैलाव हुआ मुस्लिम लीग ने (जो कि सम्पूर्ण समुदाय का प्रतिनिधित्व करने का दावा कर रही थी तथा वह उस दावे को पर्याप्त मात्रा में सिद्ध करने में 1937 के बाद ही सफल हुई) ऊपर वर्णित चिन्तन की एक अथवा एकाधिक प्रवृत्तियों के आधार पर अपनी मांगें खड़ी करने लगी। "नस्ल, संस्कृति, धर्म, शारीरिक संरचना, सामाजिक संगठन, आचार संहिता, राजनीतिक दृष्टिकोण तथा ऐतिहासिक सम्बन्धों" के आधारों पर मुसलमानों को एक सुनिश्चित एवं पृथक राष्ट्रीयता के रूप में स्वीकार किये जाने हेतु सर सैयद अहमद खान का यह तर्क एक तात्विक प्रतिपादन तथा जिसको एम.ए. जिन्ना ने अपने "द्वि-राष्ट्र सिद्धांत" (टू नेशन थ्योरी) का आधार बनाया। इस सिद्धान्त के आधार पर ही उन्होंने 1940 में भारत के विभाजन की मांग रखी। ब्रितानवी औपनिवेशिक सरकार के प्रति निष्ठा तथा मुसलमानों के लिए विशेष अनुग्रह और उनके हितों की सुरक्षा हेतु उस सरकार पर निर्भरता के परिणामस्वरूप पृथक निर्वाचक मंडल बनाये गये, राजकीय सेवाओं में आरक्षण की व्यवस्था की गई। इसके साथ ही राजनीतिक प्रतिनिधित्व में अधिसंख्यक समुदाय के समान बराबरी का स्तर प्रदान किये जाने हेतु मांग की गई। हिन्दू हितों के साथ मुस्लिम हितों के कल्पित असामंजस्य के कारण संभावित असहिष्णुता एवं सांप्रदायिक दंगों के कारण गांधीय कांग्रेस तथा मार्क्सवादी दलों के औपनिवेशिकता विरोधी संघर्ष की प्रकृति तथा शक्ति को माध्यम मार्ग अपनाना पड़ा। यह एक तर्कसंगत परिवर्तन प्रतीत होता है। इसी प्रकार सर्व-इस्लामिक भावना एवं हर जगह मुस्लिम उद्देश्यों के लिए धार्मिक घनिष्ठ संबंधों की अवधारणा को इकबाल ने अर्थपूर्ण ढंग से सिद्धांत रूप में प्रस्तुत किया। इसी का परिणाम था कि अखिल भारतीय खिलाफत समिति तथा अखिल भारतीय कांग्रेस के आह्वान पर 1920-22 में भारतीय मुसलमान सरकार के विरुद्ध खिलाफत असहयोग आंदोलन के लिए एकजुट हो गये। मुसलमानों में राष्ट्रीयतावादी चिन्तन की प्रवृत्ति का प्रथम विश्व युद्ध के वर्षों में प्रभुत्व रहा। इस प्रवृत्ति का कतिपय प्रख्यात विद्वानों तथा व्यावसायिकों यथा—एम.ए.एन. हैदरी, आर.एम. सयानी, मोहम्मद अली, एम.ए. अन्सारी, मौलाना अबुल कलाम आजाद तथा एम.ए. जिन्ना आदि ने समर्थन किया।

ऊपर जो उल्लेख किया गया है उससे यह सुस्पष्ट होता है कि मुसलमानों की चिन्तनधारा में शांति, सौहार्द एवं सहयोग की कामना विद्यमान थी। तथा इस कामना का औपनिवेशिकता के विरुद्ध भारतीय संघर्ष में कई अवसरों पर अस्थाई रूप से प्राबल्य भी रहा। लेकिन यह विचाराधीन संपूर्ण अवधि एक वास्तविक प्रतिमान नहीं बन पाया। आगामी खंडों में हम हिन्दू धर्म पर आधारित राजनीतिक चिन्तन के साथ-साथ राष्ट्रवादी प्रबन्ध पर दृष्टिपात करेंगे ताकि तत्कालीन समस्या की प्रकृति को समझा जा सके।

16.3.2 धार्मिक बिम्ब विधान एवं प्रतीकवाद

कतिपय धार्मिक समुदायों में धार्मिक बिम्ब विधान तथा प्रतीकात्मकता (उदाहरणार्थ—धार्मिक चिन्हों जैसे स्वास्तिक के चिन्ह का प्रयोग, त्रिशूल के चिन्ह का प्रयोग, किसी शब्द विशेष का प्रयोग, देवी-देवता का चित्र या मूर्ति का प्रयोग अथवा किसी संत-महापुरुष के उपदेशों का प्रसंग आदि) का साधारणतया बार-बार सहारा इन उद्देश्यों

के लिए लिया जाता है, जैसे (1) लोगों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति को समझाने के लिए, या (2) राजनीतिक विचारों तथा उद्देश्यों को स्पष्ट करने हेतु किसी व्यक्ति या समुदाय के धार्मिक विचारों पर कुछ आर्थिक अंशों में जोर देने के लिए, या (3) शीघ्र राजनीतिक परिणाम प्राप्त करने के उद्देश्य से जानबूझकर लोगों में कार्य करने हेतु भावनात्मक जोश उत्पन्न करने के लिए, या (4) किसी उपदेश शृंखला की भावना समझाने के लिए, तथा (5) किसी कारण (उद्देश्य) के प्रति अनुषक्ति अथवा निष्ठा दिखाने के लिए। जिन व्यक्तियों अथवा समुदायों में उपरोक्त प्रकार के तरीके काम में लेते हुए स्थिति निर्धारण होता है वहां उनके धर्म से भिन्न कोई विचार किसी वास्तविकता को समझने तथा उसका मूल्यांकन करने के लिए प्रामाणिक नहीं समझा जाता है। अर्थात् किसी व्यक्ति या समुदाय के धर्म की रचना तथा विचार ही उनके लिए स्थितियों तथा तथ्यों को समझने तथा उनका मूल्यांकन करने के लिए प्रामाणिक तथा तर्कसम्मत समझे जाते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि उनके अनुसार धर्म ही प्रासंगिक ज्ञान का एकमात्र स्रोत है।" यह स्पष्ट है कि जो राजनीतिक भाषण इस प्रकार के प्रसंगों के वैचारिक ढांचे (विचार संधार) पर आधारित हों उनके लिए ऐसे संचार माध्यमों (सूचना साधनों) का विकास किया जाता है जिनके द्वारा उन भाषणों में विश्वास करने वाले समूह में प्रत्येक शब्द अथवा चिन्ह (प्रतीक) का धार्मिक अर्थ होता है तथा वह समूह उस अर्थ को ग्रहण कर लेता है। अन्य लोग उस अर्थ से सामान्यतया अनभिज्ञ होते हैं। इसके साथ ही एक देश में जिसकी सामाजिक संरचना भारत के समान हो, वहां धार्मिक प्रतीकात्मकता (धार्मिक चिन्हों का प्रयोग) का उपयोग केवल सहधर्मियों के एक समूह के लिए ही निश्चित रूप से प्रासंगिक होता है। इस प्रकार की विमुखता के कारण जो राजनीतिक भाषण तैयार करते हैं, बोलते हैं, लिखते हैं और तदनुसार कार्य करते हैं उनके राष्ट्रवादी इरादों में धर्म-निरपेक्षता नहीं होती है। यही कारण है कि औपनिवेशिक भारत में जब कभी धार्मिक विचारों को प्रमुख रूप से राजनीतिक वार्तालाप के साथ जोड़ा गया तब इसका परिणाम हिन्दू अथवा मुस्लिम राष्ट्रीयता के रूप में निकला।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: i) नीचे दिये गये स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इस इकाई के अन्त में दिये गये आदर्श उत्तर के आधार पर करें।

1) मुस्लिम पृथकतावादी (अलगाववादी) चिन्तन की प्रमुख विशेषताओं का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

....
....
....
....
....
....
....
....

16.4 पुनर्जागरणवादी राष्ट्रवादी राजनीति

धर्म, संस्कृति और राजनीति पर दयानन्द, विवेकानन्द और सावरकर के विचारों ने भारत में पुनर्जागरणवादी राष्ट्रवादी राजनीति की नींव को उल्लेखनीय रूप से सुदृढ़ किया है।

16.4.1 दयानन्द सरस्वती

उन्नीसवीं शती के एकेश्वरवादी हिन्दू सुधारक दयानन्द सरस्वती का राष्ट्रवादी पुनर्जागरणवादी के रूप में महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है। दयानन्द वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने

विदेशी शासन को भारत की उस संस्कृति (भारत की सहज प्रवृति) पर आक्रमण के रूप में स्थापित किया है जिसे वैदिक धर्म और हिन्दू सामाजिक संगठन द्वारा परिभाषित किया गया है। दयानन्द का विश्वास था कि वैदिक धर्म में सर्वोच्च सत्य समाविष्ट है जिस पर हिन्दू लम्बे समय से टिके हुए हैं लेकिन अब दूर होते जा रहे हैं। उन्होंने अपने काल में व्यवहारित हिन्दू धर्म की प्रेरणात्मक मीमांसा की ओर वैदिककालीन समाज और राज्य व्यवस्था की ओर लौटने का समर्थन किया। यद्यपि कुछ लोगों ने उनके सर्वपीड़ाहारी (रामबाण) सुझावों को व्यावहारिक नहीं समझा तथापि अधिसंख्य हिन्दू उनके विदेशी शासन के प्रति विरोध और उनके उग्र सुधारवाद से अत्यधिक प्रभावित हुए। उनके इस उग्र सुधारवाद की विशेषताओं को आर्य समाज नामक संगठन प्रकट करता है। इस संगठन की स्थापना दयानन्द ने अपने विचारों को कार्यान्वित करने के लिए की थी।

16.4.2 स्वामी विवेकानन्द

भारत में उन्नीसवीं शती के आखिर में स्वामी विवेकानन्द एक वेदान्ती और "असाधारण योगी" हुए जिन्होंने आध्यात्मिक स्वतंत्रता के विचार पर विस्तार से लिखा और चर्चा की। उनके अनुसार आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का यह विचार धार्मिक प्रतिमानों से सहबद्ध हो गया था। तथा बाद में इससे स्वतन्त्रता का ह्रास हुआ तथा यह स्वतन्त्रता अधिकारों के रूप में समझी जाने लगी। अधिकारों का आधार भौतिक शक्ति होता है। विवेकानन्द उपदेश देते थे कि अधिकारों के सिद्धान्त (अधिकारवाद) के कारण ही भारत ने अपनी स्वतंत्रता खो दी है। भौतिकवादी संस्कृति और अधिकारों के सिद्धान्त के प्रभाव के अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्य की अपनी सामाजिकता घटती है और समाज की संरचना विशिष्ट भूमिकाओं के जटिल तन्त्र के रूप में हो जाती है। इस स्थिति ने भारत के स्वतंत्रता प्राप्ति के आवेग को कमजोर किया है। विवेकानन्द ने चेतावनी दी कि जब तक भारत में सांस्कृतिक क्रांति नहीं होगी तब तक स्वतंत्रता जो कि प्राचीन संस्कृति की विरासत का एक भाग थी, का वादा कभी पूरा नहीं होगा। इसके फलस्वरूप स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए विवेकानन्द का क्रान्ति का सन्देश अपनी सम्पूर्ण सुस्पष्टता के बावजूद राष्ट्रीयता के उस हिन्दू पुनर्जागरणवादी प्रवाह के अनुरूप हो गया। तथा इस प्रवाह को विवेकानन्द के सन्देश से बल मिला। जिसमें अपने राजनीतिक संदेश का प्रक्षेपण (संप्रेषण) धार्मिक-सांस्कृतिक प्रतीकवाद के माध्यम से किया गया।

16.4.3 वी. डी. सावरकर

दयानन्द की भांति सावरकर ने भी जाति, धर्म तथा राष्ट्रत्व पर जोर दिया। लेकिन सावरकर का निरूपण भिन्न एवं चुनौतीपूर्ण था। उनके अनुसार विभिन्न धर्मों के लोग जो एक ही भौगोलिक क्षेत्र के निवासी होने की भावना से अभिभूत हों (उदाहरण के लिए, उस क्षेत्र के रहने वाले जो कि भारत कहलाता है) वे समान रूप से जातिगत एवं धार्मिक लोकाचार में भी सहभागिता कर सकते हैं। इसे उन्होंने "हिन्दुत्व" की संज्ञा दी। उनके अनुसार इसी ने (हिन्दुत्व ने) भारत के राष्ट्रत्व को आधार प्रदान किया था। सावरकर की भारत के संदर्भ में मिली-जुली राष्ट्रत्व की धारणा के अन्तर्गत "हिन्दुत्व" के निर्माण में अतिधार्मिकता (धार्मिक सनक) की बजाय हिन्दू संस्कृति को अहम् भूमिका का निर्वहन करना था। अर्थात् सावरकर के मतानुसार हिन्दू धर्म की बजाय हिन्दू संस्कृति (भारत के सभी निवासियों की संस्कृति) भारत के राष्ट्रत्व का आधार थी। उनके द्वारा सर्व-इस्लामवाद का विरोध किये जाने तथा उनके हिन्दू संस्कृति को अत्यधिक महत्व देने वाले दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप धार्मिक अल्पसंख्यक नाराज हुए।

बो. प्रश्न 3

टिप्पणी: i) नीचे दिये गये स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर के आधार पर करें।

1) हिन्दू पुनर्जागरणवाद की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

....

....

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

16.5 हिन्दू-मुस्लिम समस्या के कतिपय आयाम

उपरोक्त तीनों विचारकों द्वारा हिन्दू पुनर्जागरण की दिशा में की गई संक्षिप्त शुरुआत से हिन्दू पुनर्जागरणवादी राष्ट्रवाद को समय-समय पर संरक्षण मिलता रहा। इससे यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या का एक आयाम अभिव्यक्ति (संप्रेषण अथवा संचार) भाषा था। (इसमें धार्मिक अथवा सांस्कृतिक प्रतीकों का प्रयोग भी सम्मिलित था) दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य यह है कि हिन्दू पुनर्जागरणवादी राष्ट्रवादी जो कुछ तथा जिस ढंग से कह रहे थे संभवतः मुस्लिम लोग उसे उचित ढंग से समझ नहीं पा रहे थे।

इस समस्या के द्वितीय आयाम पर पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में परोक्ष रूप से प्रकाश डाला है। नेहरूजी का कथन है कि कांग्रेस के अवर मध्यमवर्गीय (पेटी बुर्जुआ) नेतृत्व ने इस समस्या के ऐसे समाधान खोजे जो कि उसके स्वार्थों एवं दृष्टिकोण के अनुरूप थे। जो कुछ नेहरूजी ने कांग्रेस के नेतृत्व के संदर्भ में कहा है वैसा ही हाल मुस्लिम लीग के नेतृत्व का था। मुस्लिम लीग के नेतृत्व में समृद्ध भूस्वामी तथा मध्यम वर्ग के लोग सम्मिलित थे। मुस्लिम लीग का यह नेतृत्व अपने प्रतिपक्षी हिन्दू अवर मध्यमवर्गीय (पेटी बुर्जुआ) नेतृत्व से प्रतिस्पर्द्धा होने के कारण आंतकित था। यह कहा जाता है कि कांग्रेसी नेतृत्व की हिमालयी भूल यह थी कि कांग्रेस ने केवल मुस्लिम नेतृत्व से सम्पर्क स्थापित किया न कि सामान्य मुस्लिम जनता से। अर्थात् यदि कांग्रेस मुस्लिम नेतृत्व के चक्कर में न पड़कर मुस्लिम समुदाय के सामान्य नागरिकों से सीधे सम्पर्क स्थापित करती तब संभवतः हिन्दू-मुस्लिम समस्या का वह स्वरूप प्रकट नहीं होता जो कि देश के विभाजन के रूप में सामने आया।

हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धित एक अन्य तथ्य सन् 1920 ई. तथा इसके बाद के परिवर्तनों तथा घटनाओं का विश्लेषण करने से प्रकाश में आता है। सन् 1914 ई. से सन् 1922 ई. के मध्य हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध शीर्ष बिन्दु पर रहे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिवर्तनों तथा भारत में मूल्यवृद्धि तथा निरंतर अकालों के फलस्वरूप हिन्दू तथा मुस्लिम भावनायें समान रूप से उद्वेलित हुई। कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के मध्य सन् 1916 ई. का लखनऊ समझौता (लखनऊ पैक्ट) तथा सन् 1919-22 के दौरान हिन्दुओं तथा मुसलमानों की खिलाफत असहयोग आन्दोलन में संयुक्त रूप से सहभागिता एक वास्तविक प्रस्फोटन (भेदन तथा ब्रेक थ्रॉ) के रूप में प्रकट हुई। हालांकि इन सब परिस्थितियों का सिंहावलोकन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह विचारों का संयोगवश संयोजन था जिसके लिए कोई आधारभूत समझौता नहीं हुआ था।

गांधी जी द्वारा आंदोलन के स्थगन हेतु दिये गये निर्देशों के फलस्वरूप दोनों समुदायों में परस्पर विश्वास की कमी शीघ्र ही प्रकट हो गई। उस समय तुरन्त ही साम्प्रदायिक स्थिति में तीक्ष्ण ह्रास प्रारम्भ हो गया जो कि सन् 1928 तक चलता रहा। अर्थात् जो हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच सौहार्द का वातावरण था यह शीघ्र ही समाप्त हो गया तथा साम्प्रदायिक दंगे प्रारम्भ हो गये जो सन् 1928 तक चलते रहे। सन् 1927 में साइमन आयोग की घोषणा के पश्चात् भारतीयों में अनादृत किये जाने की भावना व्याप्त हुई। कारण कि साइमन आयोग में गोरे लोगों को ही सम्मिलित किया गया था। तथा यह भी महसूस किया गया कि इस आयोग द्वारा संवैधानिक सुधारों की दिशा में एक और झांसा दिया जाने वाला है। इसके साथ ही, संभवतः बारडोली प्रकरण के बाद की स्थिति में दोनों ही पक्षों की राजनीति असफल रही थी। अतः दोनों पक्षों ने राष्ट्रवादी मुसलमानों की तरफ से प्रस्तुत किये गये उन प्रस्तावों को प्रोत्साहन दिया जो कि दोनों समुदायों में उद्देश्य तथा प्रभाव की दृष्टि से अधिक व्यवहार्य एकता हेतु रखे गये थे। सर्वदलीय समिति (आल पार्टी कमेटी) की बैठक के दौरान हो रहे विचार-विमर्श में कांग्रेस के कई प्रतिनिधियों ने इन

प्रस्तावों पर आपत्ति की। फलस्वरूप ये प्रस्ताव पारित नहीं हुए। स्मरणीय है कि यह समिति ऐसा संविधान तैयार करने में लगी हुई थी जो कि सभी पक्षों को स्वीकार्य हो।

सन् 1930-32 के नागरिक अवज्ञा आंदोलनों (सिविल डिसआबिडियंस मोवेण्ट्स) में मुसलमानों की सहभागिता उतनी नहीं थी जितनी कि खिलाफत असहयोग आंदोलन में थी। सांप्रदायिक सौहार्द उत्पन्न करने वाली यदि कोई आशा शेष थी वह भी सन् 1931 ई. के गोलमेज सम्मेलन (जिसमें गांधीजी भी सम्मिलित हुए थे) के फलस्वरूप समाप्त हो गई थी। सम्मेलन में जो विचार-विमर्श हुआ वह गांधीजी तथा कांग्रेस के लिए उपयुक्त नहीं था। दोनों तरफ के रूढ़िवादियों तथा कट्टरपंथियों ने सरकारी प्रतिनिधियों के प्रोत्साहन के कारण द्वितीय गोलमेज सम्मेलन की कार्यवाही की बागडोर सभाल ली थी। पृथक निर्वाचक मंडल की व्यवस्था को नहीं रोका जा सका। कांग्रेस देश के उस राजनीतिक समुदाय को भी विखंडित होने से नहीं रोक पायी जिसकी कि राष्ट्रवादी आंदोलन तथा भविष्य के स्वतंत्र भारत को आवश्यकता थी। कांग्रेस, महात्मा गांधी तथा संभवतः पंडित नेहरू ने भी इन परिस्थितियों के आधार पर हिन्दू-मुस्लिम एकता की आशा छोड़ दी थी। कुछ समय तक मुस्लिम नेताओं से वार्तालाप करने की दिशा में गांधीजी तथा नेहरू जी की तरफ से कुछ-कुछ अप्रत्याशित अरुचि अथवा उत्साह की कमी प्रतीत हुई। सन् 1937 के प्रान्तीय विधान मंडलों के चुनावों के बाद संयुक्त प्रान्त (यू.पी.) में सांझा मंत्रीमण्डल बनाने के मुस्लिम लीग के अनुरोध को कांग्रेस ने स्वीकार नहीं किया। लगभग उसी समय कांग्रेस का वह प्रस्ताव जो कि मुस्लिम जन सामान्य से सम्पर्क स्थापित करने (मुस्लिम मास कान्टेक्ट रिजोल्यूशन) हेतु रखा गया था और इसे गांधीजी तथा नेहरूजी का भी महत्वपूर्ण समर्थन प्राप्त था, वह भी क्षीण पड़ गया क्योंकि इस प्रकार के प्रस्तावों के क्रियान्वयन के लिए जिस प्रकार के उत्साह की आवश्यकता थी वह उस समय नहीं रहा था। विभाजन की मांग सामने आने के तुरन्त बाद मुस्लिम लीग ने सन् 1940 ई. में एक औपचारिक प्रस्ताव पारित किया जिसके द्वारा देश के विभाजन की मांग की गई।

कांग्रेस ने प्रत्यक्ष रूप से यह आत्मसमर्पण क्यों किया? मुस्लिम लीग ने देश के विभाजन जैसी कठोर मांग क्यों रखी? इस असफलता के लिए बहुधा कांग्रेस को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उत्तरदायी ठहराया जाता है। ज्यादा संभावनायें इस बात की है कि दोनों ही तरफ से परस्पर विश्वास की कमी थी। इसे परिणामस्वरूप या तो नगण्य आपत्तियां की जाती थी अथवा अत्यधिक आश्वासनों (गारंटी) की मांगें सामने आती थी। कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग में से कोई भी लक्ष्य तथा क्रिया सम्बन्धी एकता स्थापित करने में सफल नहीं हुई।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) नीचे दिये गये स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर के आधार पर करें।

1) हिन्दू-मुस्लिम समस्या के विभिन्न आयामों का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

16.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में ब्रितानवी शासन के परिणामस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों में आधुनिक भारत में राजनीति तथा धर्म के परस्पर संबंधों से आपको अवगत कराने का प्रयास किया गया है। आपको पुनर्जागरणवादी हिन्दू राष्ट्रवाद तथा मुस्लिम सांप्रदायिकता के सम्बन्ध में भी जानकारी दी गई है। आशा की जाती है कि उपरोक्त विवेचन के आधार पर आपमें राजनीति तथा धर्म के मध्य विभिन्न सहबंद्धों को समझाने के लिए एक अन्त:दृष्टि पैदा होगी जो कि समकालीन भारत में घटित होने वाली घटनाओं को समझने में सहायक होगी।

16.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

पन्थम, थॉमस एण्ड डयूश कैनेथ एल: **पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इण्डिया**, सेज पब्लिकेशन्स, न्यू देहली, 1986।

डुन्गेन वान डेन पी.एच.एम.: **दि पंजाब ट्रेडिशन**, ऐलेन एण्ड उनविन, लण्डन, 1972।

राय, लाजपत लाला: **राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज़, वॉल.** 2, देहली, 1966।

सावरकर, वी.डी.: **हिन्दुत्व**, वीर सावरकर प्रकाशन, फिफ्थ एडी. 1969।

चन्द्रा, विपन: **नैशनलिज्म एण्ड कॉलानियलिज़्म इन मॉडर्न इण्डिया**, ओरियन्ट लांगमैन, न्यू देहली, 1979।

हसन, मुशीरूल: **नैशनलिज़्म एण्ड कम्यूनल पॉलीटिक्स इन इण्डिया**, मनोहर, न्यू देहली, 1979।

शाकिर मोइन: **सेकुलराइज़ेशन ऑन मुस्लिम बिहेवियर**, मिनर्वा एसोसिएट्स, कलकत्ता, 1973।

16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखिए अनुच्छेद 16.2 तथा उपखंड 16.2.2 एवं 16.2.4

बोध प्रश्न 2

1) देखिए अनुच्छेद 16.3 तथा उपखंड 16.3.1 एवं 16.3.2

बोध प्रश्न 3

1) देखिए अनुच्छेद 16.4 एवं उपखंड 16.4.1 एवं 16.4.3

बोध प्रश्न 4

1) देखिए अनुच्छेद 16.5

इकाई 17 स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द तथा वी.डी. सावरकर

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 स्वामी दयानंद सरस्वती
    17.2.1 जीवन-रेखा
    17.2.2 दयानंद के राजनीतिक विचार
    17.2.3 महिला समाज, शिक्षा और जनवाद
17.3 स्वामी विवेकानंद
    17.3.1 स्वतंत्रता का दर्शन एवं अवधारणा
    17.3.2 राष्ट्रवाद और राजनीति की अवधारणा
17.4 वी.डी. सावरकर
    17.4.1 जीवन-रेखा
    17.4.2 सावरकर के राजनीतिक विचार
17.5 सारांश
17.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
17.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई में राजनीति तथा धर्म एवं नीतिशास्त्र के अंतःसाध्य का विवेचन किया गया है; तीन अग्रणी हिंदू व्यक्तित्वों के विचारों को सामने रखते हुए, जिन्होंने राष्ट्रवाद एवं राजनीति की एक विशिष्ट हिन्दू अवधारणा के विकास में योगदान किया है। यह इकाई इसी अंतःसाध्य को सामने लाती है। इस इकाई के अध्ययन से आप:

- मध्य उन्नीसवीं सदी काल से हिंदू चिंताधारा के विकास को स्पष्ट कर सकेंगे।
- हिंदू राष्ट्रवादी विचारों के निरूपण के माध्यम से हिंदू समाज के पुनर्नवन प्रयासों की व्याख्या कर पायेंगे।
- उपरोक्त प्रयासों की विविध अंतःधाराओं का बोध कर सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अंतर्गत आप जिन तीन महत्वपूर्ण व्यक्तियों के राजनीतिक विचारों का अध्ययन करेंगे, वे धार्मिक शब्दावली में तीन भिन्न दृष्टिकोणों और विचार सारणियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दयानंद सरस्वती वेदों की परम सत्ता में उत्कृष्ट आस्था रखने वाले व्यक्ति थे। वैदिक हिंदू धर्म के पुनरुत्थान संबंधी उनके उद्‌गारों में बहुदेववाद और उससे जुड़े अनेक अर्थहीन कर्मकांडों के प्रति सहिष्णुता का अभाव मिलता है। दूसरी ओर, हिन्दू समाज को सुधारने और परिचय के निकृष्ट भौतिकवादी प्रभावों से इसको बचाने की कैसी ही उद्दाम आकांक्षा के बावजूद, विवेकानंद ने अपनी प्रेरणाएं मुख्यतः वेंदात दर्शन से प्राप्त की थीं। इसलिए वे बहुदेववाद और मूर्ति पूजा के विरुद्ध नहीं गए। इनसे भिन्न सावरकर अधिकाधिक खुले रूप में राजनीतिक चरित्र थे। वे हिंदू समाज के अंतर्गत एक निरीश्वरवादी थे। हिंदुत्व पर उनका ज़ोर मुख्यतः राष्ट्रवादी चेतना को उद्‌देश्य एवं दिशा देने के लिए था। इसीलिए उनका राष्ट्रवाद भी अधिकाधिक उग्र आक्रामक था।

फिर भी, उपरोक्त प्रत्यक्ष भिन्नताओं के बावजूद इन धाराओं में एक अंतर्निहित एकता मिलती है—धार्मिकता के आधार पर राष्ट्रवाद की अवधारणा का विकास। धर्म और राजनीति का यह अंत:साध्य ही भारतीय राष्ट्रवादियों के समूचा समुदाय सजोये हुए था—श्री अरबिंदो, अनेक "आतंकवादी" अर्थात् राष्ट्रवादी समूहों से लेकर बाल गंगाधर तिलक जैसे कांग्रेस नेताओं तक। दरअसल, यह अंत:साध्य महात्मा गांधी समेत अनेक कांग्रेस नेताओं में भी मिलता है। गांधी की रामराज्य संबंधी अवधारणा और उनके द्वारा हिंदू धार्मिक प्रतीकों का सतत प्रयोग हिंदुत्व पर आधारित राष्ट्रवाद की इस अवधारणा के प्रभाव को निरंतरता दिखाते हैं।

17.2 स्वामी दयानंद सरस्वती

17.2.1 जीवन-रेखा

दयानंद सरस्वती (1824-1883) काठियावाड़ (गुजरात) स्थित मौरवी के एक सामवेदी ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे। 21 वर्ष की आयु में वैवाहिक जीवन की बाध्यता से बचने के लिए वे घर से भाग निकले। 1845-1860 के बीच वे ज्ञान-संधान के लिए विभिन्न स्थानों पर भटकते रहे। 1860 में मथुरा के स्वामी विरजानंद सरस्वती के अधीन उन्होंने पाणिनि और पंतजलि का अध्ययन आरम्भ किया और 1864 से धर्मोपदेश में लग गये। 17 नवम्बर, 1869 को वे काशी में हिन्दू रुढ़िवादी नेताओं के साथ भीषण शास्त्रार्थ में उलझे। 10 अप्रैल, 1875 को बंबई में आर्य समाज की स्थापना हुई और 1877 में लाहौर में-इसके संविधान को अंतिम रूप दिया गया।

17.2.2 दयानंद के राजनीतिक विचार

स्वामी दयानंद सरस्वती उन प्रभावशाली चिंतकों में से एक थे जो अपने सामाजिक विचारों को सूत्रबद्ध करने के लिए पारंपरिक स्रोतों पर निर्भर करते थे। उनके सोच-विचार का मुख्य अभिप्राय यह था कि भारतवासियों के लिए "वैदिक विचारों की ओर प्रत्यावर्त्तन आवश्यक है।" जब दयानंद अपने विचार एवं चिंतन को सूत्रबद्ध कर रहे थे, हिंदू धर्म पतनशीलता का शिकार बन चुका था। वह ऐसा युग था जब ब्रिटिश शासन स्वयं को भारत में सुदृढ़ बना रहा था। इसलिए उनका आधारभूत प्रयास था वैदिक पुनरुत्थान, हेतुवाद और पर्याप्त रूप से समकालीन महत्व के सामाजिक सुधार के तीन लक्ष्यों की प्राप्ति। वे पश्चिमी विश्व और इस्लाम के गंभीर आलोचक थे। पाश्चात्य विचारों और रुझानो के माध्यम से आधुनिकीकरण के पक्षधर व्यक्तियों के भी उतने ही कटु आलोचक थे। दयानंद के अनुसार, भारत के सामने उपस्थित समस्याएं और उनके समाधान दर्शन, राजनीति और समाज के स्तरों पर थे। उनके विचार में, भारतीय जनमानस में आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास की चेतना भरना आवश्यक था।

पहले हम उनके चिंतन के केंद्रीय भाग पर विचार करेंगे। उनके चिंतन के केंद्र में वेदों की ओर उनका रुझान आता है, जिसे वे समस्त मानवीय ज्ञान और मनीषा का कोष मानते थे। उन्होंने वेदों के निम्नांकित पहलुओं पर प्रकाश डाला।

1) दैवी विधान के प्रति आज्ञाकारिता से व्यक्ति सीधे ईश्वर से संवाद कर सकता है। वह अन्य विधानों के अनुपालन के लिए भी स्वतंत्र है, जहां तक कि वे दैवी विधान से संगति में हैं। दयानंद का सोचना था कि व्यक्ति अपने शुद्ध स्वत्व की प्राप्ति कर सकता है, इस विषय पर अपने दृष्टिकोण की परीक्षा और समीक्षा के माध्यम से। इसके बाद ही वह त्रुटियों के बोध में, और इस प्रकार ऐसे कालगत विधानों से अपने को अलग करने में जो अनुपालन के योग्य नहीं हैं, और उन विधानों के विपरीत संगठित होने में समर्थ हो सकता है।

2) कोई व्यक्ति उसी सीमा तक स्वतंत्रता का उपभोग कर सकता है, जहां तक कि उसके अनुगामी स्वतंत्र हैं।

3) वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतर्गत सभी व्यक्तियों के लिए पूर्ण स्वतंत्रता के उपभोग का

प्रावधान है, सामाजिक संरचना में उनकी प्रकार्य स्थितियों से निरपेक्ष रूप में।

दयानंद के अनुसार, भारत अपनी विगत गरिमा वर्तमान सामाजिक कमजोरियों पर विजय से ही प्राप्त कर सकता है। उन्होंने इस बात पर खेद व्यक्त किया कि भारतीय संस्कृति की समृद्ध विरासत के बावजूद हिंदू पाश्चात्य सभ्यता की नकल कर रहे हैं, जो उन्हें पतन की ओर ले जा रही है। अपने विचार को उचित ठहराने के लिए उन्होंने बल दिया कि वैदिक काल में भारत सभ्यता का ऐसा स्तर प्राप्त कर चुका था जो पश्चिम के लिए सदियों बाद ही संभव हुआ।

उन्होंने सुझाया कि जो लोग इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रभावों के अधीन धर्म परिवर्तन कर चुके हैं, उन्हें हिंदू धर्म की परिधि में वापस लिया जाना चाहिए। उनके अनुसार, शुद्धीकरण के माध्यम से यह संभव है और यह एकीकरण इसीलिए भी आवश्यक है कि वेदों की स्वीकृति के लिए उन्हें प्रेरित करके देश के लिए सशक्त और आत्मनिर्भर आधार बनाया जा सकेगा। सांस्कृतिक समरूपता को पुष्ट करने के लिए उन्होंने हिंदी को प्रोत्साहित किया। जब उपरोक्त एकीकरण उपलब्ध किया जा सकेगा और उसे हिंदी भाषा के सार्व संबंधों से पुष्ट किया जायेगा, तभी भारत विदेशी शासन का जुआ उतार फेंकने में समर्थ होगा।

राष्ट्रीय प्रगति के लिये एक सबसे बड़ा अवरोध हिंदू समाज के अंदर से ही उभरा। उच्च जातीय हिंदुओं के एक तबके ने वर्ण-व्यवस्था में अपने अनुकूल परिवर्तन किए। इसके फलस्वरूप योग्यता के स्थान पर जन्म संबंध की प्रतिष्ठा हुई जिसने असमानता और उच्च स्तर जाति के सामने निम्नतर पेशेवर समूहों (जातियों) की अधीनस्थता को बल मिला। ब्राह्मण किसी भी प्रकार की चुनौती अथवा प्रश्नों से परे समाज के खामियों से ऊपर की स्थिति में आ गये और शूद्र दयनीय स्थिति में ठेल दिए गए। हिंदू समाज मूर्ति पूजा, जातिवाद, बाल विवाह और बहुदेववाद के आपत्तिकृत विविध कर्मकांडों, समारोहों, अंधविश्वासों और जड़ सूत्रवाद की चपेट में आ गया। जड़ताग्रस्त समाज के अंतर्गत व्यक्ति आध्यात्मिकता से अलग-थलग जा पड़े। इसलिए ईश्वर के साथ उनका संवाद संभव नहीं रह गया। सबको दयानंद उपनिषदोत्तर काल में आया भ्रष्टाचार मानते थे।

इसलिए दयानंद ने वर्ण-व्यवस्था के सिद्धांतों की ओर लौटने की अभिशंसा की, जिसके अंतर्गत जातीय पद स्तर की कसौटी जन्म मात्र नहीं होता, बल्कि जाति का आधार गुण, कर्म और स्वभाव होगा। उनके विचारानुसार इस सुधरे रूप में जात सामाजिक पुनर्गठन का पथ प्रशस्त कर सकती है। इस प्रकार जाति की उनकी अवधारणा सेक्यूलर प्रभावों के अंतर्गत थी। स्वभावतः इसने वंशानुगत उच्चतर जातियों के प्रभुत्व को व्यापक चुनौती दी और उत्पीड़ित एवं अश्पृश्य समूहों के स्तर को उठाया। उन्होंने अस्पृश्यता को अमानवीय और वैदिक धर्म के विपरीत बताते हुए उनकी भर्त्सना की। उनकी व्यवस्था के अनुसार कोई भी शूद्र स्वच्छता, चरित्र निर्माण और परिवेश सुधार के माध्यम से द्विज की संज्ञा प्राप्त कर सकता है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर का अंत में दिये गये उत्तर से मिलान करें।

1) संक्षेप में दयानंद के राजनीतिक विचारों की चर्चा करें।

....

....

....

....

17.2.3 महिला समाज, शिक्षा और जनवाद

महिला समस्याओं के संदर्भ में, दयानंद बाल विवाह और वैधव्य बाध्यता की कुप्रथाओं के विरुद्ध थे, जो उनके अनुसार वेद सम्मत नहीं थी। पुनर्विवाह की वर्जना वाले हिंदू समाज के अंतर्गत बाल-विधवाओं की दयनीय स्थिति को लेकर उन्हें गहरी चिंता थी। इसीलिए

उन्होंने "नियोग" (विधुरों और विधवाओं के अस्थायी सह-जीवन) और बाद में विधवा-पुनर्विवाह का प्रस्ताव किया।

आर्यावर्त (भारत) के सम्व शांति के उद्देश्य से दयानंद ने अपने विश्व दृष्टिकोण में शिक्षा को केंद्रीय स्थान दिया। ैतिकता एवं धार्मिकता पर आधारित और सभी स्त्री-पुरुष के लिए अभियोजित शिक्षा ही दयानंद चाहते थे। इस शिक्षा का भार उनके अनुसार, सम्राट/राज्य को उठाना चाहिए। भारत का पुनर्जागरण इसी पर निर्भर करता है। वे ऐसी शिक्षा व्यवस्था के पक्षधर थे जिसमें व्याकरण, दर्शन, वेद, विज्ञान, चिकित्सा, संगीत और कला के अध्ययन पर जोर दिया जाता है।

दयानंद सरस्वती के राजनीतिक दर्शन की दो केंद्रीय और कुछ-कुछ परस्पर विरोधी अवधारणाएं हैं।

"प्रबुद्ध राजतंत्र" संबंधी अवधारणा मनुस्मृति से ली गई है, जो धर्मानुदेशों के अनुपालन पर आधारित है। इसी कुछ-कुछ अंतर्विरोधी अवधारणा निर्वाचित प्रतिनिधित्व अथवा जनवाद की है, यद्यपि दयानंद के विचार से यह सचमुच कोई अंतर्विरोध नहीं है क्योंकि वेदों में भी सभाओं तथा सम्राटों के निर्वाचन का उल्लेख मिलता है। निर्वाचन सिद्धांत पर बल देते हुए वे सम्राट की व्याख्या स्थाई अध्यक्ष के रूप में करते हैं। इसके अलावा, उनके विचार से राजनीति को नैतिकता से अलग नहीं किया जा सकता और इसीलिए उन्होंने "आध्यात्मिक नेतृत्व द्वारा राजनीतिक नेतृत्व" के निर्देश के पक्ष में सशक्त तर्क दिए।

दयानंद ने अपने जनतांत्रिक निर्वाचन सिद्धांतों का अनुप्रयोग आर्य समाज के प्रकार्यों तथा सांगठनिक ढांचे में भी किया। वे एक ऐसे राजनीतिक समुच्चय की परिकल्पना करते थे जिसका एक विकेंद्रित स्वरूप हो, एक व्यापक "कामन वेल्थ" जिसकी इकाई गांव हो।

1875 में स्थापित आर्य समाज ने विशेषकर उत्तर भारत में, स्वतंत्रता सेनानियों की एक समूची पीढ़ी का निर्माण किया। इसके दस महत्वपूर्ण सिद्धांतों में से कुछ निम्नलिखित हैं:

1) ईश्वर ही शुद्ध ज्ञान का स्रोत है।
2) सच्चे ज्ञान के संरक्षक के रूप में वेदों तथा आर्य समाज के अनुयायियों के बीच संबंध अटूट हैं। उन्हें वेदों की अंतर्वस्तु को अपनाना और जन समुदाय में प्रचारित करना चाहिए।
3) किसी भी कार्य को नीतिगत औचित्य अनिवार्य है।
4) आर्य समाज सभी दृष्टियों से विश्व मुक्ति के विचार को समर्पित है।
5) ज्ञान की रश्मियां अज्ञान के अंधकार को दूर कर सकती हैं।
6) व्यक्ति को दूसरों के लिए भी पर्याप्त साधन छोड़ने चाहिए। उनका कल्याण सहकर्मियों के सामूहिक विश्वास से जोड़कर देखा जा सकता है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये उत्तर से मिलाएं।

1) संक्षेप में कुछ उन सिद्धांतों का उल्लेख करें जिन पर कि आर्य समाज की स्थापना हुई।

....

....

....

....

....

17.3 स्वामी विवेकानंद

17.3.1 स्वतंत्रता का दर्शन एवं अवधारणा

स्वामी विवेकानन्द उन्नीसवीं सदी भारत के एक सर्वाधिक प्रभावशाली धार्मिक चिंतक थे। उनकी रचनाओं में मूलतः मानव स्वातंत्र्य, उसकी प्रकृति, मानदंड, व्यापकता तथा स्वतंत्रता की समतुल्यता के विचार का विवेचन किया गया है।

विवेकानंद के अनुसार विश्व इसके सृजनकर्ता ब्रह्म की मायवी अभिव्यक्ति है। माया के अंतर्गत ज्ञान, सृजनात्मकता, और अंतश्वेतन आकांक्षाओं का सन्निवेश है, जो वस्तुतः सृजनकर्ता की ही दृश्य छपियां हैं। ब्रह्मा को विश्व के संयोजन का व्यापक सामर्थ्य प्राप्त है और उनका प्रभाव उनके सृजन के बीच अंतर पदार्थिक भौतिक स्वरूपों में प्राप्त सीमित गुणों में देखा जा सकता है। यह उल्लेख सम मानव जाति के संदर्भ में है जो चीज़ मनुष्य को सृष्टिकर्ता से अलग करती है, वह है उसमें सन्निहित गुण। मनुष्य में तीनों गुणों का विकास समान गति से कभी नहीं होता और न समान स्तर प्राप्त करता है। प्रत्येक व्यक्ति में गुणों के असमान विकास का भिन्न-भिन्न संयोजन मिलता है। इसके विपरीत ब्रह्मा में यह संबंध इतने पूर्ण रूप से मिलता है कि ज्ञान, सृजनात्मकता एवं अंतश्वचेतन आकांक्षा के तीन गुणों तथा इन गुणों के परे की स्थिति में कोई अंतर नहीं देखा जा सकता। अपने प्रमुख गुण के साथ प्रत्येक व्यक्ति एक व्यापकतर इकाई का, अर्थात् ब्रह्मा के रूप में सर्वव्यापी समग्रता का अंत बनता है। इसलिए, व्यक्ति के लक्ष्य को अपनी सच्ची अभिव्यक्ति ब्रह्मास्वरूप समग्र मानव जाति में ही मिल सकती है। विवेकानंद ने शक्ति द्वारा ब्रह्मत्व की सिद्धि को मोक्ष की स्थिति बनाया।

विवेकानंद के अनुसार, व्यक्ति स्वतंत्र अवश्य हुआ है लेकिन जीवन स्थितियों ने उसकी स्वाभाविक स्वतंत्रता को अवरुद्ध करके उसे एक अलग-थलग कटा हुआ व्यक्तित्व बना दिया है जो अपनी ही इच्छाओं और उद्देश्यों की अबाधित साधना में लगा है। इससे देर-सवेर वह अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता के मार्ग में आ जायेगा और फलस्वरूप वे सभी एक-दूसरे को खारिज कर देंगे। सृजनात्मक क्षमताओं के विकास के लिए व्यक्तिनिष्ठ गुण जिस प्रकार आवश्यक है, उसी प्रकार व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति, उसके आध्यात्मिक स्वरूप का प्रस्फुटन भी आवश्यक है। विवेकानंद व्यक्तित्व एवं सामाजिक दोनों की ही एक साथ सिद्धि संभव मानते थे। यदि मनुष्य का व्यक्तित्व उसकी अंतर्भूत सामाजिकता से बाधित होता है, तब इसकी परिणति उसी तरह के व्यक्तियों द्वारा प्रतिरोध में होती है।

चूंकि, स्वतंत्रता मनुष्य मात्र का सहज गुण है, स्वतंत्रता की सीमा भी इसकी स्वतः पूर्णता बनाए रखने के लिए सहज होनी चाहिए। स्वतंत्रता की ऐसी परिसीमाएं धर्म से आनी चाहिए, क्योंकि धर्म ही व्यक्ति में वैयक्तिता सामाजिकता के बीच सम्यक् संबंध बनाए रख सकता है और उसे आध्यात्मिक चेतना के समुचित उच्च स्तर तक ले जा सकता है। विवेकानंद का अनुभव था कि कुछेक परिस्थितियां मनुष्य को इस प्रकार कार्य करने के लिए बाध्य करती हैं, जो अन्यों की स्वतंत्रता कम करने के साथ-साथ स्वयं उसकी इच्छा के विरुद्ध जाता है। सच्ची स्वतत्रता की प्राप्ति के लिए यह सहायक नहीं हो सकता। इसलिए मनुष्य की स्वतंत्रता के परिसीमन का उद्देश्य परिष्कार होना चाहिए, दमन नहीं। विवेकानंद ने परिष्कार को धार्मिक स्वतंत्रता के समतुल्य माना, इससे ही स्वतः स्फूर्त स्वतंत्रता के उपभोग की सहज संभावना बनती है। धार्मिक आस्था किसी सटीक सूत्रीकरण का उल्लंघन करती है और कभी-कभी कुछ समय के लिए "सत्व" को पृष्ठभूमि में छोड़ते हुए "रजोगुण" से तत्कालीन भारत में विद्यमान भौतिक जीवन दशाओं को प्रधानता देती है। स्वतंत्र रूप में अपने लक्ष्यों की सिद्धि की प्राप्ति और अन्य शक्तियों की स्वतंत्रता की मान्यता इस बात की पुष्टि करते हैं कि मनुष्य सारतः सामाजिक प्राणी हैं और इसलिए सामुदायिकता को ही वरीयता देगा। विवेकानंद कुछ उदाहरणों से अपने विचारों को स्पष्ट करते हैं। वे भारत में प्राकृतिक समुदायों के विकास को "वर्ण" व्यवस्था का परिणाम मानते हैं, जिसके अंतर्गत "ब्राह्मणों" और क्षत्रियों को रज (सृजनात्मकता) श्रेणी में रखा गया था और वैश्यों और शूद्रों को तम (अंतराकांक्षा/वासना) श्रेणी में। वैसे श्रेणी विभाजन का हमें प्राचीन ग्रीस में उल्लेख मिलता है। प्लेटो द्वारा तीन गुणों— तर्कना, साहस और क्षधा के विवेचन में।

विवेकानंद ने यह बात भी सामने रखी कि भारत में जहां सामाजिक जीवन व्यक्ति की भूमिका विशेष पर बल देता था, वहीं पश्चिमी समाज व्यापकता अथवा समग्रता पर। इसलिए भारत में राजनीति पूर्व युग के अवसान के साथ ही व्यक्ति की भूमिका कम होने लगी, जबकि पश्चिमी समाज में व्यक्ति सुदीर्घ काल तक केन्द्रीय मंच पर बना रहा। इस तथ्य ने स्वाभाविकतः पश्चिमी समाज को स्वतंत्रता, समानता इत्यादि उदारवादी सिद्धांतों के प्रति संवेदनशील बनाए रखा।

भौतिक परिस्थितियों से निर्धारित विश्व में स्वतंत्रता एक अधिकार बन चुकी थी, स्वतंत्रता मात्र कल्पना नहीं थी। विवेकानंद के विचारानुसार स्वतंत्रता का संबंध सहज राजनीति पूर्व मनुष्य से है। राजनीतिक व्यवस्था की रचना के साथ ही स्वतंत्रता का पतन एक अधिकार की स्थिति तक हो गया। मनुष्य अपने अधिकारों के लिए संघर्षशील था, न कि सच्ची स्वतंत्रता के लिए जो एक स्वतः स्फूर्ति और सार्वभौम प्रक्रिया थी।

शुद्ध रूप	भ्रष्ट रूप
1. वर्णाश्रम (योग्यता के आधार पर स्वच्छंद गतिशीलता)	वंशानुगत, श्रेणी शुद्ध जाति व्यवस्था में रूपांतरण (जाति-स्तर और अंतर्जातिक गतिशीलता पर जन्म आधारित प्रतिबंध)
2. सच्चह स्वतंत्रता	अधिकारों के लिए संघर्ष के स्तर तक पतन।
3. सामाजिक मनुष्य	सत्ता, संरक्षण और वर्चस्व के लिए संघर्ष ही चारित्रिक विशेषताएं बनती हैं। शुद्रों की दशा में गिरावट।

इस प्रकार, अधिकारों के लिए ही आत्यांतिक सरोकार (अधिकारवाद) के कारण ही भारत अपनी वर्तमान दुयवस्था तक पहुंचा है। विवेकानंद के अनुसार अधिकारवाद तक (अंतराकांक्षा/वासना) का पर्याय बन चुका है, क्योंकि विशेषाधिकार वर्ग से संबंध होने के बावजूद व्यक्ति अपने आध्यात्मिक खोखलेपन के कारण विशेषाधिकार बनाए नहीं रख सकता था। इसलिए व्यक्ति के उच्चतर अथवा निम्नतर स्तर से संबंधों में कोई अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि वे सभी अपनी भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति में ही लगे हैं। श्रेणी क्रमबद्ध जाति व्यवस्था द्वारा व्यक्ति की भूमिका रूढ़ बना दिये जाने के कारण भारतीय सभ्यता भी अमानवीय हो चुकी थी। इसलिए एक प्रकार की सांस्कृतिक क्रांति ही भारत को उसके विगत वैभव की स्थिति में ला सकती थी। विवेकानंद ने यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया कि ब्रिटिश तथा उनके पूर्व के विदेशी विजेता भारत पर अपना प्रभुत्व बनाये रख पाते थे, इसलिए कि भारत अधिकारवाद के शिकंजे में फंसा था। विवेकानंद ने बताया कि कोई ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था भारत को पुनः स्वतंत्रता की स्थिति में नहीं लायेगी, क्योंकि यह उनके वश के बाहर है। फिर भी उन्होंने भारतीय जनगण, विशेषकर युवकों का आह्वान किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधीन राष्ट्रवादी संघर्ष में भाग लेने के लिए, इस आशा के साथ कि "सुप्तावस्था" में पड़ा देश हर दृष्टि से जागरूक बनेगा और संभवतः भारत को अधिकारवाद के चुंगल से मुक्त करेगा।

विवेकानंद ने भारत की वर्तमान स्थिति के लिए महत्वपूर्ण कारक प्रभुत्वशाली जाति व्यवस्था को ही बताया। इससे मुक्ति का माध्यम सच्ची धार्मिकता की ओर वापसी ही है और स्वतंत्रता की दिशा में पहला कदम। गौरव एवं सम्मान की पुनःप्राप्ति के माध्यम से ही दीनहीनों को उद्धार संभव है (रामकृष्ण मिशन/मठ)। उन्होंने [illegible] से दरिद्रनारायण की चर्चा की। उनके उत्थान के लिए सेवाकार्य से ही प्रवंचितों को सभ्यता के स्तर पर लाया जायेगा। यह सत्व की परिधि में आने वाले सभी व्यक्तियों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण आकांक्षा बन जायेगी, क्योंकि अन्य व्यक्तियों के लिये सच्चा सरोकार सत्यनिष्ठा से ही फलीभूत होगा। विवेकानंद समानता के समर्थक के रूप में सामने आते हैं क्योंकि समानता ही स्वतंत्रता की चेतना वापस ला सकती है। उन्होंने भौतिक एवं आध्यात्मिक साम्यवाद के अंतर को भी स्पष्ट किया। भौतिक साम्यवाद का आधारभूत उद्देश्य था भौतिक संपदा का समान वितरण। विवेकानंद को जो बात इसमें अच्छी लगी, वह थी समानता से इसका अतिशय लगाव। फिर भी, वैसी व्यवस्था के अंतर्गत मनुष्य को पदार्थ संयोजित के रूप में ही देखा जाता था। विवेकानंद आध्यात्मिक साम्यवाद के पक्षधर थे। इसकी आधारभूमि

बनता था, राजनीति पूर्व साम्यवाद जिसमें स्वतंत्रता और समानता का पूर्ण सामंजस्य होगा। इस प्रकार साम्यवादी समाज मानव सभ्यता के दोनों ही छोरों पर उपस्थित मिलता। समाज का आरंभ एक जैसे व्यक्तियों के निकाय के रूप में होता है। अस्थिरता, असंतुलन और आलोहन की स्थितियों से गुजरते हुए अंततः वह फिर समान व्यक्तियों के समुदाय का रूप लेता है। स्वतंत्रता पहले का अर्थ भाग बनती है, जबकि दूसरे में वह अनुपस्थित मिलती है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलान करें।

1) विवेकानंद के स्वतंत्रता पर विचारों की तार्किक समीक्षा कीजिये।

....
....
....
....

17.3.2 राष्ट्रवाद और राजनीति की अवधारणा

विवेकानंद ने धार्मिकता पर आधारित राष्ट्रवाद के सिद्धांत का निरूपण और विकास किया। उनके अनुसार, संगीत की ही भांति प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में एक "मुख्य सुर" एक केंद्रीय विषय होता है, जिसकी तुलना में अन्य कुछ भी गौण सिद्ध होता है। भारत की विषयवस्तु की पहचान उन्होंने धर्म के रूप में रखी और उसे राष्ट्रीय जीवन की रीढ़ बनाने के आधार पर रखा जा सकता था। धर्म समकेन एवं सुस्थिरता की सृजनात्मक शक्ति रह चुका था और राजनीतिक प्राधिकार के क्षीण होने पर उसके पुनर्लाभ एवं सरवतीकरण में भी धर्म सहायक बना था। इस प्रकार उन्होंने धार्मिक आदर्श के आधार पर राष्ट्रीय जीवन के संगठन का समर्थन किया। लेकिन उनकी अवधारणा के अंतर्गत धर्म अमानुषिक रीति-रिवाज़ों अथवा रूढ़ियों और कर्मकांडों का समुच्चय मान नहीं था। बल्कि धर्म अपने वास्तविक अर्थ में किन्हीं शाश्वत सिद्धांत/मूल्यों का साक्षात्करण था।

इस प्रकार के राष्ट्रवाद सिद्धांत के आधार पर विवेकानंद ने राष्ट्रवाद तथा राजनीति एवं सत्ता के संबंधों के बारे में अपनी अवधारणा का विकास किया। विवेकानंद की इस अवधारणा की बहुत कुछ समरूपता परिश्रम के अराजकतावादी चिंतन से है, जो किसी भी प्रकार की राजनीति अथवा सत्ता को संदिग्ध मानता था। उनकी अवधारणा में, भारत की राजनीति एवं सत्ता संबंध पाश्चात्य प्रभावों से जुड़े थे। उनके मतानुसार, भारत से परिचित प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का बोध होना चाहिए कि "राजनीति, सत्ता और बौद्धिकता की गौण भूमिका है।" भारत में धर्म ही प्रमुख विचारणीय विषय है।" इसलिए उन्होंने संसद जैसी पाश्चात्य संस्थाओं का मखौल बनाया, उनका उल्लेख गुल-गपाड़े, दलगत राजनीति, पतनशील उन्माद एवं संकीर्णतावाद जैसे विशेषणों के साथ किया। राजनीतिक सत्ता से अति-संलग्नता, विशिष्ट रूप से पाश्चात्य राष्ट्रवाद, राजनीति और सत्ता संबंधों की ऐसी अवधारणा के ही अनुरूप था, विवेकानंद का व्यक्तिगत नैतिकता एवं सामाजिक परिवर्तन पर जोर। उनका पूर्ण विश्वास था कि राष्ट्रीय गौरव इसके नागरिकों को अंतर्निहित श्रेष्ठता, सुंदरता के कारण होता है, इसलिए नहीं कि राज्यसत्ता ऐसा चाहते हुए संबंधित उद्देश्यों से कोई कानून लागू करती है। इस प्रसंग में भी धर्म का अधिकाधिक महत्व सामने आता है क्योंकि वही जनगण के व्यक्तित्व एवं आचरण को ढालता है—उन्हें सुंदर और महान बनाता है। उनके विचारों के अनुसार, हिंदुत्व की आध्यात्मिक परंपरा, जाति व्यवस्था, सम्राटों और विदेशियों के जघन्य आतंक में प्रत्यक्ष होने वाले विधि-सम्मत उत्पीड़न के प्रतिरोध की मांग करती हैं।

इसलिए यह कोई अतिश्योक्ति नहीं कि विवेकानंद ने भारत में राजनीति के सिद्धांत एवं व्यवहार को इस निर्णायक ढंग से प्रभावित किया।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में उत्तर से मिलान करें।

1) राष्ट्रवाद से विवेकानंद का क्या तात्पर्य था?

....

....

....

....

17.4 वी.डी. सावरकर

17.4.1 जीवन-रेखा

वी.डी. सावरकर (मई, 1883 फरवरी, 1966)

एक उत्कृष्ट राष्ट्रवादी और क्रांतिकारी आतंकवादी नायक सावरकर बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों में अपने साहसिक राजनीतिक कार्यों से प्रकाश में आए। 1906-1910 के बीच उन्होंने इंग्लैंड में शिक्षा ली और साथ ही, क्रांतिकारी क्रियाकलाप चलाया। इंग्लैंड में ही मादाम कामा, लाला हरदयाल और मदनलाल धींगरा जैसे अन्य क्रांतिकारियों के संपर्क में आए। उन्हें पचास वर्षों के कारावास का दंड मिला। जिसके अनेक वर्ष उन्होंने अंडमान में बिताए। 1923 में उन्हें रतनगिरि लाया गया। 1937 में मुक्त होने पर उन्होंने डेमोक्रेटिक स्वराज पार्टी और बाद में हिंदू महासभा की सदस्यता ली।

17.4.2 सावरकर के राजनीतिक विचार

सावरकर का राजनीतिक दर्शन भारत के राष्ट्रीय स्वरूप पर केंद्रित था। भारतीय राष्ट्रवाद की भौगोलिक अभिव्यक्ति इसके सांस्कृतिक पहलुओं के सामंजस्य में रही है। उनका प्रबल तर्क था कि अधिसंख्यक हिंदुओं द्वारा अनुशरित धार्मिक व्यवस्था के रूप में हिंदुत्व की व्याख्या के विपरीत, यह हिंदुत्व अथवा जनमानस और चेतना में व्याप्त हिंदुत्व ही है जो भारत की राष्ट्रीयता के केंद्र भाग में स्थित है। इस प्रकार की अवधारणा में हिंदुत्व के अंतर्गत इस देश के अनेकानेक स्थानीय धर्म और भौगोलिक रूप से निकट देशों के जनसमुदाय भी आ जाते हैं। अपने विचार बिंदु पर बल देते हुए सावरकर ने लिखा था..... लाखों की संख्या वाले सिख, जैन, लिंगामत, अनेक समाजी और अन्य समुदाय इस कथन पर गहरा रोष व्यक्त करेंगे कि वे—जिनके पूर्वजों की दसवीं पीढ़ी तक में हिंदुओं का रक्त संचारित हो रहा था—अब अचानक हिंदू नहीं रह गये हैं। अनेक रंगतों और मतमतांतर कला हिंदू धर्म जीवंत हैं और विकास कर रहे हैं और हिंदू संस्कृति के परिवेश में अपना अस्तित्व संजोए हुए हैं। हिंदुओं के लिए धर्म की पहचान इतनी पूर्णता के साथ देश से जुड़ी हैं कि यह देश उनके लिए न केवल पितृ भू बल्कि पुण्य भू भी है।

फिर वे इस बात पर बल देते हैं कि हिंदुस्तान में जन्में और पले होने के कारण इस देश के लिये उनकी समर्पण तथा उत्सर्ग भावना असीम थी। इसलिए, राष्ट्रवाद की समतुल्यता हिंदू अधिसंख्यक होने के कारण हिंदू ही राष्ट्र का स्वरूप निर्धारण करेंगे। ईसाई, मुसलमान, सिख, जैन आदि अल्पसंख्यकों को हिंदुत्व के विकास को बढ़ावा देने के लिये बहुसंख्यक हिंदुओं से स्वतंत्र सहयोग करना चाहिए और स्वयं को राष्ट्र के साभाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में निमज्जित कर लेना चाहिए। हिंदू राष्ट्र की स्पष्ट पहचान को निरूपित करते हुए सावरकर ने चेतावनी दी कि क्षुद्र लाभों के लिए धर्म परिवर्तन करने वालों को इस पवित्र भूमि पर कोई स्थान नहीं मिलेगा। एक अन्य प्रसंग में उन्होंने राष्ट्रीय लक्ष्य में मुसलमानों तथा ईसाइयों की समान रूप से भागीदारी मानने से इंकार किया। राजनीतिक सत्ता में इसलिए वे ही साझेदार हो सकते हैं, जिनकी भावनाएं इस भूमि में मूल हैं और जो इस देश को अपनी पुण्य भूमि मानते हैं (जैन, सिख, लिंगायत, समाजी

इत्यादि)। जहां तक कि नागरिक एवं राजनीतिक जीवन स्तर पर तथा सार्वजनिक नियुक्तियों के मामले में सानुपातिक प्रतिनिधित्व पर बल दिया जाता है, हिंदू एक एकीकृत भारत के निर्माण की प्रक्रिया में अल्पसंख्यकों का सहयोग स्वीकार करने को तैयार होंगे। लेकिन वे समानता, विशेष बर्ताव तथा समान रूप से सत्ता में साझेदारी की मांग को स्वीकार नहीं करेंगे, यद्यपि योग्यता के आधार पर समान अधिकार, प्रतिनिधित्व और न्यायसंगत प्रतियोगी अवसर बने रहेंगे।

तात्कालीन भारत में उभरती राजनीतिक स्थितियों की आवश्यकता, कांग्रेस की समझौतापरस्त नीतियों और वृहत्तर इस्लामवाद के वर्चस्व को देखते हुए, सावरकर ने कुछ विशेष कदम सुझाए:

1) नेतृत्व संघर्ष में नेतृत्व हथियाकर बाहरी हस्तक्षेप के विरुद्ध हिंदू समुदाय को सुसंगठित करने के लिये उन्होंने विस्तार से, मुगल शासकों को नियंत्रण में रखने संबंधी प्रयासों के लिये शिवाजी के गुणों और बुद्धिमता की प्रशंसा की।
2) पूर्ववर्ती हिंदुओं को पुनः हिंदू धर्म को परिधि में लाने के लिए शुद्धीकरण की प्रक्रिया पर बल दिया। उनके विचार से यह गैर-हिंदुओं में कट्टरपंथियों को अलग-थलग कर देगा। बहुसंख्यक हिंदू समुदाय द्वारा उठाये गये ऐसे कदम भारत की संश्लिष्ट राष्ट्रीय संकृति को क्षतिग्रस्त करेंगे, जिसमें इस्लाम का भी योगदान है। लेकिन अधिकाधिक बढ़े हुए मुस्लिम जुझारूपन के सामने, उनकी दृष्टि में, कोई और विकल्प था भी नहीं।

अनेक सिद्धांत मसलों पर सावरकर का दृष्टिकोण निम्न उद्धरण में अच्छी तरह व्यक्त होता है:

"एक सच्चा हिंदू देश भक्त एक भारत राज का प्रेमी भी होता है। हिंदुस्तान उनकी पुण्यभूमि और मातृभूमि होने के कारण हिंदुओं का हिंदुस्तान के लिए प्रेम असीमित है। जिसे राष्ट्रवाद कहा जाता है, उनकी परिभाषा, दरअसल बहुसंख्यक समुदाय के राष्ट्रीय साम्यवाद के रूप में की जा सकती है। हिंदुस्तान में हिंदू धर्म में आस्था रखने वाले और संख्या में सर्वाधिक हिंदू ही हैं जो राष्ट्रीय समुदाय का संघ होते हैं और राष्ट्र के राष्ट्रवाद की रचना और सूत्रीकरण। विश्व के प्रत्येक देश में ऐसा ही है। अल्पसंख्यक अपनी अलग धार्मिक आस्था और सभ्यता बनाए रखते हुए बहुसंख्यक समुदायों के साथ सहयोग करते हैं और इन देशों के सार्व जीवन तथा प्रशासन में स्वयं को रचा बसा लेते हैं।"

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलान करें।

1) सावरकर के राजनीतिक विचारों की तार्किक समीक्षा कीजिए।

....

....

....

....

17.5 सारांश

इस इकाई में आपने उन्नीसवी सदी भारत में हिंदू पुनरुत्थान के तीन अग्रणी व्यक्तियों – दयानंद सरस्वती, विवेकानंद और सावरकर के राजनीतिक तथा अन्य विचारों का अध्ययन किया है। धर्म और राजनीति के अंतः साक्ष्य के विशेष प्रसंग में उनके विचार आपको स्पष्ट किए गये। इससे आपको राजनीति तथा धर्म के अंतःसंबंधों पर अपने विचार ढालने में सहायता मिलेगी और समकालीन भारत की घटनाओं के बोध के लिए एक अंतर्दृष्टि।

17.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

राय, लाजपत, **अ हिस्ट्री ऑफ आर्य समाज**, ओरियंट लांगमैन, 1967।

जोर्डन्स, जे.टी.एफ. दयानंद सरस्वती, **हिज़ लाइफ ऐंड आईडयाज**, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1978।

पंथम, थॉमस और डौयश, के.एल (संपा), **मॉडर्न इंडियन पॉलिटिकल थॉट**, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1986।

17.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

देखें भाग 17.2 और उपभाग 17.2.1 और 17.2.2

बोध प्रश्न 2

देखें उपभाग 17.2.2

बोध प्रश्न 3

देखें उपभाग 17.3.1

बोध प्रश्न 4

देखें उपभाग 17.3.2

बोध प्रश्न 5

देखें भाग 17.4 और उपभाग 17.4.1 और 17.4.2

इकाई 18 सर सैयद अहमद खान, मोहम्मद इकबाल एम.ए. जिन्ना तथा अबुल कलाम आज़ाद

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 सर सैयद अहमद खान
18.2.1 अलीगढ़ आंदोलन
18.2.2 राजनीतिक चिंतन
18.3 मोहम्मद इक़बाल
18.3.1 इस्लाम तथा अहं
18.3.2 इकबाल के राजनीतिक चिन्तन के आधारभूत सिद्धान्त
18.3.3 उपराष्ट्रवाद
18.3.4 प्रजातंत्र
18.3.5 इस्लामिक प्रजातंत्र
18.3.6 समाजवाद
18.3.7 व्यक्ति (व्यष्टि)
18.4 एम.ए. जिन्ना
18.4.1 उदारवाद और जिन्ना
18.4.2 राष्ट्रवाद
18.4.3 द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त
18.5 अबुल कलाम आज़ाद
18.5.1 अबुल कलाम आज़ाद के विचारों का स्वच्छन्दतावादी काल (रोमांटिक फेज़)
18.5.2 राष्ट्रवाद
18.5.3 प्रजातंत्र
18.5.4 अबुल कलाम आज़ाद के विचारों का उत्तर स्वच्छन्दतावादी काल (पोस्ट रोमांटिक फेज)
18.6 सारांश
18.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
18.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में सर सैयद अहमद खान, मोहम्मद इकबाल, एम.ए. जिन्ना तथा अबुल कलाम आज़ाद के राजनीतिक चिन्तन के सम्बन्ध में जानकारी दी जा रही है। अर्थात् इकाई का अध्ययन करने के बाद आप अग्रांकित बिन्दुओं पर उनके दृष्टिकोण को जानने में सक्षम होंगे :

- इस्लाम एवं हिंदुत्व (हिन्दूवाद) में सम्बन्ध।
- हिन्दुओं एवं मुसलमानों में सम्बन्ध।
- इस्लाम तथा राजनीति में सम्बन्ध तथा इस्लाम और प्रजातंत्र के सिद्धांतों में सम्बन्ध।
- राष्ट्रवाद।

18.1 प्रस्तावना

ब्रितानवी (ब्रिटिश) औपनिवेशिक शासन आधुनिक शिक्षा के प्रसार के साथ भारतीय समाज में अनेक परिवर्तन लाया, जिनसे सभी धर्मों के भारतवासियों में राष्ट्रवाद की चेतना उत्पन्न की। राष्ट्रीयता की भावनाओं को राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक

जुलूसों एवं गतिविधियों के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली। हिन्दू तथा मुस्लिम समुदायों के प्रबुद्ध व्यक्तियों ने समाज में, और विशेष रूप से अपने-अपने समुदायों में चेतना पैदा की। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत में कई सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक आन्दोलन और संगठन सामने आये। हिन्दू तथा मुस्लिम नेताओं ने इन आंदोलनों का अपने-अपने समुदायों में नेतृत्व किया। सर सैयद अहमद खान, मोहम्मद इकबाल, मोहम्मद अली जिन्ना तथा अबुल कलाम आज़ाद उन लोगों में से थे, जिन्होंने कि भारतीय समाज को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। इन नेताओं ने धर्म और राजनीति के बीच संबंध, प्रजातंत्र तथा व्यक्तियों के अधिकारों, प्रभुसत्ता तथा राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में अपने राजनीतिक चिंतन का विकास किया। इस्लाम उनके दृष्टिकोण का केंद्र रहा। किंतु उन्होंने ऐसा कुछ उत्पन्न नहीं किया जिसको कि राजनीतिक चिंतन को मूलभूत योगदान कहा जा सके।

18.2 सर सैयद अहमद खान

18.2.1 अलीगढ़ आंदोलन

सर सैयद अहमद खान ने अलीगढ़ आंदोलन की स्थापना की। इस आंदोलन का उद्देश्य आधुनिक शिक्षा का प्रसार तथा भारतीय मुसलमानों में राजनीतिक चेतना पैदा करना था। मुसलमानों में प्रथम राष्ट्रीय उद्बोधन (जाग्रति) को इस आंदोलन के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली। अर्थात् प्रथम बार इस आंदोलन के माध्यम से मुसलमानों ने राष्ट्रीयता संबंधी विचार व्यक्त किये। सर सैयद अहमद खान को इस आंदोलन में ख्वाजा अलताफ हुसैन अली, मौलवी नाजिर अहमद तथा मौलवी शिबली नुमामि जैसे सुयोग्य व्यक्तियों का सहयोग मिला। यह आंदोलन अलीगढ़ आंदोलन कहलाता है क्योंकि यह अलीगढ़ से प्रारंभ हुआ था। सन् 1875 में सर सैयद अहमद खान ने अलीगढ़ में मोहम्मडन एंग्लो ऑरियण्टल (एम.ए.ओ.) कॉलेज की स्थापना की। यह महाविद्यालय (कॉलेज) सन् 1890 में अलीगढ़ विश्वविद्यालय के रूप में विकसित किया गया। अलीगढ़ आंदोलन का उद्देश्य मुसलमानों में पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार करना था। इस संदर्भ में यह ध्यान रखा गया कि इस शिक्षा के कारण उनकी इस्लाम धर्म के प्रति निष्ठा में कोई कमी न आने पाये। इस आंदोलन का उद्देश्य भारतीय मुसलमानों में सामाजिक सुधार प्रारंभ करना भी था। सर सैयद अहमद खान ने बहु विवाह प्रथा तथा विधवा विवाह पर लगाये गये सामाजिक प्रतिबन्ध की निन्दा की। इस्लाम धर्म विधवा विवाह की अनुमति देता है। अलीगढ़ आंदोलन कुरान की उदारवादी व्याख्या पर आधारित था। इसने इस्लाम धर्म को आधुनिक उदारवादी संस्कृति के साथ समस्वर (संगत) करने का प्रयास किया। अर्थात् इस आंदोलन ने यह प्रयास किया कि इस्लाम तथा आधुनिक उदारवादी संस्कृति में सादात्म्य रहे और उनमें कोई विरोधाभास उत्पन्न न हो।

18.2.2 राजनीतिक चिन्तन

सर सैयद अहमद खान के राजनीतिक चिन्तन को दो खण्डों (फेजेज) में विभाजित किया जा सकता है–प्रथम खंड–जिसका विस्तार सन् 1887 तक रहा, तथा द्वितीय खण्ड सन् 1887 के पश्चात् प्रारम्भ हुआ। प्रथम खण्ड की अवधि के दौरान सर सैयद अहमद खान ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का पक्ष लिया। हिन्दू-मुस्लिम एकता की आवश्यकता के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि चूँकि "सदियों से हम एक ही जमीन पर रह रहे हैं, एक ही जमीन से एक समान फल खा रहे हैं, एक ही देश की वायु में साँस ले रहे हैं।" सन् 1873 में उन्होंने कहा कि राष्ट्रवाद के मार्ग में धर्म को बाधक नहीं होना चाहिए। उन्होंने धार्मिक तथा राजनीतिक मामलों के पार्थक्य का समर्थन किया। अर्थात् उनका तर्क था कि इन दोनों तरह के मामलों को अलग-अलग रखा जाये। धर्म को राजनीति से न जोड़ा जाये। उनके अनुसार, धार्मिक तथा आध्यात्मिक मामलों का सांसारिक मामलों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वाइसराय की विधायिका परिषद् के सदस्य के रूप में उन्होंने हिंदुओं तथा मुसलमानों दोनों के कल्याण हेतु प्रयास किये। सन् 1884 में उन्होंने स्पष्ट किया कि

"मैं कुरान शब्द का अर्थ लगाता हूँ—हिन्दू तथा मुसलमान दोनों। हम देखते हैं कि हम सब चाहे हिन्दू हों अथवा मुसलमान—एक ही धरती पर रहते हैं, एक ही शासक द्वारा शासित हों, लाभ स्रोत भी एक समान हैं और समान रूप से ही अकाल की विभिषीका को झेलते हैं।" वे धर्मान्ध नहीं थे तथा न ही हिन्दुओं को संताप पहुँचाने वाले थे। उन्होंने "वैज्ञानिक समिति" (सांइटिफिक सोसाइटी) तथा "अलीगढ़ ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन" के तत्वाधान में हिन्दुओं के निकट सम्पर्क में काम किया। उन्होंने एम.ए.ओ. कॉलेज के लिए हिन्दू राजाओं तथा जमींदारों से अनुदान लिया। इस कॉलेज के प्रबन्ध तथा शिक्षक समुदाय में हिन्दुओं का अच्छा प्रतिनिधित्व था। प्रारंभिक वर्षों में इस कॉलेज में मुसलमान छात्रों से हिन्दू छात्रों की संख्या अधिक थी। इस कॉलेज में गौ हत्या पर प्रतिबंध था। उन्होंने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के साथ मिलकर सिविल सेवाओं के लिए आयु पुनः 18 वर्ष के स्थान पर 21 वर्ष किये जाने के लिए मांग रखी। उन्होंने अपने उद्देश्यों के लिए अलीगढ़ में "ब्रिटिश एसोसियेशन" को पुनः प्रारंभ किया।

किंतु सर सैयद अहमद खान ने दूसरे चरण के दौरान आश्चर्यजनक रूप से अपने विचारों में परिवर्तन कर लिया (दिसम्बर, 1887 में)। तब तक उनकी ऐसी पृष्ठभूमि रही जो कि लगभग कांग्रेस के समान थी। लेकिन इस दूसरे चरण के दौरान उनकी रचनाओं में साम्राज्यवादी चिन्तन को अभिव्यक्ति मिली। ये रचनायें ब्रितानवी शासन के "उद्धारक" "प्रजातांत्रिक" तथा "प्रगतिशील" लक्षणों पर आधारित थी। अर्थात् अब वे ब्रितानवी शासन को उद्धारक, प्रजातांत्रिक तथा प्रगतिशील बताकर उसकी प्रशंसा करने लगे। पहले की भांति ही उन्होंने प्रतिनिधित्व के सिद्धान्तों को प्रारंभ करने तथा संसदीय सरकार का विरोध किया। उनका विचार था कि पाश्चात्य ढंग का प्रजातंत्र तथा राष्ट्रवाद भारत में नहीं चल सकते। उन्होंने कहा कि भारत जैसे देश में जो कि एक समिश्रण था और जो जातियों, धर्मों तथा वर्गों की विषमताओं से भरा पड़ा था वहां प्रतिनिधिक सरकार (रिप्रज़ेन्टेटिव फॉर्म ऑफ गवर्नमेण्ट) समानता के सिद्धान्त को पूरा नहीं कर सकती। उनके विचार में इस प्रकार की व्यवस्था अधिक शिक्षित तथा अधिसंख्य हिन्दुओं द्वारा कम शिक्षित तथा अल्पसंख्यक मुसलमानों पर आधिपत्य स्थापित करने की दिशा में मार्ग प्रशस्त करेंगी। उन्होंने विचार व्यक्त किया कि कांग्रेस द्वारा जिस प्रतिनिधि सरकार की माँग की जा रही है उससे मुसलमानों को बहुत ज्यादा हानि होगी।

उन्होंने कहा कि जब तक भारत में धार्मिक, जातिगत तथा वर्गगत भिन्नतायें विद्यमान रहेंगी तब तक पाश्चात्य ढंग का प्रजातंत्र स्थापित नहीं हो सकता। उन्हें यह महसूस हुआ कि यदि भारत में पाश्चात्य ढंग का प्रजातंत्र (वेस्टर्न मॉडल ऑफ डेमोक्रेसी) अंगीकार किया गया तो "अधिसंख्यक समुदाय यहां के अल्पसंख्यक समुदाय को पूर्णरूपेण कुचल डालेगा।" इस तर्क से द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त में विश्वास करने वाले समुदायों को प्रोत्साहन मिला। इस सिद्धान्त के अनुसार हिन्दू तथा मुसलमान पृथक-पृथक दो राष्ट्र हैं। इनके आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक हितों में भिन्नता है। और इनकी सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी भिन्न रही है। अतः ये दोनों (हिन्दू-मुसलमान) अकेला एक ही राष्ट्र नहीं बना सकते। सर सैयद अहमद खान चुनावों के विरुद्ध थे। सन् 1888 में उन्होंने कहा कि चुनावों की व्यवस्था विधि निर्माण का कार्य "बंगालियों" अथवा "बंगालियों जैसे" (बंगाली टाइप) हिन्दुओं के हाथों में सौंप देगी, और यह "स्थिति अत्यन्त अधोगतिपूर्ण होगी।" इसी प्रकार के आधारों पर उन्होंने भारत में स्वशासन की उपयुक्तता को अस्वीकार कर दिया था। उनकी मान्यता थी कि इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप मुसलमानों पर "अत्याचार" होगा। उन्होंने तो भाषण और प्रेस की स्वतंत्रता तक का विरोध किया। प्रेस की स्वतंत्रता पर लिट्टस के हमले का उन्होंने खुलकर समर्थन किया।

सर सैयद अहमद खान राजनीतिक आंदोलनों के भी विरुद्ध थे। उनका तर्क था कि ये आंदोलन देशद्रोह के समान है और सरकार के विरुद्ध है। इनसे अधिकारियों के मन में आंदोलनकारियों के प्रति संदेह उत्पन्न होगा तथा वे उन्हें देशद्रोही अथवा अनिष्ठावान समझेंगे। उन्होंने मुसलमानों को उपदेश दिया कि राजनीति से दूर रहे। अराजनीतिक तथा आंदोलन रहित बने रहें। अर्थात् राजनीतिक तथा आन्दोलनात्मक मामलों में निष्क्रिय रहें। और उन्होंने मुसलमानों से यह भी कहा कि बंगालियों के प्रभुत्व वाली कांग्रेस के "एक पूर्ण विच्छेद" बनाये रखें। उन्होंने कांग्रेस के विरुद्ध मुसलमानों की भावनाओं को भड़काने के लिए "एंग्लो-मुस्लिम एलाइन्स" (अंग्रेजों और मुसलमानों की मैत्री) स्थापित करने हेतु प्रयास किये।

सर सैयद अहमद खान पर ब्रितानवी (ब्रिटिश) अधिकारियों का प्रभाव था, इसके फलस्वरूप उनके विचारों में परिवर्तन हो गया था। उन्हें अपने द्वारा स्थापित कॉलेज के लिए सरकार की सहायता की आवश्यकता रहती थी। ब्रितानवी अधिकारियों ने सर सैयद अहमद खान के दु:साहस का लाभ उठाया। इन अधिकारियों ने उनके विचारों को इस सीमा तक प्रभावित किया कि उन्होंने जो विचार अपने मन में संजोकर रखे थे, वे उन विचारों से पूर्णतः भिन्न विचारों में व्यक्ति बन गये। उन्हें एम.ए.ओ. कॉलेज के प्रिंसिपल थिओडोर बेक ने सबसे ज्यादा प्रभावित किया। बेक ने संतुलन बनाने के उद्देश्य से सर सैयद अहमद खान को कांग्रेस के विरुद्ध करते हुए उसने कांग्रेस के "अनिष्टकर" प्रभाव का विरोध करना प्रारंभ किया। उसने "अनुदार चिन्तन के सशक्त मत" (स्ट्रॉंग कंजरवेटिव स्कूल ऑफ थॉट) तथा बंगालियों के प्रभुत्व वाली कांग्रेस और मुसलमानों के बीच "एक पूर्ण विच्छेद" के सर्जन हेतु कठोर परिश्रम किया।

सर सैयद अहमद खान बेक के प्रभाव से द्रवित हो गये और वे कांग्रेस के विरुद्ध हो गये। हिन्दू पुनर्जागरणवाद के विकास तथा उसके कांग्रेस के साथ संबंधों के परिणामस्वरूप सर सैयद अहमद खान की कांग्रेस विरोधी भावनाएँ और भी घनीभूत हो गई।

सर सैयद अहमद खान का उत्तरी भारत के मुसलमानों पर सीमित प्रभाव था। उन्होंने मुसलमानों के विभिन्न वर्गों में सामाजिक तथा शैक्षणिक सुधार उत्प्रेरित किये। उनका प्रभाव सर्वव्यापी नहीं था। उनके द्वारा दीर्घकाल तक कांग्रेस के विरुद्ध अभियान चलाते रहने के फलस्वरूप उनका स्वयं का आंदोलन (अलीगढ़ आंदोलन) अवरुद्ध हो गया तथा यह आंदोलन अलीगढ़ और उसके आसपास के जिलों तक ही सीमित रहा। मुसलमानों का एक बड़ा हिस्सा उनके प्रभाव से वंचित रहा।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: i) प्रत्येक प्रश्न के नीचे छोड़े गये स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग कीजिये।
ii) अपने उत्तर को इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तर के आधार पर जाँचें।

1) द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त के क्या सिद्धान्त हैं?

....
....
....
....
....
....

2) प्रजातंत्र प्रयुक्तता (व्यावहारिकता) के संबंध में सर सैयद अहमद खान के दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिये।

....
....
....
....
....
....

18.3 मोहम्मद इकबाल

मोहम्मद इकबाल ने भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक विचार एक व्यवस्थित आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उन्होंने मुस्लिम राजनीतिक विचारों के संदर्भ में उदारवादी प्रजातंत्र के राजनीतिक चिंतन की समीक्षा की। उनके राजनीतिक चिन्तन को समझने के लिए इस्लाम तथा अहं के संबंध में उनके दृष्टिकोण को समझना आवश्यक है।

18.3.1 इस्लाम तथा अहं

इकबाल की मान्यता थी कि मध्यकालीन मनोवृत्ति के फलस्वरूप इस्लाम आधुनिक मनुष्य के लिए महत्वहीन हो गया है। ऐसी स्थिति इस्लाम की कमियों के कारण नहीं हुई है, बल्कि वास्तविकता यह है कि लोग इस्लाम की सच्ची भावना को समझते ही नहीं हैं। उन्होंने इस्लाम की संकीर्ण व्याख्या करने के लिये रूढ़िवादी एवं स्वार्थपरायण सूफियों पर दोषारोपण किया। इकबाल की मान्यता थी कि मध्यकालीन रहस्यवाद ने इस्लाम के अनुयायियों को इसकी लाभप्रद सहजवृत्ति से वंचित रखा तथा इसके संबंध में केवल अस्पष्ट विचार मुहैया करवाये। उनका विश्वास था कि विश्व के कल्याण के लिए वास्तविक इस्लाम का पुनरुत्थान अत्यन्त आवश्यक था। उनके अनुसार इस्लाम को एक सार्वभौमिक तथ्य के रूप में सार्थकता प्रदान करने वाले एक सचेष्ट अध्ययन की अत्यधिक आवश्यकता थी। एक "सक्रिय शक्ति" बनने के लिये इस्लाम में अन्तःशक्ति थी।

इकबाल का समाज, राज्य तथा राजनीति से संबंधित दर्शन उनके इस्लाम से संबंधित दृष्टिकोण पर आधारित था। इकबाल के अनुसार इस धरती (विश्व में) पर आदर्श समाज मुसलमानों द्वारा स्थापित किया जायेगा—इनको खुदा (ईश्वर) द्वारा चुना गया है; ये पूर्व (पूर्व दिशा) में खुदा के प्रतिनिधि हैं। मुसलमान असाधारण मनुष्य (टाइटन अर्थात् भीमकाय मनुष्य) नहीं हैं, किन्तु एक सामान्य मनुष्य और एक "संपूर्ण विश्वहित का साकार रूप है।" उसमें "न्याय और परोपकारिता" की विशेषतायें हैं। इकबाल का मत था कि केवल "आत्मस्वीकरण, आत्मभिव्यक्ति और आत्मविकास द्वारा ही मुसलमान अधिक शक्तिशाली हो सकते हैं।" ये तीन चरण (पड़ाव) हैं जिनके द्वारा अहं की विलक्षणता प्राप्त की जा सकती है।

इकबाल का "अहंवाद" अथवा "आत्मन्" (आत्मका का स्व) का दर्शन (सिद्धान्त) उनके राजनीतिक विचारों के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है समाज की आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था से इकबाल सन्तुष्ट नहीं थे। समाज ने संस्थाओं का सर्जन किया और संस्थाओं ने मनुष्य को गुलाम बना लिया। इससे धार्मिक तथा नैतिक सिद्धांतों को क्षति पहुंचती है। अतः इकबाल ने एक उच्च आदर्श प्रस्तुत किया है, जिसका उत्साहपूर्वक अनुसरण किया जा सकता है। "अहं" को समुचित सीमाओं में (प्रतिबन्धों के अधीन) रखना चाहिए। ऐसा केवल आज्ञापालन तथा अनुशासन से ही संभव है। अन्ततः यही ईश्वर के प्रतिनिधित्व हेतु मार्ग प्रशस्त करेगा। इकबाल की मान्यता थी कि जिन मुसलमानों का मार्गदर्शन कुरान अथवा "ज्ञानग्रन्थ" (दि बुक ऑफ विजडम) करता है वे इस लक्ष्य को पूरा कर सकेंगे।

18.3.2 इकबाल के राजनीतिक चिन्तन के आधारभूत सिद्धान्त

पूर्व और पश्चिम के मध्यम संघर्ष अथवा इस प्रकार कहें कि स्नेह (भावना) एवं तर्क (कारण) के मध्य संघर्ष ही इकबाल के राजनीतिक चिंतन के आधारभूत सिद्धांतों की संरचना करता है। इकबाल ने पश्चिम तथा पश्चिमी सभ्यता के प्रति दृढ़ विश्वास प्रकट किया। उनके अनुसार पश्चिम भौतिकवादी मूल्यों का प्रतीक है तथा यह पूर्व के आध्यात्मवाद तथा धार्मिकता के उच्च मूल्यों का खंडन करता है। पश्चिम का आधार तर्क (कारण) है, जबकि पूर्व की संस्कृति का आधार स्नेह (भावना) है।

इकबाल ने एक आदर्श समाज के सर्जन की आवश्यकता अनुभव की। वे पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन की कई अवधारणाओं जैसे राष्ट्र राज्य, राष्ट्रवाद, समानता, स्वतंत्रता, प्रजातंत्र, इतिहास की व्याख्या, पश्चिम का समाजवादी आन्दोलन आदि के आलोचक थे। उन्होंने मत व्यक्त किया कि राजनीतिक चिन्तन का आविर्भाव पूँजीवाद के आविर्भाव के साथ-साथ हुआ है। पूँजीवादी समाज भौतिक संस्कृति की उपज है। इकबाल के मतानुसार समाज का उद्देश्य इसके प्रत्येक सदस्य के जीवन को सुखी तथा अच्छा बनाना होना चाहिए। समाज के प्रत्येक सदस्य को अपने "अहं" तथा व्यक्तित्व के विकास के लिए अवसर मिलना चाहिए। उनका विश्वास था कि पूंजीवादी समाज लोगों के अच्छे जीवन को सुनिश्चित नहीं करता। इसका आधार ही मुट्ठी भर लोगों का हितसाधन है। विज्ञान, दर्शन, प्रजातंत्र, संविधान तथा समानता एवं स्वतंत्रता के मूल अधिकार आदि सब शोषक वर्गों के सहायक हैं।

18.3.3 उपराष्ट्रवाद

इकबाल के अनुसार राष्ट्रवाद, राष्ट्र-राज्य के लिए मनोवैज्ञानिक एवं राजनीतिक औचित्य प्रदान करता है। राष्ट्र राज्य के आविर्भाव के लिए पूँजीवाद उत्तरदायी था। यह क्षेत्र के तर्क (विचार) पर आधारित है। राष्ट्रीयता केवल एक व्यक्ति को एक क्षेत्रता से सम्बद्ध करती है। इकबाल के अनुसार, देश भक्ति राष्ट्रीयता से भिन्न है। देश-भक्ति "एक पूर्णत नैसर्गिक विशिष्टता (सद्गुण) है और इसका एक मनुष्य के नैतिक जीवन में स्थान है।" लेकिन उनके अनुसार, राष्ट्रीयता एक राजनीतिक धारणा है तथा इसका इस्लाम की भावना से सामंजस्य नहीं है। उनका मानना था कि यदि राष्ट्रीयता को इसके आदर्श रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तब इस्लाम एक सक्रिय तत्व के रूप में नहीं रहेगा। राष्ट्रीयता का इस्लाम से उस समय टकराव प्रारम्भ हो जायेगा जब राष्ट्रीयता एक राजनीतिक धारणा के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाहन करने लगेगी तथा इसके परिणामस्वरूप इस्लाम पृष्ठभूमि में चला जायेगा तथा यह केवल व्यक्तिगत मान्यता का एक तत्व मात्र रह जायेगा और राष्ट्रीय जीवन में एक सक्रिय भूमिका निभाने वाले तत्व के रूप में लुप्त हो जायेगा। हालांकि इकबाल उस राष्ट्रीयता के विरुद्ध नहीं थे जिसमें कि एक निश्चित देश के लोगों को स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उद्देश्य से एकजुट करने की अन्तःशक्ति निहित हो। राष्ट्रीयता की इस प्रकार की धारणा इस्लाम की भावना से असंगत नहीं थी। किन्तु लोगों को एकजुट करने के लिए राष्ट्रीयता की बजाय धर्म ज्यादा उपयुक्त माध्यम है। उनका विश्वास था कि पाश्चात्य लोग राष्ट्रीयता का प्रयोग इस्लाम की धार्मिक एकता को छिन्न-भिन्न करने के लिए करना चाहते हैं। इकबाल राष्ट्रीय आंदोलन के विरुद्ध नहीं थे लेकिन उनके विचार में राष्ट्रीयता राजनीति में एक शांति भंग करने वाला तत्व था।

इकबाल का मानना था कि आधुनिक विश्व में मुसलमानों के "अ-इस्लामीकरण" का खतरा उत्पन्न हो गया है। राष्ट्रीयता ऐसे ही खतरों में से एक थी। इकबाल भारत में राष्ट्रीयता के संभावित विकास से भयभीत थे। अतः उन्होंने सर्वप्रथम यही धारणा व्यक्त करना प्रारम्भ किया कि भारत एक राष्ट्र ही नहीं है। उनके मतानुसार, राष्ट्रीयता तथा मुसलमानों में समरूपता नहीं थी, क्योंकि मुसलमान अल्पसंख्यक थे। जिन देशों में मुसलमान अधिसंख्यक हैं वहां इस्लाम ने राष्ट्रीयता को स्थान दे दिया है। भारत में मुसलमान एक सांस्कृतिक सत्व (अस्तित्व, तत्व) हैं।

क्या मुसलमान एक पृथक राष्ट्र का निर्माण करते हैं? आचार्य मोइन शाकिर के मतानुसार, इकबाल के पास इस प्रश्न का सुस्पष्ट उत्तर नहीं था। उनका मत था कि मुसलमान जातिगत, भाषाई अथवा भौगोलिक बंधनों से नहीं बंधे हुए हैं, बल्कि वे तो अपने साम्प्रदायिक (धार्मिक) भ्रातृत्व से बन्धे हुए हैं। उन्होंने सार रूप में यह व्यक्त किया कि भारत केवल एक राष्ट्र नहीं था। राष्ट्रीयता का विचार भिन्नताओं का विरूपण करेगा, जोकि इकबाल के मतानुसार, पूर्णरूप से अवांछित था। लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इकबाल एकीकृत भारत के पक्ष में नहीं थे। वे मानते थे कि भारत में विभिन्न वर्गों का विलयीकरण संभव नहीं था। इसकी बजाय विभिन्न वर्गों (समुदायों) में परस्पर सामंजस्य एवं सहयोग हेतु प्रयास किये जाने चाहिए। उनके विचार में एक राष्ट्र की बातें "निर्थरक" थी। विभिन्न वर्गों (संप्रदायों) को पृथक-पृथक अस्तित्वों (तत्वों) के रूप में मान्यता देते हुए उन्हें अनुरक्षण प्रदान करने के इकबाल के अनुरोध से मुस्लिम राष्ट्रीयता को बढ़ावा मिला। इसी के फलस्वरूप वे पाकिस्तान के विचार के जनक बने।

आचार्य मोइन शाकिर के अनुसार मुस्लिम लीग अपने तार्किक हित साधन के लिए जिन भावनाओं का इकबाल की मुस्लिम राष्ट्रीयता की अवधारणा के रूप में वहन (प्रचार) कर रही थी, वह उचित (वैध) नहीं था। अर्थात् मुस्लिम लीग इकबाल के नाम का झूठा प्रचार करते हुए फायदा उठाकर अपनी स्वार्थ सिद्धि करना चाहती थी। इकबाल ने भारत के विभाजन की बात कभी नहीं सोची थी। इसके विपरीत, सन् 1928 ई. में मुस्लिम लीग को दिये गये अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने उत्तरी भारत में मुसलमानों के लिए एक अलग राज्य का सुझाव दिया था। उन्होंने केवल "राज्य के अन्दर राज्य" (अर्थात् देश के अन्दर एक राज्य) की मांग की थी न कि एक पृथक राज्य (अर्थात् पृथक देश जैसे पाकिस्तान) के लिए मांग की थी। आचार्य मोइन शाकिर आगे कहते हैं कि "इस प्रकार इकबाल की योजना का लीग द्वारा की गई विभाजन की मांग से किसी प्रकार का संबंध प्रतीत नहीं होता है। लेकिन लीग के नेतृत्व ने पाकिस्तान की मांग को बल तथा औचित्य (पवित्रता) प्रदान

करने के लिए इकबाल के नाम का अनुचित लाभ उठाया। यहां तक कि जब जिन्ना तथा अन्य मुस्लिम नेतागणों द्वारा इस प्रकार के प्रयास किये जा रहे थे कि द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त में विश्वास करने वाले सक्रिय दलों में से हिन्दू-विरोधी शक्तियों को एकजुट किया जाये, इन प्रयासों को भी इकबाल की बजाय रहमत अली ने ज्यादा प्रोत्साहित किया। इकबाल गैर मुस्लिम समुदायों के प्रति अत्यधिक सम्मान रखते थे। राजत्व (राज्यतंत्र) के आधार के रूप में संकीर्ण एवं कट्टर पंथी राष्ट्रीयता के वे भारत के अन्दर तथा बाहर विरोधी थे। भारत की स्वतंत्रता के लिए उनमें भारी उत्साह था।

18.3.4 प्रजातंत्र

इकबाल के अनुसार, प्रजातंत्र आधुनिक पाश्चात्य व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता थी। यह प्रजातंत्र इस्लामी प्रजातंत्र पश्चिम का आविष्कार है। यह जनता की प्रभुसत्ता तथा स्वतंत्रता एवं समानता की अवधारणा में आस्था रखता है। पाश्चात्य प्रजातंत्र यूरोप की भूतकालीन सामंती प्रभुत्व वाली संरचना के विरुद्ध प्रतिक्रिया का परिणाम था। इकबाल ने अनुभव किया कि प्रजातंत्र के इन लक्षणों (विशेषताओं) का इस्लाम के सिद्धान्तों से सामंजस्य नहीं है। पाश्चात्य प्रजातन्त्र की भांति इस्लामी प्रजातंत्र में प्रभुसत्ता जनता में अन्तर्निहित नहीं है। इस्लाम के अनुसार, प्रभुसत्ता ईश्वर (खुदा) में विद्यमान होती है। न कि जनता (लोगों) में। इकबाल के मतानुसार, पाश्चात्य अवधारणा के अन्तर्गत प्रजातंत्र समाज में मुट्ठीभर लोगों के लिए ही सार्थक होगा। यह अवधारणा शोषण के सिद्धान्तों पर आधारित है। पाश्चात्य प्रजातंत्र की बहुमत की अवधारणा हमेशा ही विवेकपूर्ण नहीं हो सकती। इकबाल के अनुसार, पाश्चात्य प्रजातंत्र की समानता और स्वतंत्रता वास्तविक नहीं है। प्रजातंत्र साम्राज्यवाद का साम्य (के समान) है, जो कि शोषकों के हितों को सहारा देता है। अतः जनता के शासन के रूप में यह कभी चरितार्थ नहीं हो सकता। इकबाल के मतानुसार, प्रजातंत्र के देश में "तानाशाही का दानव" क्रियाशील हो जाता है। पूंजीवाद के अन्तर्गत स्वतंत्रता एवं अन्य तथाकथित अधिकार केवल दिखावा मात्र है। प्रजातंत्र भूतकालीन अधिकारवादी शासन का ही विस्तारण है।

18.3.5 इस्लामिक प्रजातंत्र

इकबाल के पाश्चात्य प्रजातंत्र की अवधारणा को दोषपूर्ण बताया तथा इस्लामिक प्रजातंत्र को स्वीकार करने के लिए लोगों से आग्रह किया। इस्लामिक प्रजातंत्र "आर्थिक अवसरों के विस्तार से विकसित" नहीं हुआ है। यह उस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक मानव प्राणी प्रच्छन्न शक्ति का केन्द्रं है। और इस शक्ति को एक निश्चित प्रकार से चरित्र के परिष्कार द्वारा विकसित किया जा सकता है। इस्लामिक प्रजातंत्र में नैतिक उद्देश्यों को अधिक महत्व दिया जाता है। इकबाल का प्रजातंत्र जनता (प्रजा अथवा लोगों) का प्रजातंत्र नहीं है, बल्कि इसका संबंध एकल व्यक्तियों से है। अर्थात् यह प्रजातंत्र व्यष्टि पर आधारित है न कि समष्टि पर। इसमें प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग है। प्रकारान्तर से यह प्रजातंत्र इस मान्यता पर आधारित है कि एक-एक व्यक्ति के हित में संपूर्ण समाज का हित है। उनको विश्वास था कि इस्लामिक प्रजातंत्र निरंकुश एकतंत्र के रूप में विकृत नहीं होगा। इस्लामिक प्रजातंत्र का आधार "आर्थिक शोषण के स्थान पर बेहतर आध्यात्मिक शुद्धिकरण एवं बेहतर आर्थिक समायोजन" है। इकबाल की मान्यता थी कि पाश्चात्य पद्धति के प्रजातंत्र की बजाय एकेश्वर की अवधारणा पर आधारित सरकार अधिक उपयुक्त रहेगी। इस्लामिक प्रजातंत्र के सिद्धान्त इस प्रकार होंगे–(1) ईश्वर का एकत्व (केवल एक ही ईश्वर में विश्वास करना), (2) विधि की अनुपालना, तथा (3) सहिष्णुता एवं सर्वमुक्तिवाद। इकबाल ने पाश्चात्य देशों में अंगीकृत प्रजातांत्रिक संस्थाओं की सराहना की। लेकिन वे चाहते थे कि इन संस्थाओं को इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुरूप होना चाहिए। भारत के संदर्भ में भी इकबाल की मान्यता थी कि पाश्चात्य प्रजातंत्र यहां के लिए उपयुक्त नहीं था। उनका मत था कि यदि भारत में प्रजातंत्र अंगीकृत किया जाता है तो यहां "प्रजातंत्र की आड़ में साम्प्रदायिक कुलीन तंत्र" प्रबल होगा। अतः उन्होंने प्रजातांत्रिक संस्थाओं में सुधार हेतु आग्रह किया। वे चाहते थे कि धार्मिक एवं नैतिक विधान द्वारा नियंत्रित एक शासक को शासन स्थापित करना चाहिए। तथा आध्यात्मिक आदर्शों को एक मानव संगठन के माध्यमं से कार्यान्वित करवाना इस शासन का लक्ष्य होना चाहिए।

18.3.6 समाजवाद

इकबाल कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद की अवधारणा से इसलिए प्रभावित हुए, क्योंकि इस अवधारणा के अन्तर्गत पूंजीवाद, प्रजातंत्र तथा राष्ट्रवाद को अस्वीकृत किया गया है। उन्होंने इस्लाम तथा मार्क्सवादी विचारधारा में अनेक बिन्दुओं पर समानतायें अनुभव की। उन्होंने मत प्रकट किया कि इस्लाम तथा मार्क्सवाद दोनों के ही उद्देश्य विश्व में एकतन्त्र का विनाश करना तथा पूंजीवाद के प्रति विमुखता का दृष्टिकोण रखना है। दोनों ही पुरोहिताई तथा चर्च को एक संस्था के रूप में अस्वीकृत करते हैं। उनका मानना था कि इस्लाम एक प्रकार का समाजवाद है जिसका कि मुसलमान प्रयोग नहीं करते हैं। उनके अनुसार, मार्क्सवाद का संबंध केवल भौतिक पदार्थों से है तथा यह आत्मा एवं आध्यात्मिकता की उपेक्षा करता है। उन्होंने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को भी अस्वीकृत किया। उनके मतानुसार, यह पाश्चात्य प्रज्ञावाद की उपज है। उनकी मान्यता थी कि मार्क्सवाद की सबसे बड़ी कमी इसके द्वारा ईश्वर तथा आध्यात्मिक मूल्यों का प्रतिवाद किया जाना है। उनके अनुसार, यह मार्क्सवाद का बुरा तथा बिगड़ा हुआ पक्ष था।

इकबाल राज्य तथा शासन की मार्क्सवादी अवधारणा से भी सहमत नहीं थे। उनका मानना था कि वर्गहीन समाज की स्थापना नहीं हो सकती तथा राज्य शिथिल नहीं होगा।

18.3.7 व्यक्ति (व्यष्टि)

एक व्यक्ति समाज से अपृथकरणीय है। उसके वास्तविक अहं को समाज में पूर्णता प्राप्त होती है। व्यक्ति का सर्वोच्च उद्देश्य समाज से संयोजन स्थापित करना है। वह अपने शरीर तथा आत्मा के लिए समाज का ऋणी होता है। व्यक्ति का समाज तथा समुदाय उसके लिए सर्वोच्च सत्ता है। समाज तथा व्यक्ति के हित परस्पर विरोधी नहीं हैं। वे पारस्परिक एवं एक दूसरे के संपूरक हैं। इस्लाम व्यक्ति के महत्व को मान्यता देता है तथा उसे ईश्वर (खुदा) की सेवार्थ सर्वस्व न्यौछावर करने हेतु अनुशासित करता है। अनियंत्रित अहं अथवा अनुशासन की कमी अथवा स्वार्थपरायणता से युक्त व्यक्तिवाद से अराजकता का पथ प्रशस्त हो सकता है। अच्छाई मनुष्य तथा ईश्वर के एकाकार होने से प्राप्त हो सकती है। मनुष्य तथा ईश्वर के एकाकार (संयोजन) से मनुष्य को गूढ़ शक्तियां उपलब्ध हो जाती हैं। ईश्वर के साथ एकाकार होने की अवधारणा भाईचारे की भावना को पोषित करती है। इस्लामिक समाज ऐसा समाज नहीं है जो कि मानव निर्मित विधान से अनुशासित होता है, बल्कि वह कुरान द्वारा प्रतिपादित ईश्वरीय विधान द्वारा अनुशासित होता है। इसके शब्द गूढ़ तथा शाश्वत हैं।

यदि एक व्यक्ति सामुदायिक (साम्प्रदायिक) हितों के विरुद्ध जाता है तो उसे स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। इकबाल के अनुसार, आज्ञापालन एक व्यक्ति का सर्वोच्च गुण है। इकबाल ने संपूर्ण रूप से अधिकारों का विवेचन नहीं किया है। व्यक्ति उन्हीं अधिकारों का उपभोग कर सकता है जिनके लिए कुरान का विधान अनुमति देता है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी: i) नीचे दिये गये स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर के आधार पर जाँचें।

1) राष्ट्रवाद के संबंध में इकबाल के दृष्टिकोण का विवेचन कीजिये।

....

....

....

....

....

....

2) पश्चिमी प्रजातंत्र के साथ-साथ इस्लामी प्रजातंत्र पर इक़बाल के दृष्टिकोण की तुलना कीजिये।

....

....

....

....

....

....

18.4 एम.ए. जिन्ना

जिन्ना की क्रियात्मक राजनीति ने उनके राजनैतिक विचारों को सुनिश्चित किया था। इसके विपरीत अबुल कलाम आज़ाद की राजनीति सिद्धान्त पर आधारित थी।

18.4.1 उदारवाद और जिन्ना

जिन्ना प्रारंभ में ब्रिटेन के उदारवाद से प्रभावित थे। वे अनेक भारतीय उदारवादियों से संबंधित थे जैसे दादा भाई नौरोजी, जी.के. गोखले, एस.एन. बनर्जी और आर.सी. दास। उनका प्रारंभिक उदारवाद उनकी अंग्रेजी शिक्षा से उत्पन्न था साथ ही उस पर भारतीय उदारवादियों का भी प्रभाव था। उनका राष्ट्रवाद, प्रजातंत्र, धर्मनिरपेक्षता तथा देश की अखंडता में अंतिम विश्वासी था। उन्होंने डा. असरफ को कहा था "मेरी कई महत्वपूर्ण ब्रिटेन के उदारवादियों से भेंट हुई......मैंने उस उदारवाद को ग्रहण कर लिया जो मेरे जीवन का भाग बन गया तथा जिसने मुझे बहुत चमत्कृत किया।" उनके उदारवाद का मूलाधार नागरिक आर्थिक, व्यक्तिगत, सामाजिक, धन संबंधी, राजनैतिक और अन्तः राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, नैतिक मूल्य और हर व्यक्ति की आध्यात्मिक एकरूपता, मानव व्यक्तित्व की महानता, पक्षपातहीन न्याय व्यवस्था, सस्ती न्याय प्रणाली, पहुँचने योग्य न्यायालय, जातिगत विशेषाधिकारों का अन्त, तथा धन की शक्ति को दूर करना आदि था। संक्षेप में उनका उदारवाद स्वतंत्रता, संवैधानिकता, किसी भी तरह के धर्मान्धता का अभाव जो सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन से संबंधित हो ब्रिटिश सरकार से सहयोग, सही कार्य के लिये वैधानिक आन्दोलन, कानून का शासन तथा देश की स्वतंत्रता का पक्षधर थे। वे किसी आन्दोलन के गैर संवैधानिक तरीकों के हिमायती नहीं थे। उनका मानना था कि असहयोग आन्दोलन एक गैर उदारतावादी आन्दोलन था।

वे ब्रिटिश शासन की धनात्मक देन को स्वीकार करते थे। उनका विश्वास था देश भक्ति की भावना जैसे धनात्मक विकास तथा राष्ट्रीयता की भावना के विकास का कारण ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण एवं नीतियों का फल था। स्थानीय स्वायत्त शासन की प्रजातंत्रीय संस्थाओं में उनका विश्वास था। उनकी मान्यता के अनुसार, सरकार जनता की आलोचना के ऊपर नहीं हो सकती। सभ्य सरकार का पता इसी बात से लगता है कि वह जनमत को कितना आदर प्रदान करती है। अगर सरकार गैर प्रजातंत्रीय ढंग से काम करती है तो इसका प्रतिफल क्रांति होती है। पर वे लोगों को विद्रोह का अधिकार नहीं देना चाहते थे। वे प्रजातंत्र के संस्थापन के पक्षधर थे। पर वे मानते थे कि यह उन्हें भेंट की तरह नहीं किन्तु एक अधिकार के रूप में मिले। जिन्ना ने उदारवाद से एक महावर्ग के वक्ता के रूप में नाता जोड़ा था। उनके अनुसार मध्यम वर्ग जनता के आन्दोलन में उचित स्थान नहीं रख सकता। जिन्ना ने इस बात का अनुभव किया कि गांधी और मोहम्मद अली के उभरने के बाद जन वर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेना शुरू कर दिया। उन्होंने अनुभव किया कि जनवर्ग को शामिल करने से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उदार चरित्र प्रभावित हुआ है। इसलिये उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को छोड़ दिया तथा पूर्व में उन्होंने जो कुछ कहा था उसी का विरोध करने लगे। सन् 1920 जिन्ना की राजनैतिक सूझबूझ का विभाजक वर्ष था।

उदारवादी अवधि में उनका राजनैतिक दृष्टिकोण धर्म-निरपेक्ष था। वे इस बात पर जोर देते थे कि लोगों को धार्मिक भेदभावों को भुला देना चाहिये। धर्म को राजनीति से अलग कर दिया जाना चाहिये। उनका कथन था कि सभी समुदायों का सहयोग मातृभूमि के लिये आवश्यक है। अगर भारत के लोग धार्मिक भेदभावों को भुला दें तभी वास्तविक राजनैतिक मताधिकार, स्वतंत्रता और स्वायत्त शासन के वे योग्य हो सकते हैं। वे अलीगढ़ आन्दोलन (सर सैयद अहमद खान) से सहमत नहीं थे कि अगर ब्रिटेन के लोग देश को छोड़कर चले जायेंगे तो हिन्दू राज स्थापित हो जायेगा। वे गांधी से धर्म को राजनीति में मिलाने के प्रश्न पर असहमत थे। उन्होंने खिलाफत आन्दोलन को भी सहायता नहीं दी थी क्योंकि वह धर्म को राजनीति में मिलाता था।

18.4.2 राष्ट्रवाद

जिन्ना के अनुसार भारत में राष्ट्रवाद औपनिवेशिक नीतियों का प्रतिफल है जैसे भारत को एक राजनैतिक और सामाजिक इकाई मानना एवं अंग्रेजी शिक्षा का विस्तार। वे हिन्दू और मुसलमानों के मध्य एकता पर जोर देते थे। भारत की एक ही राष्ट्रीयता है। यह राष्ट्रवाद एक उदार और धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रवाद है। वे देशभक्ति को धर्म में समाहित नहीं करते थे। वे सर्व-इस्लामावाद को भारतीय मुसलमानों के लिए एक गंभीर सिद्धान्त नहीं मानते थे। अपने जीवन के प्रारंभिक काल में जिन्ना ने हिन्दू-मुसलमानों की एकता के लिए प्रयत्न किया। उनके अनुसार "काल्पनिक प्रतिद्वन्द्विता जो कि हिन्दू और मुसलमानों के मध्य थी वह समस्याओं से उनका ध्यान बंटाने मात्र को भी तथा सुधारों को विचलित करने के लिये थी। जिन्ना जब 1904 में बंबई गोपालकृष्ण गोखले से मिले तो उनसे प्रभावित हुए। वे गोखले से इतने प्रभावित थे कि उनका कथन था कि वे इस बात की महत्वाकांक्षा रखते हैं कि वे "मुस्लिम गोखले" बनें।

सरोजनी नायडू के अनुसार, जिन्ना इस बैठक में "हिन्दू-मुस्लिम एकता के राजदूत" के रूप में उभरे। 1907 के मारले-मिन्टों सुधारों के अंतर्गत प्रस्तावित अलग निर्वाचक मण्डल के सिद्धान्त का उन्होंने विरोध किया। पर यह एक विरोधाभास है कि वे कलकत्ता कौन्सिल के मुस्लिम सदस्य बम्बई से बनें। यद्यपि वे मुस्लिम लीग के औपचारिक सदस्य नहीं थे, जिन्ना ने मुस्लिम लीग के प्रस्ताव का समर्थन किया। इस प्रस्ताव द्वारा भारत के लिए एक उचित स्वायत्त शासन प्रणाली की वकालत की गयी थी। यह संवैधानिक साधनों से प्राप्त की जानी थी। इसके साथ वर्तमान शासन में स्थायी सुधार लाये जायेंगे जिसके लिये राष्ट्रीय एकता एवं जनभावना को भारत के लोगों में पुष्ट किया जायेगा तथा इसके लिये दूसरे समुदायों से सहयोग लिया जायेगा।"

पर जब जिन्ना मुस्लिम लीग के स्थायी सदस्य हो गये हिन्दू-मुस्लिम एकता पर उनके विचार महत्वपूर्ण रूप से बदल गये। उन्होंने मुस्लिम लीग के उस प्रस्ताव का समर्थन किया जिसमें "पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता" और "अलग मताधिकार" की प्राप्ति के लिये स्वराज्य के लिये काम करने का सकल्प लिया था।

साइमन कमीशन के आगमन के समय जिन्ना ने नेहरू प्रतिवेदन को अस्वीकार कर दिया जो अलग मताधिकार के विरुद्ध था। उन्होंने नेहरू प्रतिवेदन को सिर्फ हिन्दू दृष्टिकोण माना। उन्होंने इस बात का 1932 के पहले अहसास किया था कि हिन्दू महासभा कांग्रेस पर प्रभाव डाल रही है। मार्च 27, 1927 को जिन्ना ने एक कान्फरेन्स में जिसके वे सभापति थे, नेहरू रिपोर्ट पर तीन संशोधन पेश किये जो निम्नलिखित रूप से थे—(1) अलग मताधिकार बना रहे, (2) केन्द्रीय विधानसभा में मुसलमानों के लिए एक तिहाई सीटें सुरक्षित रहें, तथा (3) अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों में निहित रहें। इस प्रस्ताव को कांग्रेस ने 1928 में अस्वीकार कर दिया। आगाखां जो मुस्लिम लीग के संस्थापक अध्यक्ष थे सन् 1929 की सर्वदलीय मुस्लिम सम्मेलन की अध्यक्षता की तथा जिन्ना के बारे में लिखा "उनके लिये (जिन्ना) कांग्रेस में कोई भविष्य नहीं है या किसी दूसरे शिविर में भी नहीं है—सारे भारतीय आधार पर जो वस्तुतः हिन्दुओं के वर्चस्व में है। अन्त में हमने उन्हें अपने दृष्टिकोण के पक्ष में कर लिया है।" इस सम्मेलन में जिन्ना ने घोषणा की कि साइमन कमीशन रिपोर्ट "मर चुकी" थी उन्होंने विस्तार से बताया कि पाकिस्तान के प्रश्न। का आगे बढ़ाने में उनकी रणनीति क्या होगी।

18.4.3 द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त

साइमन कमीशन रिपोर्ट एवं नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकृत करने के बाद जिन्ना के मन में हिन्दू-मुस्लिम एकता के भावों के बदले द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त की बात समा गई। उनके अनुसार हिन्दू एवं मुसलमान एकता का निर्माण नहीं करते। पर वस्तुतः वे अलग राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि मुसलमान एक अलग "पार्टी" है और वे "दलालों की भाप" का इस्तेमाल करने लगे। संघीय उप समिति के अध्यक्ष के रूप में उनका कथन था कि कोई भी संविधान सफल नहीं हो सकता जब तक वह मुसलमानों एवं दूसरे अल्पमत वाले लोगों को सुरक्षा प्रदान नहीं करता।" वे इस बात पर जोर देने लगे कि मुसलमान अलग राष्ट्र है। उन्हें अपनी संस्कृति और अलग व्यक्तित्व की रक्षा करनी चाहिए। उन्होंने कहा कि हिन्दू अतिवाद मुसलमानों के अस्तित्व के लिये खतरा है। उन्होंने कांग्रेस को एक हिन्दू दल बताया जो हिन्दू राज संस्थापित करना चाहती थी। उन्होंने कहा कि प्रजातंत्र की स्थापना का अर्थ मुसलमानों का सर्वनाश होगा।

प्रायः इसी समय कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के मुसलमान विद्यार्थी एक अलग राज्य के रूप में पाकिस्तान के संस्थापन के लिये आन्दोलन की शुरुआत कर रहे थे। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक विद्यार्थी रहमत अली पाकिस्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव डाली। शायर इकबाल से वह प्रभावित हुआ। उसने एक पुस्तिका लिखी "अभी, अथवा कभी नहीं" क्या हम जीयें या मिट जायें। उसने पाकिस्तान के निर्माण के लिये प्रयत्न किया जिसमें संभवतया निम्नलिखित प्रदेश होते—पंजाब, सीमाप्रान्त (अफगानिस्तान) काश्मीर, सिन्ध और बिलोचीस्तान। 4 मार्च, 1934 को मुस्लिम लीग की दिल्ली में बैठक हुई जिसका उद्देश्य दल में एकता का संस्थापन करना था। ब्रिटिश तत्वों को इसने भयभीत कर दिया। यद्यपि वे सांप्रदायिक पंचाट (कम्यूनलअवार्ड) का समर्थन करते थे जिसका कांग्रेस विरोध करती थी तो भी जब मतदान हुआ तो वे तटस्थ रहे। रहमत अली की पाकिस्तान की मांग की वे लगातार उपेक्षा करते रहे साथ ही उनके क्रोधपूर्ण आक्रमणों की 1937 में भी उन्होंने अनदेखी की, पर 1937 के चुनाव अभियान के समय उन्होंने अपनी स्थिति में परिवर्तन कर लिया।

उन्होंने आगे चलकर इस बात पर जोर दिया कि हिन्दू और मुसलमानों में "ऐतिहासिक" एवं सांस्कृतिक फर्क है। उनकी मान्यता थी कि हिन्दू धर्म एवं मुस्लिम धर्म दो पूर्णरूपेण अलग-अलग सभ्यतायें हैं। वे विभिन्न धर्मों से संबंधित हैं, दर्शन भी भिन्न हैं। इसके साथ-साथ रीति-रिवाज अलग हैं तथा उनका साहित्य भी स्पष्ट रूप से भिन्न प्रकृति का है। एक दूसरे ने विवाह संबंध नहीं करते तथा एक दूसरे का खाना नहीं खाते। वे दो विभिन्न समाजों से संबंधित हैं। 1937 के चुनाव अभियान में जवाहरलाल नेहरू ने मुस्लिम लीग के अस्तित्व को नहीं माना। जिन्ना ने नेहरू के इस दृष्टिकोण पर प्रतिक्रिया व्यक्त की तथा कहा "यहां एक तीसरा दल (कांग्रेस और सरकार के अलावा) इस देश में है वह है मुसलमान"। उन्होंने कांग्रेस को मुसलमानों को अलग छोड़ने की बात कही"। अक्टूबर, 1937 के अखिल भारतीय मुस्लिम सम्मेलन में जिन्ना ने शिकायत की कि हिन्दू वर्चस्व वाले इलाकों में कांग्रेस मुस्लिम लीग से भेदभाव बरतती है। उन्होंने मुसलमानों की एक जनपार्टी बनाने का काम प्रारंभ किया। ये 1938 एवं 1939 में उनकी प्राथमिकतायें थीं। मुस्लिम लीग की सदस्य संख्या कई गुनी बढ़ चली। यहां कार्य लखनऊ सम्मेलन 1939 और लाहौर सम्मेलन 1940 के बीच हुआ। उन्होंने अब भी ऐसे भारत के लिये प्रयत्न किया जो स्वतंत्रता से भरा होने पर जहां मुसलमानों के हित सुरक्षित हों। उन्होंने कांग्रेस की निन्दा "वन्दे मातरम्" (माता को प्रणाम) लादने के लिये की। उन्होंने भारत के मुसलमानों की तुलना "अफ्रीका के निग्रो" और "दासों" से की। यह बात जनवरी, 1938 की है। अप्रैल, 1938 में उन्होंने कांग्रेस को एक "हिन्दू दल" बताया। 20 मार्च 1940 को जिन्ना ने भारत का विभाजन "स्वतंत्र एवं स्वशासी राष्ट्रीय राज्यों" में करने की मांग की। उन्होंने पाकिस्तान शब्द का इस्तेमाल नहीं किया। जब जिन्ना ने लाहौर में अपना भाषण समाप्त किया तो ऐतिहासिक पाकिस्तान प्रस्ताव का निर्माण किया गया। जिन्ना का कहना था कि हिन्दू महासभा के हिन्दू नेता मुसलमानों को "जर्मनी के यहूदियों" की तरह समझते हैं। जिन्ना ने "भारत छोड़ो" मांग को एक ऐसा प्रयत्न माना कि वह मुसलमानों को बलपूर्वक आत्मसमर्पण पर मजबूर कर और कांग्रेस की शर्तें मानने पर बाध्य हों।

जिन्ना की मान्यता थी कि "मुसलमान राजनीति से धर्म को अलग नहीं कर सकते.....

इसलिये हिन्दू-मुस्लिम एकता या राष्ट्रवाद जो हिन्दू-मुसलमानों की गैर-धार्मिक मसलों में एकरूपता पर आधारित हों कल्पना के बतक की बात है।" इसलिए मुसलमानों के लिये एक अलग गृहभूमि की मांग की गयी। जिन्ना ने मुसलमानों को उपदेश दिया कि वे पाकिस्तान पाने के लिये युद्ध के लिये तैयार हो जायें। यह बात बिलोचीस्तान में जुलाई, 1948 में उन्होंने कही। सन् 1940 में उन्होंने मुसलमानों को याद दिलाया कि पिछले दशकों में उन्हें जिस प्रकार के भेदभाव का शिकार होना पड़ा है। जिन्ना ने मार्च 23, 1944 को पाकिस्तान दिवस पर अपने संदेश में कहा–

"पाकिस्तान हमारी पहुंच में हैं......
इन्शाअल्लाह हम विजयी होंगे"

अक्टूबर, 1945 में अहमदाबाद में एक सभा में जिन्ना ने कहा–
"पाकिस्तांन हमारे लिये जीवन मरण का प्रश्न है"। 1945 के चुनाव में अभियान के समय उन्होंने पाकिस्तान की मांग की।

जून 20, 1947 बंगाल विधानसभा के सदस्यों ने बहुमत से बंगाल के विभाजन के लिये मतदान किया बाद में यही बात सिन्ध में हुई। विभाजन समिति का निर्माण किया गया। अलग मुस्लिम राष्ट्रवाद का जन्म उस समय से पूर्व में ही हो चुका था जब जिन्ना ने इसकी वकालत शुरू की। पर जब तक जिन्ना ने इसका समर्थन नहीं किया तब तक अलग मुस्लिम राष्ट्रवाद का चरित्र और तत्व मूलतः सांस्कृतिक ही थे। जिन्ना ने इसे राजनैतिक हथियार बनाया ताकि पाकिस्तान रूपी नये राज्य का निर्माण किया जा सके। उन्होंने द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त को सैद्धान्तिक एवं धार्मिक जामा पहिनाया।

जिन्ना ने द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त में अपनी उदार प्रजातंत्र की पूर्व की धारणा को विकृत कर दिया। जनंतत्र की उनकी नई अवधारणा मुसलमानों के लिये अलग राज्य संस्थापन तक सीमित थी। उन्होंने इस्लाम में आध्यात्मिक प्रजातंत्र के स्वरूप को अस्वीकार नहीं किया। उन्होंने पश्चिमी तरह के प्रजातंत्र को भारत में लागू करने का विरोध किया। उनके अनुसार भारत प्रजातंत्र के योग्य नहीं था। उनका कथन था कि लोगों में अधिकांश पूर्णरूप से अज्ञानी, अशिक्षित, अदीक्षित हैं तथा वे सबसे खराब किस्म के पुराने अन्धविश्वासों में जिन्दगी बिताते हैं, वे पूर्णरूप से एक दूसरे के विरोधी हैं, सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से..... इसलिये भारत में संसदीय सरकार चलाना असंभव है।" भारत में बहुमत का राज्य प्रताड़नात्मक होगा। मुसलमानों का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन कष्टमय बन जायेगा। उन्होंने कहा कि संयुक्त मताधिकार से अल्पमत वाले समुदाय दास बन जायेंगे एवं उनका सर्वविनाश हो जायेगा। अलीगढ़ आन्दोलन के इस स्वरूप ने जिसे जिन्ना ने पूर्व में अस्वीकृत कर दिया था उनके बाद के विचारों और राजनीति को प्रभावित किया।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी: i) हर प्रश्न के नीचे के स्थान को अपने उत्तर के लिये काम में लो।
ii) इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर को जाँचें।

1) राष्ट्रवाद की अवधारणा पर जिन्ना के दृष्टिकोण का विवेचन कीजिये।

....
....
....
....
....
....

2) द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त पर जिन्ना के दृष्टिकोण को स्पष्ट करें।

....
....
....

....

....

....

18.5 अबुल कलाम आज़ाद

आज़ाद पूर्व एवं पश्चिम के समन्वय का प्रतिनिधित्व करते थे। वे धर्म को तर्क के साथ मिलाते थे। अलीगढ़ आन्दोलन से उनके मूलभूत विरोध थे। उनका यह विश्वास नहीं था कि हिन्दू बहुमत अपना वर्चस्व स्थापित कर लेगा जिससे मुसलमानों एवं दूसरे अल्पसंख्यकों का व्यक्तित्व नष्ट हो जायेगा। 1905 से पूर्व वे ब्रिटिश राज के विरोधी नहीं थे। उनके पहले के राजनैतिक विचारों का स्वरूप उनकी इस्लाम की अवधारणा से सुनिश्चित हुआ था। वे इस्लाम को सभी कार्यों के लिये पथ प्रदर्शक मानते थे। जिनसे सभी समस्याओं का समाधान संभव था। आज़ाद के अनुसार, इस्लाम धर्म में धर्म एवं राजनीति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

18.5.1 अबुल कलाम आज़ाद के विचारों का स्वच्छन्दतावादी काल (रोमांटिक फेज़)

आज़ाद का विचार था कि कुरान को समझने से जीवन के राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुनर्निर्माण में सहायता मिलती है। वे अपने राजनैतिक विचारों को ''अल हिलाल'' में प्रकाशित करते थे जो उनके विचारों के ''स्वच्छन्द (रोमांटिक) या स्वच्छन्दतावादी अविध को प्रकट करते थे। वे परमात्मा की प्रभुसत्ता पर पूर्ण विश्वास करते थे तथा देवी साम्राज्य के संस्थापन में विश्वास रखते थे। साथ ही शान्ति एवं भले प्रशासन एवं सत्य की सर्वोच्चता में विश्वास करते थे। उनकी दृष्टि में परमात्मा में विश्वास करने वाले ''परमात्मा के मित्र'' थे एवं अनीश्वरवादी ''शैतान के दोस्त'' थे। परमात्मा के मित्र सत्य के लिए मरने को तैयार रहते थे। वे इस तथा दूसरे जीवन में किसी भी चीज से भयभीत नहीं होते थे। ''शैतान के दोस्त'' शक्ति का सहारा लेते हैं तथा सत्य से प्रेम नहीं करते।

उनका विचार था भारत में प्रजातंत्र के आमूल चूल परिवर्तन की आवश्यकता है। इसे प्राप्त करने के लिये यह जरूरी है कि ''परमात्मा के मित्र'' अपने आपको एक परमात्मा की पार्टी के रूप में संगठित करें। उनका विश्वास था कि इस्लाम पूर्ण एकता, स्वतंत्रता, सहनशीलता, भावनाओं की तथा विचारों के प्रकटीकरण की स्वतंत्रता, मातृत्व एवं बन्धुता सुनिश्चित करता है। सन् 1914 में उन्होंने उलेमाओं के संगठन का उपयोग किया ताकि वे इस्लाम के पक्ष को आगे बढ़ायें। उन्होंने राजनीति के एक क्रमबद्ध इस्लामिक सिद्धान्त का विकास स्वच्छन्दतावादी के आधार पर किया। संभवतः वे अकेले मुस्लिम बुद्धिवादी थे जिन्होंने यह काम किया। प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त तक आज़ाद ने इस उद्देश्य को पाला-पोसा एवं इसका अनुसरण किया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद उन्होंने यह अनुभव किया कि राजनीति में स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण से वांछनीय फल की प्राप्ति नहीं होती है। आगे चलकर वो सामन्तशाही के कट्टर विरोधी हो गये। उन्होंने देशवासियों में एकता की वकालत की। उन्होंने कहा कि राष्ट्रवाद मुस्लिम धर्म की भावना के अनुकूल है। उन्होंने सर्व-इस्लामावाद को गलत नाम वाला बताया। उन्होंने चाहा कि मुसलमान कांग्रेस में सम्मिलित हों। उन्होंने कहा कि अगर मुसलमान कांग्रेस में सम्मिलित होंगे तो यह इस्लाम विरोधी कदम नहीं होगा। उनके विचारों के स्वच्छंदतावादी काल के अन्त में आज़ाद की यह भावना दृढ़ हुई। जलियांवाला बाग दुखान्तिका तथा खिलाफ आन्दोलन के अन्त में स्वच्छंदतावादी में उनके विश्वास को डिगा दिया।

18.5.2 राष्ट्रवाद

आज़ाद के अनुसार भारतीय राष्ट्रवाद न तो हिन्दू तथा न मुस्लिम था। यह धर्म-निरपेक्ष था तथा हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय था। वे इस्लाम की वकालत उसके उदार एवं मुस्लिम स्वरूप के कारण करते थे। वे अब पश्चिमी सभ्यता के विरोधी नहीं

थे। उनकी मान्यता थी कि धर्म और तर्क एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। आज़ाद के राष्ट्रवाद के दो स्वरूप हैं। पहला उनका ब्रिटेन के प्रति दृष्टिकोण, दूसरा अपने देशवासियों के प्रति उनका दृष्टिकोण। 1905 तक आज़ाद ब्रिटेन विरोधी नही थे। उन पर सर सैयद अहमद खान का प्रभाव पड़ा। यद्यपि वे अलीगढ़ आन्दोलन के दर्शन में विश्वास नहीं करते थे। आगे चलकर वे ब्रिटेन के बारे में पूर्व धारणा छोड़ चले और साम्राज्यवाद विरोधी बन गये। खिलाफत आंदोलन के अन्त तक यद्यपि आज़ाद ने हिन्दू-मुस्लिम एकता को बढ़ावा दिया तो भी इस्लामाबाद के वे प्रभाव में रहे। वे अब भी मुसलमानों के लिये एक अलग दल चाहते थे।

जलियांवाला कांड एवं खिलाफत आंदोलन के बाद उनके गांधीजी के सम्पर्क में आने के बाद उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि हिन्दू और मुसलमान एक राष्ट्रीयता के तत्व हैं। उन्होंने अनुभव किया कि राष्ट्रवाद एक बड़ी ताकत हो सकता है अगर उसे धार्मिक कट्टरता से मुक्त रखा जाये तथा इसी प्रकार संकीर्ण मनोवृत्ति से ऊपर रखा जाये। गांधी जी ने कहा कि आज़ाद का राष्ट्रवाद में विश्वास "उतना ही दृढ़ है जितना इस्लाम धर्म में उनका विश्वास"। आज़ाद हिन्दू एवं मुसलमानों के मध्य एकता में विश्वास करते थे तथा उनके विचार से इससे भारत में राष्ट्रवाद आ सकता था। धार्मिक आधारों पर वे भारत के विभाजन के विरोधी थे।

उदारवादियों के विपरीत उनका विश्वास था कि अगर राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये संवैधानिक साधन सफल नहीं हों तो हिंसा का सहारा लिया जा सकता है। अहिंसा उनके लिये एक नीतिगण मामला था कोई धर्म नहीं था।

18.5.3 प्रजातंत्र

अलहिलाल के स्वच्छंदतावादी काल (रोमांटिक फेज) में वे प्रजातंत्र का पक्ष करते थे। स्वच्छन्दतावाद को छोड़ने के बाद भी वे प्रजातंत्र के कट्टर पक्षधर रहे। अपने विचारों के स्वच्छंदतावादी एवं बाद के काल में उन्होंने दो विभिन्न प्रकार के विचारों को सामने रखा।

पहले काल में वे प्रजातंत्र को जीवन का प्रकार नहीं मानते थे। वे इस्लाम को सच्चे एवं पूर्ण धर्म के रूप में मानकर चलते थे। वे मोहम्मद साहब को "मानव के कल्याणकारी मूल्यों का व्यक्तिकरण मानते थे। उनका विचार था कि एकता और परमात्मा की प्रभुसत्ता तथा धार्मिक क्रम की वर्चस्वता वस्तुतः प्रजातंत्र के वास्तविक तत्व हैं।

परमात्मा की एकता का अर्थ इस्लाम की प्रभुसत्ता थी। जिसका उद्देश्य मानव की प्रभुसत्ता खत्म करना था। उनके लिए प्रजातंत्र लोगों की इच्छा पर निर्भर था जिसे सहनशीलता, एकता और स्वतंत्रता का सहारा हो। हर सवाल में व्यक्ति के विकास के लिये स्वतंत्रता पहली आवश्यकता थी। उन्होंने कहा कि स्वतंत्रता के अभाव का परिणाम दासता थी जो इस्लामिक सिद्धान्तों के विपरीत है। पर उनका कहना था कि युद्ध काल में स्वतंत्रता में कमी की जा सकती है। उनकी मान्यता थी कि अमर्यादित स्वतंत्रता बदतर नाम है। स्वतंत्रता इस्लाम धर्म में विश्वास और काम चाहती है। यही कारण था कि उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को सहयोग दिया।

आज़ाद का कहना था कि इस्लाम एकता के मूल्य को स्वीकार करता है। उन्होंने कहा "इस्लाम जातिगत और राष्ट्रीय भेदों को दूर करता है तथा दुनिया को बताता है कि सभी मानव एक समान पद रखते हैं और समान अधिकार रखते हैं। इसकी घोषणा है कि उच्चता जाति में निहित नहीं है न वे राष्ट्रीयता और रंग में हैं। सही कार्यों का ही मूल्य होता है तथा वह मानव सबसे उदार और महान होता है जो अपना कार्य सही ढंग से करता है"। इस प्रकार इस्लामी एकता की धारणा यांत्रिक नहीं है पर आध्यात्मिक अवधारणा है।

मोहम्मद की प्रभुसत्ता एवं खलीफ विधान एकता के पूर्ण स्वरूप हैं एवं सिर्फ यही सारे राष्ट्र की स्वतंत्र इच्छा, एकता, मताधिकार तथा चुनाव का स्वरूप ग्रहण कर सकते हैं। यही कारण है कि किसी भी राष्ट्र के सम्राट एवं प्रजातंत्र के अध्यक्ष का खलीफ कहा जाता है। खलीफ का शाब्दिक अर्थ, प्रतिनिधित्व न कम न थोड़ा है। यह स्त्रियों को पूर्ण अधिकार देता है तथा उन्हें पदों के समकक्ष रखता है। इस्लाम पश्चिम से श्रेष्ठ है। पश्चिम की

एकता की पद्धति वास्तविक नहीं है। जीवन का इस्लामिक तरीका समानता, आर्थिक एवं राजनैतिक से भरा हुआ है।

18.5.4 अबुल कलाम आज़ाद के विचारों का उत्तर स्वच्छन्दतावादी काल (पोस्ट रोमांटिक फेज़)

उत्तर स्वच्छंदतावादी काल में उनके विचार इस्लाम तक सीमित नहीं थे। वे पश्चिम के प्रभाव में फैले। वे लोगों की प्रभुसत्ता में विश्वास करते थे। वे कहते थे कि देश लोगों का है। सभी लोगों के समान अधिकार हैं। खलीफा या राज्य का प्रधान जनता द्वारा चुना जाना चाहियें। राज्य के प्रधान को जनता के संबंध में विशेष अधिकारों की मांग नहीं करनी चाहिये। राज्य के प्रधान को अन्तर्दृष्टि रखने वाले लोगों से विचार करना चाहिये जहां तक प्रशासनिक एवं कानूनी मुद्दों का सवाल है। देश के कोष को लोगों की अधिकार वस्तु एवं उनके धन के रूप में देखा जाना चाहिये। उन्होंने भारत में संसदीय प्रणाली की सरकार के संस्थापन का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि राष्ट्रीय सरकार "मंत्रिमंडलीय सरकार" होनी चाहिये। पर उन्होंने विशुद्ध बौद्धिक धरातल पर कभी भी संसदीय एवं राष्ट्रपति प्रणालियों के गुण-दोष पर विचार-विमर्श नहीं किया। वे संघवाद में विश्वास करते थे। वे राज्यों के लिये अधिक स्वायत्तता के पक्षधर थे।

18.6 सारांश

सर सैयद अहमद खान, मोहम्मद इकबाल, मोहम्मद अली जिन्ना तथा मौलाना अबुल कलाम आज़ाद का राजनीतिक चिन्तन प्रमुख रूप से अग्रांकित बिन्दुओं पर प्रकाश डालता है–(1) इस्लाम तथा पाश्चात्य राजनीतिक अवधारणाओं यथा–प्रजातंत्र, राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रीयता से संबंधित मुद्दों में संबंध, (2) इस्लाम तथा हिन्दुत्व में संबंध, (3) हिन्दुओं तथ मुसलमानों में संबंध, तथा (4) ब्रितानिया (ब्रिटिश) के प्रति रूख। सर सैयद अहमद खान प्रारंभ में हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षधर रहे। किंतु बाद में उन्होंने अपना दृष्टिकोण बदल दिया तथा वे द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हो गये। यहां तक कि भारत में प्रजातंत्र के सिद्धान्तों को प्रारम्भ करने के भी विरुद्ध हो गये। "अहं" या आत्मानुशासन तथा आत्म सिद्धान्त इकबाल के राजनीतिक चिन्तन के आधारभूत सिद्धान्त हैं। वे प्रजातंत्र की पाश्चात्य अवधारणा के कटु आलोचक थे। उनके अनुसार, राष्ट्रवाद एक ऐसी राजनीतिक अवधारणा है जिसका साधारणतया धर्म से टकराव हो जाता है। हालांकि उन्होंने राष्ट्रवाद का समर्थन किया बशर्ते, कि उसका उद्देश्य स्वतंत्रता प्राप्ति हो। धर्म सबसे अधिक एकता स्थापित करने वाला तत्व है। उन्होंने कहा कि हिन्दू तथा मुसलमान पृथक-पृथक दो राष्ट्र हैं। जबकि द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त के संबंध में उनका दृष्टिकोण अस्पष्ट है। तथा उन्होंने मुसलमानों के लिए "राज्य के अन्दर राज्य" (अर्थात् देश के अन्दर प्रान्त) की मांग की थी। उनका यह दृष्टिकोण मुस्लिम लीग के लिए प्रेरणादायक स्रोत बन गया था। उन्होंने मत व्यक्त किया कि इस्लाम के अंतर्गत प्रजातंत्र के सभी महत्वपूर्ण आयाम अन्तर्निहित हैं तथा उसे उन्होंने इस्लामिक प्रजातंत्र की संज्ञा दी।

जिन्ना अपने जीवन के प्रारंभिक काल में उदारवादी थे। उनके धर्म तथा राजनीति से संबंधित विचारों पर उदारवाद की झलक थी। इस काल में उनकी मान्यता थी कि भारत केवल एक राष्ट्र है। लेकिन नेहरू तथा साइमन आयोग के प्रतिवेदनों के पश्चात् वे द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त के घनघोर समर्थक हो गये। उनके पश्चातवर्ती दृष्टिकोण ने उनके पूर्ववर्ती प्रजातंत्र के उदारवादी अवगम (बोध) को भी विकृत कर दिया।

अन्य तीन नेताओं के विपरीत आज़ाद की मान्यता थी कि भारतीय राष्ट्रवाद धर्मनिरपेक्ष था तथा हिन्दू एवं मुस्लिम सभ्यताओं का संश्लेषण था। वे पूर्व तथा पश्चिम के संश्लेषण के पक्षधर थे। उन्होंने पाश्चात्य प्रजातंत्र की अवधारणाओं का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि प्रजातंत्र की यह अवधारणा इस्लाम के सिद्धान्तों के प्रतिकूल नहीं हैं।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी: i) नीचे दिये गये स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग कीजिये।
ii) अपने उत्तर को इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तर के आधार पर जाँचें।

1) राष्ट्रवाद के संबंध में आज़ाद के दृष्टिकोण का विवेचन कीजिये।

....
....
....
....
....
....
....

2) प्रजातंत्र के संबंध में आज़ाद के दृष्टिकोण का विवेचन कीजिये।

....
....
....
....
....
....

18.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

वी.एन. दत्ता **मौलाना आज़ाद**, (न्यू देहली), मनोहर, 1970।

गांधी, राजमोहन, **ऐट लाइव्ज़: ए स्टडी ऑफ हिन्दू-मुस्लिम एनकाउन्टर**, न्यू देहली, रॉली बुक्स इन्टरनेशनल, 1985।

हसन, मुशीरूल (एडी.) **कम्यूनिज़्म एण्ड पैन इस्लामिक ट्रेण्डस इन कॉलानियल इण्डिया**, न्यू देहली, मनोहर, 1985।

जलाल, आयेशा, **सोल स्पोक्समैन: जिन्ना, द मुस्लिम लीग एण्ड द डिमाण्ड फॉर पाकिस्तान**, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1985।

स्कीमैल, एन्नेमेरी, **ग्रेबीयल सविंग: ए स्टडी इनटू द रिलीजियस आईडियाज़ ऑफ सर सैयद मोहम्मद इकबाल**, लीडेन, ई.जे. ब्रिल, 1964।

वोलपर्ट, स्टेनले, **जिन्ना ऑफ पाकिस्तान**, न्यू यॉर्क, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984।

मोइन शाकिर, **फ्रॉम खिलाफत टू पार्टिशन**।

18.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखिए अनुच्छेद, 18.2.2
2) देखिए अनुच्छेद, 18.2.2

बोध प्रश्न 2

1) देखिए अनुच्छेद 18.3.3
2) देखिए अनुच्छेद 18.3.4 तथा 18.3.5

बोध प्रश्न 3

1) देखिए अनुच्छेद 18.4.2 तथा 18.4.3

बोध प्रश्न 4

देखिए अनुच्छेद, 18.5.2 तथा 18.5.3

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

CSSPS-104
आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारधारा

खंड

3

गाँधीवाद : विकास और चरित्र

इकाई 19 65

स्वराज की अवधारणा, सत्याग्रह और पश्चिमी सभ्यता की आलोचना

इकाई 20 82

सर्वोदय और गाँधीवादी विकल्प

इकाई 21 88

गाँधीवादी सामाजिक सुधार : भूदान आंदोलन

विशेषज्ञ समिति

प्रो. इकबाल नारायण (अध्यक्ष)
उपकुलपति
उत्तर-पूर्वी हिल विश्वविद्यालय
शिलांग

प्रो. के. मधुसूदन रेड्डी
राजनीति शास्त्र विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

प्रो. मनोरंजन मोहन्ती
राजनीति शास्त्र विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. ए. पी. राना
राजनीति शास्त्र विभाग
एम.एस. विश्वविद्यालय
बड़ौदा

प्रो. रशीदुद्दीन खां
तृतीय विश्व अध्ययन अकादमी
जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. शोभनलाल दत्त गुप्ता
रीडर, राजनीति शास्त्र विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता

प्रो. आर.एस. मोरखंडिकर (संयोजक)
सामाजिक विज्ञान संस्थान (भूतपूर्व निदेशक)
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

पाठ्यक्रम निर्माण दल

डॉ. बी. एन. बैनर्जी
रीडर 3 समाजशास्त्र विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता

डॉ. भगवान जोश
सी.एच.एस.
जे.एन.यू.
नई दिल्ली

श्रीमती विधु वर्मा
राजनीति विज्ञान विभाग
गार्गी कॉलेज
नई दिल्ली

डॉ. राधाकांत बारिक
रीडर, आइ.आइ.पी.ए.
नई दिल्ली

डॉ. शोभनलाल दत्ता गुप्ता
राजनीति विज्ञान विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता

डॉ. जगपाल सिंह
परामर्शदाता (राजनीति विज्ञान)
इग्नू, नई दिल्ली

श्री आदित्य निगम
परामर्शदाता (राजनीति विज्ञान)
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. पांडव नायक
निदेशक, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

डॉ. दरवेश गोपाल
राजनीति विज्ञान विभाग
इग्नू, नई दिल्ली

श्री अनुराग जोशी
राजनीति विज्ञान विभाग
(पाठ्यक्रम समन्वयकर्ता)
इग्नू, नई दिल्ली

श्री एस. विजयशेखर रेड्डी
राजनीति विज्ञान विभाग
इग्नू, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम संपादक

प्रो. के. एन. पन्निकर
ऐतिहासिक अध्ययन केंद्र
जे.एन.यू.
नई दिल्ली

अनुवाद

श्री आनंद कुशवाहा
नई दिल्ली

श्री ईश नारायण मिश्र
नई दिल्ली

सामग्री निर्माण

श्री बालकृष्ण सेल्वराज
कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

फरवरी-1992 (Reprint)

© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1991.

ISBN-81-7263-004-2

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

खंड की भूमिका/प्रस्तावना

इस खंड में तीन इकाइयाँ हैं, जिनमें भारतीय संघ के बारे में कहा गया है। राजनीतिक व्यवस्था के सुचारू रूप से कार्यान्वयन के लिए प्रशासन के कई स्तर होते हैं। भारत में इनके तीन स्तर हैं—केन्द्र, राज्य और स्थानीय प्रशासन। यद्यपि वे एक ही राजनीतिक व्यवस्था के अंग हैं, परन्तु कुछ हद तक वे एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। इस खंड में केन्द्र और राज्य के सम्बधों के बारे में प्रकाश डाला गया है। साथ ही केन्द्र के प्रति राज्यों की राजनीति और उनकी माँगों पर भी ज़ोर दिया गया है। यह खंड न केवल केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के संवैधानिक प्रावधान और सांगठनिक-व्यवस्था की चर्चा करता है, बल्कि व्यवहारिक क्षेत्र में उनके सम्बंधों की परिवर्तनशीलता के बारे में भी बताता है। यह खंड राज्य स्तर पर उत्पन्न होने वाली राजनीतिक प्रक्रियाओं की विशेष प्रवृत्तियों को भी सामने रखता है।

इकाई 16 संघीय व्यवस्था का अर्थ और उसकी अवधारणा की व्याख्या करने के साथ ही भारतीय संघ व्यवस्था की विशेषताओं पर प्रकाश डालती है। यह भारतीय संघ व्यवस्था के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करती है और विकास को प्रभावित करने वाले विभिन्न तथ्यों की व्याख्या करती है। भारतीय संघ व्यवस्था में तनाव पैदा करने वाले विभिन्न मसलों की भी चर्चा इस इकाई में की जायेगी।

इकाई 17 भारतीय संघीय व्यवस्था की प्रचलित प्रकृति की चर्चा करेगी, केन्द्र और राज्य के अधिकार क्षेत्रों के फर्क को बताएंगी और केन्द्र राज्य में मतभेद पैदा करने वाले प्रमुख कारणों पर दृष्टिपात करेगी।

इकाई 18 भारत में राज्य की राजनीति का अर्थ, उसका महत्त्व और राष्ट्रीय राजनीति से उसके सम्बन्धों की व्याख्या करेगी। यह राज्य-राजनीति के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले स्वरूपों और प्रवृत्तियों की चर्चा करेगी और साथ ही राजनीतिक प्रक्रिया में उनके परिणामों के बारे में भी बताएगी।

इकाई 19 स्वराज की अवधारणा, सत्याग्रह और पश्चिमी सभ्यता की आलोचना

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 सभ्यतागत औचित्य और अंग्रेज़ी शासन
19.2.1 अंग्रेज़ी शासन की वैधता के संबंध में गाँधी, उग्रवादी एवं नरमपंथियों के विचार
19.3 हिन्द स्वराज के बारे में गाँधी के विचार
19.3.1 गाँधी, उग्रवाद एवं ब्रिटिश साम्राज्यवाद
19.3.2 गाँधी, नरमपंथी एवं ब्रिटिश साम्राज्यवाद
19.3.3 स्वराज पर गाँधी के विचार
19.4 आधुनिक सभ्यता के संबंध में गाँधी की समीक्षा
19.4.1 गाँधी पर पश्चिमी प्रभाव
19.4.2 सच्ची सभ्यता का अर्थ
19.4.3 आधुनिक सभ्यता की समीक्षा
19.5 स्वराज के राजनैतिक, आर्थिक और नैतिक आयाम
19.5.1 परिभाषा और अर्थ
19.5.2 स्वराज या सहयोगी प्रजातंत्र
19.5.3 स्वराज और स्वतंत्रता
19.5.4 पूर्ण स्वराज
19.5.5 पूर्ण स्वराज : आर्थिक आयाम
19.6 आधुनिक सभ्यता और स्वराज पर गाँधी के संशोधित विचार
19.6.1 आधुनिक उदारतावाद द्वारा नागरिक स्वाधीनता की चिरकालिक प्रशंसा
19.6.2 गाँधी राज
19.7 सत्याग्रह
19.7.1 आरम्भिक प्रयोग
19.7.2 अर्थ
19.7.3 आधारगत सिद्धांत
19.7.4 अहिंसा और सत्याग्रह
19.7.5 तपस
19.8 गाँधीवादी विचारों पर कुछ आलोचनात्मक टिप्पणियाँ
19.8.1 पश्चिमी आधुनिकता के प्रति रवैया
19.8.2 सत्याग्रह की अव्यावहारिकता
19.8.3 पश्चिमी विचारकों द्वारा मूल्यांकन
19.9 सारांश
19.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
19.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है, यह इकाई महात्मा गाँधी पर केन्द्रित है। आधुनिक सभ्यता, स्वराज एवं सत्याग्रह के बारे में गाँधी की अवधारणा तथा पश्चिमी सभ्यता की उनकी समीक्षा पर इस इकाई में विचार किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- आधुनिक सभ्यता के बारे में गाँधी के विचारों को रेखांकित कर सकेंगे,
- स्वराज और सत्याग्रह की उनकी अवधारणा की विवेचना कर सकेंगे,
- पश्चिम के बारे में गाँधी की समीक्षा का मूल्यांकन कर सकेंगे, और
- आज के भारत में उनकी प्रासंगिकता पर विचार कर सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

इस इकाई में मुख्य रूप से आप गाँधी की स्वराज एवं सत्याग्रह की अवधारणा तथा उनकी पश्चिमी सभ्यता की समीक्षा का अध्ययन करेंगे। इस इकाई के द्वारा गाँधीवादी विचारधारा के मुख्य अवधारणाओं से आपका परिचय होगा।

19.2 सभ्यतागत औचित्य और अंग्रेज़ी शासन

इंग्लैंड के गृह-सचिव पर जैसन हिक्स ने 1924 में कहा था "हम लोगों ने भारत को भारतीयों के हित के लिए नहीं जीता था, हम लोगों ने भारत को जीता था, ग्रेट ब्रिटेन के माल के बाज़ार के लिए। हम लोगों ने भारत को जीता और तलवार की नोक पर उसे दबोचे रखा क्योंकि ब्रिटिश मालों के लिए और विशेषकर लंकाशायर के सूती सामानों के लिए यह एक अनमोल बाज़ार था"।

यद्यपि कुछ अंग्रेज़ सिद्धांतकार एवं राजनयिक ऐसा मानते हैं कि वे भारत में अपने हित के लिए नहीं, बल्कि, भारतीय हितों के लिए मौजूद थे। वे ऐसा दावा करते हैं कि एक नैतिक दायित्व समझकर ही श्वेत लोग भारतीयों को सुसभ्य, सुसंस्कृत एवं आधुनिक बनाने के लिए यहाँ आए थे। ऐसे मानने वालों में एक लार्ड कर्ज़न थे जो 1898 से 1905 के बीच भारत के वायसराय रहे थे। 1905 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में उन्होंने कहा था: "पूर्व में प्रतिष्ठित होने के बहुत पहले से ही पश्चिम के नैतिक विधान में सत्य का बहुत ही महत्वपूर्ण रुझान था, जबकि पूर्व में हमेशा से ही राजनयिक चरित्रहीनता एवं दुष्टता का बोलबाला रहा था"। एक दूसरे अवसर पर कर्जन का कहना था कि भारत को स्वराज या तो ब्रिटिश संसद के सहारे मिलेगा या हिंसा के द्वारा।

महात्मा गाँधी ने कर्ज़न के इन दोनों दावों का जमकर विरोध किया। गाँधी का कहना था कि भारतीय संस्कृति में सत्य का आरम्भ से ही केन्द्रीय स्थान रहा है और सत्य और नैतिकता के मामले में अंग्रेज़ों का यह सर्वोच्चता का दावा बिल्कुल गलत है। कर्ज़न के विरुद्ध गाँधी जी ने यह दावा किया कि भारतीय स्वराज न तो ब्रिटिश संसद के द्वारा आएगा और न हिंसा के द्वारा, बल्कि भारतीय जनता की सीधे अहिंसक कार्यवाही (यानि सत्याग्रह के सहारे)।

19.2.1 अंग्रेज़ी शासन की वैधता के संबंध में गाँधी, उग्रपंथी एवं नरमपंथियों के विचार

गाँधी जी के विचारों की विशिष्टता को रेखांकित करने के पहले यहाँ यह कहना आवश्यक है कि उनके विचार न सिर्फ कर्ज़न के विचारों से अलग हैं बल्कि, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के अन्दर उग्रपंथियों और नरमपंथियों के विचारों से भी भिन्न हैं।

नरमपंथियों ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा भारत के "आर्थिक निर्गम" (Economic drain) के विरोधी थे लेकिन आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की सांस्कृतिक सर्वोच्चता को वे स्वीकार करते थे। वे पारस्परिक राजनैतिक तरीकों यानि, अर्जी और वैधानिक तरीकों द्वारा भारत को स्वतंत्र एवं आधुनिक बनाना चाहते थे। इसके विपरीत उग्रपंथी हिंसा एवं आतंकवादी तरीकों में आस्था रखते थे। इनके बीच जो पुनरुत्थानवादी थे, उन्होंने भारतीय परम्परा की सांस्कृतिक सर्वोच्चता का नारा दिया।

गाँधी ने उग्रपंथियों एवं नरमपंथियों के सिद्धांत एवं व्यवहार के कुछ पक्षों को स्वीकार किया और कुछ को खारिज कर दिया। यद्यपि उनका मानना था कि स्वराज प्राप्त करने का जो कार्यक्रम उनके पास हैं, उसमें उग्रपंथी और नरमपंथी दोनों एक अधिक बेहतर धरातल पर हाथ मिला सकते हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें

ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

1) ब्रिटिश शासन की वैधता के संबंध में गाँधी के विचार किन मायनों में उग्रपंथियों और नरमपंथियों से भिन्न थे?

....

....

....

19.3 हिन्द स्वराज के बारे में गाँधी के विचार

गाँधी ने अपने राजनैतिक विचारों को कई भाषणों और लेखन में अभिव्यक्त किया है, जिसमें सबसे महत्वपूर्ण 'हिन्द स्वराज' नामक वह पुस्तिका है जो उन्होंने गुजराती में सन् 1909 में लंदन से दक्षिण अफ्रीका वापस लौटने के दौरान ''किल्दोनाम कैसल'' में लिखा था। यह सर्वप्रथम गाँधी जी द्वारा ही सम्पादित एवं प्रकाशित हुयी थी। इस लेख में गाँधी ने लंदन में रहने वाले एक भारतीय अराजकतावादी को संबोधित किया था। भारतीय अराजकतावादी भारत में विदेशी शासन के विरुद्ध आतंकवादी विधियों का प्रयोग करने के पक्षधर थे। इनके अनुसार, एक बार विदेशी शासन से भारत मुक्त होने पर आधुनिकता का वही पश्चिमी ढाँचा जारी रखा जा सकता है। 'हिन्द स्वराज' लिखने के पीछे गाँधी जी का उद्देश्य अराजकतावादियों की हिंसक पद्धति एवं आधुनिक सभ्यता में सर्वोच्चता के दावों का विरोधी करना था।

19.3.1 गाँधी, उग्रवाद एवं ब्रिटिश साम्राज्यवाद

जैसा कि हम लोगों ने पिछले खंड में देखा, गाँधी उन उग्रपंथियों के विचारों से सहमत थे जो आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के नैतिक एवं सांस्कृतिक सर्वोच्चता के दावे को गलत मानते थे। लेकिन गाँधी भारतीय परम्परा के प्रति उनके पुनरुत्थानवादी एवं प्रतिक्रियावादी विचारों से असहमत थे। आतंक एवं हिंसा की उनकी विधियाँ भी गाँधी को नागवार गुजरती थीं। गाँधी का कहना था कि हिंसक या आतंकवादी गतिविधियाँ भारत या ब्रिटेन को सच्चे स्वराज या सच्ची सभ्यता के रास्ते पर नहीं ले जा सकती। भारतीय परम्परा के प्रति उग्रवादियों के प्रतिक्रियावादी एवं पुनरुत्थानवादी रवैये के बारे में गाँधी का मानना था कि यद्यपि भारतीय परम्परा में अहिंसा और सच्ची सभ्यता का भाव अन्निर्हित रहा है, लेकिन यह परम्परा भी इतिहास में पथभ्रष्ट हुई है। गाँधी ने लिखा था, ''हिन्दूवाद के दो पहलू हैं, एक ओर अस्पर्श्यता, पत्थरों या मूर्तियों का अन्धविश्वासपूर्ण पूजन वाली प्रथा इत्यादि से लिपटा ऐतिहासिक हिन्दूवाद है, तो दूसरी ओर पतंजलि के योगसूत्र, उपनिषद् एवं गीता का हिन्दूवाद है, जिसमें सृष्टि की एकता और एक ही अखण्ड, अरूप अविनाशी ईश्वर के पूजन एवं अहिंसा पर जोर दिया गया है''। सच्ची सभ्यता के आदर्श से च्युत भारतीय परम्परा के विचलन को रेखांकित करते हुए गाँधी ने अपने देशवासियों से आग्रह किया कि, ''सिर्फ अंग्रेजों को दोष देना निरर्थक है। वे हम लोगों की वजह से ही यहाँ आए और हम लोगों की वजह से यहाँ टिके हुए भी हैं और वे यहाँ से तभी जायेंगे या अपने व्यवहार को तभी बदलेंगे जब हम अपने को बदलेंगे''। विशेषकर उनका इस बात पर जोर था कि हम लोगों में अपने अज्ञान, पाखंड, दब्बूपन से चिपके रहने एवं देश के लिए बलिदान करने की भावना का जो अभाव है, उससे तत्काल उबरने की आवश्यकता है। स्वराज एवं सत्याग्रह की उनकी जो अवधारणा थी, वह भारतीयों एवं उनके औपनिवेशिकों, दोनों को सभ्य बनाने के आदर्श से प्रेरित थी। दूसरे शब्दों में, गाँधी का उद्देश्य था उपनिवेशों को औपनिवेशिक दासता से मुक्ति दिलाना तथा औपनिवेशिकों को फिर से सभ्य बनाना।

19.3.2 गाँधी, नरमपंथी एवं ब्रिटिश साम्राज्यवाद

भारत के अर्थतंत्र के साम्राज्यवादी निर्गम के संदर्भ में नरमपंथियों ने जो आलोचना की थी, गाँधी उससे सहमत थे लेकिन उनके द्वारा ब्रिटेन की आधुनिक सभ्यता की तथाकथित सांस्कृतिक सर्वोच्चता को स्वीकार करना गाँधी को मान्य नहीं था। उन्होंने हिन्द स्वराज में आधुनिक सभ्यता को सच्ची सभ्यता का ठीक प्रतिगामी माना था, क्योंकि सच्ची सभ्यता मानव के अच्छे व्यवहार एवं एक का दूसरे के प्रति नैतिक दायित्व का ही दूसरा नाम है। इस प्रतिमान पर देश की सभ्यतागत स्थिति को परखते हुए गाँधी ने लिखा था कि भारत पर जो शासन करने वाले अंग्रेज यहाँ आए थे, वे ''अंग्रेज़ी राष्ट्र के अच्छे नमूने नहीं थे'', ठीक उसी तरह जैसे अर्द्ध अंग्रेज़ीदां भारती सच्चे भारतीय राष्ट्र के अच्छे नमूने नहीं थे।

19.3.3 स्वराज पर गाँधी के विचार

गाँधी की स्वराज की अवधारणा अंग्रेजों के बगैर अंग्रेज़ी शासन की अवधारणा नहीं थी, लेक जैसा कि उन्होंने स्वीकार किया स्वराज और सच्ची सभ्यता की उनकी अवधारणा एडम नथ,

मिल या स्पेंसर जैसे आधुनिक पश्चिमी चिंतकों की धारणाओं के बदले थोरू, रस्किन एवं टौल्सटॉय जैसे आधुनिक पश्चिमी चिंतकों एवं पारम्परिक भारतीय विचार श्रेणियों से उत्पन्न हैं। भारतीय चिन्तन परम्परा से गाँधी ने सत्य और अहिंसा के संज्ञानात्मक मूल्यांकनपरक सिद्धांतों को ग्रहण किया जो हमारे राजनैतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी गतिविधियों में भी होने चाहिये। ऐसा गाँधी का मानना था। उन्होंने अपनी जीवनी 'सत्य के प्रयोग' में लिखा था, "सत्य मेरे लिए एक सर्वप्रमुख सिद्धांत है, जिसमें सैकड़ों दूसरे सिद्धांत समाहित हैं। इस सत्य का मतलब सिर्फ शब्दों की सच्चाई नहीं है, बल्कि विचारों में भी सच्चाई है, हमारी अवधारणाओं का सिर्फ सापेक्षिक सत्य नहीं है, बल्कि यह सत्य निरपेक्ष है, शाश्वत है जो कि ईश्वर है"।

गाँधी के अनुसार, जब हमारा आचार सत्य और अहिंसा से अनुप्रणित होता है, तब यह धार्मिक आचार बन जाता है जो जीवन के एक्य को प्रतिष्ठित करता है तथा हर प्रकार के शोषण को अपनी सीमा से बाहर रखता है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

1) संक्षेप में गाँधी की स्वराज की अवधारणा का वर्णन करें।

....

....

....

....

19.4 आधुनिक सभ्यता के संबंध में गाँधी की समीक्षा

19.4.1 गाँधी पर पश्चिमी प्रभाव

आधुनिक सभ्यता की जो समीक्षा गाँधी ने की थी वह कुछ पश्चिमी रोमांटिक चिंतकों के लेखन से प्रभावित थी। आधुनिक विज्ञान एवं चिकित्सा-शास्त्र के प्रति गाँधी का जो आलोचनात्मक रवैया था, वह मुख्यत: ऐडवर्ड कारपेन्टर की पुस्तक 'सभ्यता : कारण एवं निवारण' से प्रभावित था। इसी प्रकार लियो टौल्सटौय की अवधारणा, "ईश्वर का साम्राज्य तुम्हारे अन्दर है" का भी गाँधी के चिन्तन पर काफी प्रभाव पड़ा। विशेषकर आधुनिक राज्य के दमनकारी चरित्र एवं अहिंसक प्रतिरोध के प्रति उनकी प्रतिबद्धता पर टौल्सटौय के विचारों का गहन असर है। गाँधी ने यह स्वीकार किया था कि टौल्सटौय को पढ़ने से उन्हें सार्वभौम प्रेम की अनन्त संभावनाओं का अहसास हुआ और अहिंसा में उनका विश्वास दृढ़ हुआ। गाँधी और टौल्सटौय में पत्र-व्यवहार था। गाँधी को लिखे अपने अन्तिम पत्र में टौल्सटौय का मानना था कि दक्षिण अफ्रीका में गाँधी का सत्याग्रह आन्दोलन शोषितों के मुक्ति संघर्ष की एक नयी प्रविधि साबित हुआ। ट्रांसवाल में गाँधी की गतिविधियाँ टौल्सटौय को "विश्व में महत्वपूर्ण हो रहे सभी कार्यों में सर्वाधिक अनिवार्य" जान पड़ी थी।

गाँधी थोरू के लेखन से भी प्रभावित थे। थोरू के निबंध 'आन दी ड्यूटी ऑफ सीविल डीसओबेडियेंस' से गाँधी के कुछ विचारों की पुष्टि हुई, राज्य की दमनकारी विशेषताओं एवं व्यक्ति के स्वयं अपने अन्त:करण के प्रति अपने दायित्व है, इसकी पुष्टि हुई। गाँधी ने लिखा कि "हमें अपने संघर्ष के पक्ष में थोरू और रस्किन से दलीलें मिल सकती हैं"।

जान रस्किन की 'अन टू दिस लास्ट' भी एक ऐसी कृति थी जिससे गाँधी जी को प्रेरणा मिली थी। स्वार्थ के राजनैतिक अर्थतंत्र के तथाकथित विज्ञान की जो नैतिक आलोचना रस्किन ने की थी, उसने गाँधी की ज़िन्दगी को तत्काल ही रूपांतरित कर दिया। रस्किन की पुस्तक का गाँधी जी ने 'सर्वोदय' के नाम से अनुवाद किया। इस पुस्तक से गाँधी को तीन सीखें प्राप्त हुयीं—1) सबों की भलाई में ही एक व्यक्ति की भलाई है, 2) किसी विधि ज्ञाता के काम का भी उतना ही महत्व है जितना कि किसी नाई के काम का और सबों को अपने काम के द्वारा जीवन-यापन करने का समान अधिकार है और 3) श्रम का जीवन, यानी ज़मीन जोतने वाले का जीवन, कारीगर का जीवन एक सार्थक जीवन है।

19.4.2 सच्ची सभ्यता का अर्थ

सच्ची सभ्यता की परिभाषा गाँधी ने 'हिन्द स्वराज' में यूं दी है, "सभ्यता आचार की वह विधि है, जो व्यक्ति को कर्त्तव्य का पथ बतलाती है। कर्त्तव्य पालन और नैतिकता का पालन परिवर्तनीय पद हैं। नैतिकता पालन का अर्थ है, भावों और अपने मन के ऊपर काबू प्राप्त करना। 'सभ्यता' शब्द के गुजराती पर्याय का अर्थ है, "भला आचरण"।

गाँधी आगे स्पष्ट करते हैं कि सचमुच सभ्य आचरण का अर्थ है–i) अपनी आवश्यकताओं को कम करना, ii) जीवन क्षय करने वाली प्रतियोगिताओं की अवहेलना करना, iii) ऐसी स्थितियों को रोकना जिसमें लूट, वेश्यावृत्ति जैसी बुराइयाँ पनपती हों, iv) ऋषियों एवं फकीरों को राजा के ऊपर ज्यादा विशेष रियायत प्रदान करना और v) दानवी शक्तियों को आत्मा की शक्तियों के वश में रखना। दूसरे शब्दों में, अपने राजनैतिक और सामाजिक कार्यकलापों को नैतिकता और नीतिशास्त्र के सिद्धांतों के मेल में रखना और यह सिद्धांत–सत्य और अहिंसा के सिद्धांत हैं।

गाँधी के विभिन्न अवसरों पर यह दुहराया था कि मनुष्य को जो यह नैतिक आचरण करने की शक्ति है, वही उसे पशुओं से उच्च स्थान दिलाती है और इसीलिए मानव सभ्यता की प्रगति को नैतिकता के स्केल से मापना होगा, न कि शुद्ध भौतिकतावाद, उपयोगितावाद या पशु बलों के प्रतिमानों से। निष्कर्षत: गाँधी ने लिखा था कि सच्ची सभ्यता का पथ हिंसा का पथ नहीं है। पृथ्वी के कमज़ोर प्रजातियों के शोषण का पथ नहीं है। शुद्ध स्वार्थ एवं पाशविक शक्तियों का रास्ता सभ्य आचरण का नहीं, बल्कि ठीक इसके विपरीत आचरण की ओर ले जाता है।

19.4.3 आधुनिक सभ्यता की समीक्षा

गाँधी ने आधुनिक सभ्यता का विरोध इसलिए नहीं किया था कि वह पश्चिमी या वैज्ञानिक थी, बल्कि इसलिए कि वह अपनी प्रकृति में भौतिकतावादी एवं शोषणपरक थी। सन् 1925 में कलकत्ता के मेकानो क्लब में बातचीत के दौरान उन्होंने कहा था, "आप ऐसा एक क्षण के लिए न सोचें कि जो भी पश्चिमी है, मैं उन सबका विरोध करता हूँ। इधर कुछ दिनों से मैं आधुनिक सभ्यता के सर्वाधिक महत्वपूर्ण चरित्र पर विचार करता रहा हूँ, लेकिन इसे आप पश्चिमी सभ्यता न कहें। आधुनिक सभ्यता की सर्वमान्य विशेषता है, इस पृथ्वी पर कमज़ोर प्रजातियों का शोषण, ईश्वर के स्थान पर 'भौतिकतावाद' का प्रतिष्ठापन। मैं इसके लिए "शैतान" शब्द का प्रयोग करता हूँ, जिस सरकार के अन्दर हम लोग काम कर रहे हैं, उसकी प्रणाली को मैं शैतान (पैशाचिक) कहने में भी नहीं हिचकुंगा"।

विज्ञान और यंत्र प्रणाली पर

गाँधी ने कई अवसरों पर स्पष्ट किया था कि वे विज्ञान या यंत्र-प्रणाली के विरुद्ध नहीं हैं। विज्ञान की प्रगति का विरोध करने के बजाय उन्होंने पश्चिम की आधुनिक वैज्ञानिक भावना की प्रशंसा की थी और कहा था कि "इस संसार को उस सब की बहुत ज़रूरत है, जो पश्चिमी राष्ट्रों ने विज्ञान के क्षेत्र में विकसित की है"। पश्चिमी, ज्ञानोदयोत्तर (पोस्ट इनलायट्नमेंट) आधुनिकता की सबसे बड़ी गलती गाँधी के अनुसार यह थी कि यह पृथ्वी की कमज़ोर प्रजातियों के शोषण पर टिकी थी और दूसरे, विज्ञान और मानवतावाद के नाम पर सृष्टि की निम्न श्रेणियों को नष्ट कर रही थी। गाँधी कहते थे कि आधुनिक सभ्यता मनुष्य की एक गलत अवधारणा पर आधारित है, जो मनुष्य को उपयोगिताओं का सीमाहीन उपभोक्ता, शरीर-केन्द्रित एवं भौतिकतावादी बनाती है। मनुष्य की ऐसी अवधारणा उसके आध्यात्मिक या नैतिक मूल्यों पर इन्द्रियगत या भौतिकतावादी ज़रूरतों को प्रतिष्ठित करती है। यह व्यक्ति को एक पूर्णतया स्वतत्र, स्वकेन्द्रित अणु के रूप में देखती है, जिसका कोई नैतिक या आध्यात्मिक दायित्व नहीं है।

एक आधुनिक या आधुनिकतावादी व्यक्ति उपयोगी वस्तुओं का अनन्त उपभोक्ता के रूप में, औद्योगिक या यांत्रिक उत्पादन की ऐसी वस्तुओं की शरण लेता है, जो तात्कालीक उपयोग के लिए नहीं होती हैं, बल्कि शहर और गाँव, उपनिवेश और महानगर के बीच विनिमय के लिए होती हैं। हम विनिमय में गाँव और उपनिवेश की कीमत पर शहर और महानगर को फायदा मिलता है। गाँधी का कहना था कि "बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण होने से 'प्रतियोगिता' और 'बाज़ार' स्थापित होंगे, जिसकी अनिवार्य परिणति होगी ग्रामीणों का सक्रिय या निष्क्रिय शोषण"। एक दूसरे अवसर पर गाँधी ने लिखा था, "यूरोपीय लोग नये उपनिवेशों पर इस प्रकार से झप्पटा मारते हैं, जैसे कौआ माँस के टुकड़े पर मारता है। मैं यह सोचने के लिए मजबूर हूँ कि ऐसा बहुउत्पादन वाले कारखानों की वजह से है"। 'हिन्द स्वराज' में भी उन्होंने लिखा था, "जब मैंने श्री दत्त लिखित 'भारत का आर्थिक इतिहास' पढ़ा तो रो पड़ा और जब भी मैं इसके बारे मे सोचता हूँ तो दिल डूबने लगता है। यह यंत्र-प्रणाली ही थी जिसने भारत को दरिद्र बनाया। हम

लोगों को मैनचेस्टर ने कितना नुकसान पहुँचाया, इसको मापना असम्भव है। मैनचेस्टर की वजह से ही भारतीय हस्तशिल्प लुप्त हो गया"।

गाँधी जी कहते थे कि आधुनिक सभ्यता हमारे "शारीरिक सुख-साधनों" को बेहतर घर, बेहतर वस्त्र, बेहतर यातायात, यांत्रिक उत्पादनों आदि के सहारे बढ़ाने का प्रयत्न करती है, जबकि ये साधन लोगों की ज़िन्दगी में खुशियाँ लाने में असफल सिद्ध हुये हैं। उलटे इन्होंने बड़े पैमाने पर बड़ी कुशलता से जीवन को नष्ट किया, श्रमिकों को अमानवीय बनाया और नयी-नयी बीमारियाँ फैलायीं। गाँधी लिखते हैं, "पहले मनुष्य शारीरिक बाध्यताओं की वजह से गुलाम बना था, लेकिन अब गुलाम है पैसे के लोभ की वजह से और विलासिता की वस्तुओं की वजह से, जिसे पैसा खरीद सकता है। अब ऐसी बीमारियाँ पैदा हो गई हैं, जिनके बारे में पहले लोगों ने स्वप्न में भी नहीं सोचा था। .... यह सभ्यता न धर्म की परवाह करती है, न नैतिकता की ..... यह सभ्यता शारीरिक सुख-सुविधाओं को बढ़ाना चाहती है, लेकिन इसमें भी यह बुरी तरह असफल सिद्ध हुई है"। किसी भी तरह की नैतिकता और नीति से विच्छिन्न होकर आधुनिक मनुष्य, स्वार्थ, लोभ, प्रतियोगिता, शोषण, पाशविक शक्ति, हिंसा का खुला खेल खेलने के लिए छोड़ दिया गया है। आधुनिक मनुष्य को दूसरे लोगों को जीतने या उसे उपनिवेश बनाने में कोई नैतिक या आध्यात्मिक कष्ट का सामना नहीं करना पड़ता है। गाँधी के लिए साम्राज्यवाद या फासीवाद आधुनिक सभ्यता के पाशविक चरित्र की सिर्फ राजनैतिक अभिव्यक्ति थी।

राजनीति से नैतिकता का पृथक्करण

गाँधी जी के आक्रमण का यह एक केन्द्रीय लक्ष्य था। आधुनिक या उदारपंथी लोग व्यक्ति के निजी और उसके सार्वजनिक या राजनैतिक ज़िन्दगी में फर्क करते हैं। ऐसा प्रायः मान लिया जाता है या अपेक्षित होता है कि सार्वजनिक क्षेत्र में नैतिकता या आध्यात्मिक मूल्यों के सहारे नहीं, बल्कि, व्यावहारिकता और इष्ट साध्यता के सहारे काम किया जाता है। इस प्रकार आधुनिक राजनैतिक संस्थाएँ या राजनैतिक प्रतिनिधि नैतिक रूप से तटस्थ, व्यावहारिक यंत्र भर होते हैं।

गाँधी के अनुसार, नैतिकता और आध्यात्मिकता से विच्छिन्न इस आधुनिक राजनीति को धनी एवं मज़बूत लोग राजनीतिक प्रणाली और इसके सरकारी तंत्र को गरीब एवं कमज़ोर लोगों की कीमत पर अपने फायदे की ओर मोड़ लेते हैं। गाँधी का कहना था कि राज्य की तथाकथित तटस्थता और कानूनी रूप से समानता की वैधानिक कहानी सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को ही बनाए रखती है। इन असमानताओं और सामाजिक विभाजनों को अक्सर राजनीतिज्ञ, नौकरशाह एवं वकील ही बनाते हैं और बढ़ाते हैं। कानून के आधुनिक पेशे की आलोचना करते हुए गाँधी का कहना था कि लोगों के बीच झगड़े सुलझाने के बजाय वकील इन झगड़ों को और बढ़ाते हैं। गाँधी लिखते हैं कि "मैं यह जानता हूँ कि ये वकील लोगों के बीच झगड़ा होने पर खुश होते हैं। कुछ वकील झगड़ा करवाते भी हैं। इसी प्रकार औपनिवेशिक राज्य जो सामाजिक विभाजन और जातिगत विभेदीकरण के प्रति तटस्थता की वकालत करते हैं, वास्तव में, ऐसे विभाजन एवं विभेदीकरण को मज़बूत करते हैं।

संसद के बारे में

गाँधी ने आधुनिक प्रजातंत्र की केन्द्रीय संस्था, संसद की तुलना बाँझ औरत से की थी जो अपनी इच्छा से काम नहीं करती, बल्कि, सिर्फ बाहरी दबाव में ही काम करती है। इन्होंने इसकी तुलना वेश्या से भी की थी, क्योंकि यह हमेशा मंत्रियों के नियंत्रण में रहती है, जो समय-समय पर बदलते रहते हैं। आगे वे लिखते हैं, "ऐसा सामान्यतयाः माना जाता है कि संसद सदस्य पाखंडी एवं स्वार्थी होते हैं। सभी अपने छोटे-छोटे हितों की सोचते हैं। सदस्य बिना सोचे ही अपनी पार्टी को संसद में वोट देते हैं। तथाकथित अनुशासन ही उन्हें बाँधे रखता है। अपवाद स्वरूप अगर कोई संसद सदस्य स्वतंत्र वोट करता है, तो उसे विश्वासघाती मान लिया जाता है। "प्रधानमंत्री संसद के कल्याण से ज्यादा अपनी शक्ति के लिए चिंतित रहता है। उसकी ऊर्जा पार्टी की सफलता प्राप्त कराने में ही लगी रहती है। उसे यह चिन्ता नहीं रहती है कि संसद को सही काम करना चाहिए। "अगर वे ईमानदार माने जाते हैं, तो इसलिए क्योंकि वे वह नहीं लेते जिसे सामान्यतयाः घूस माना जाता है। लेकिन कुछ दूसरी प्रभावी विधियाँ भी हैं। वे अपने हित साधनों के लिए लोगों को पुरस्कार एवं सम्मान के रूप में घूस देते हैं। मैं यह कहने को मजबूर हूँ कि वे न तो सच्चे ईमानदार हैं और न ही उनकी अन्तरात्मा जीवित है"।

गाँधी के अनुसार, आधुनिक सभ्यता से नैतिकता के विच्छिन्न हो जाने का सबसे बुरा परिणाम आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र में देखा जा सकता है, जो बीमारी दूर करने के बजाय उसे और बढ़ाता है। वे लिखते हैं, "मैं ज़्यादा खाता हूँ। मुझे अपच है। मैं डॉक्टर के पास जाता हूँ। वह मुझे दवाई देता है। मैं ठीक हो जाता हूँ। मैं दुबारा फिर ज़्यादा खाता हूँ। मैंने दुबारा उसकी दवाई खायी। अगर

मैं पहली बार दवा न लिया होता तो दुबारा ज्यादा न खाया होता। डॉक्टर ने हस्तक्षेप किया और मुझे सन्तुष्ट करने में मेरी मदद की''।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें

ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

1) गाँधी जी के चिंतन को प्रभावित करने वाली कुछ रचनाओं का संक्षेप में उल्लेख करें।

....

....

....

....

2) आधुनिक सभ्यता की जो समीक्षा गाँधी ने की, उसकी विवेचना करें।

....

....

....

....

19.5 स्वराज के राजनैतिक, आर्थिक और नैतिक आयाम

आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को त्रटिपूर्ण पाने पर गाँधी ने यह निष्कर्ष निकाला कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का उद्देश्य सिर्फ ब्रिटिश शासकों से भारतीय नेताओं को राजनैतिक शक्ति प्राप्त करना ही नहीं होना चाहिए, बल्कि, भारतीय स्वराज राजनैतिक स्वतंत्रता या राजनैतिक प्रजातंत्र से कुछ ज्यादा बड़ी उपलब्धि के लिए प्रतिबद्ध है।

19.5.1 परिभाषा और अर्थ

गाँधी के अनुसार स्वराज की परिभाषा थी, 'स्वराज' या ब्रह्मदरायनक उपनिषद् के अभिप्राय में नैतिक रूप की स्वायत्तता जिसने अपनी सारी इन्द्रियों को जीत लिया हो। गाँधी लिखते हैं, ''शब्द 'स्वराज' एक पवित्र शब्द है, एक वैदिक शब्द जिसका अर्थ है 'स्व-शासन' और 'स्व-निग्रह'। स्व-निग्रह का अर्थ सभी प्रकार के प्रतिबंधनों से मुक्ति नहीं है, जैसा कि स्वतंत्रता का अर्थ निकाला जाता है। स्वराज सभी कालों के लिए एक सर्वसंतुष्ट ध्येय का नाम है''। स्वराज की मुख्य संघटक प्रक्रियाएँ हैं–i) विकेन्द्रीकृत समभागी प्रजातंत्र, ii) राजनीति और अर्थतंत्र का अध्यात्मीकरण या दूसरे शब्दों में, सत्य और अहिंसा के सिद्धांतों पर राजनीति और अर्थतंत्र का एकीकरण। गाँधी जी का उद्धरण है :

''स्वराज की जो मेरी अवधारणा है, उसके बारे में कोई गलती नहीं होनी चाहिए। यह विदेशी नियंत्रण से पूर्ण स्वतंत्रता है और सम्पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता भी है। इस तरह यह एक ओर राजनैतिक स्वतंत्रता है, तो दूसरी ओर आर्थिक स्वतंत्रता भी। इसके दो अन्य प्रयोजन हैं, इसमें एक नैतिक है, और दूसरा सामाजिक, जिसे जोड़ने वाला तत्व है, धर्म जिसमें हिन्दूवाद, इस्लाम, इसाईवाद सभी समाहित हैं, लेकिन जो इन सबसे ज़्यादा है। इस धर्म को आप 'सत्य' के रूप में पहचान सकते हैं जो सभी चीजों को आलोकित किए रहता है, जो सभी प्रकार के रूपान्तरण और बर्बादी के बावजूद जीवित रहेगा। नैतिक और सामाजिक उत्थान अहिंसा से ही सम्भव है। स्वराज के ये ही चार पाये हैं, जिसमें एक भी खराब होने पर पूरी आकृति बिगड़ जाने की संभावना निहित है। कांग्रेस की भाषा में हम लोग राजनैतिक और आर्थिक स्वतंत्रता बगैर सत्य और अहिंसा को हासिल नहीं कर सकते। ठोस शब्दों में कहें, तो बिना ईश्वर में विश्वास किए नैतिक और सामाजिक उन्नति सम्भव नहीं''।

हिन्द स्वराज में गाँधी मैज़िनी की जनता केन्द्रित (राजा केन्द्रित के बजाय) इतालवी राष्ट्रवाद की प्रशंसा करने के बाद यह स्पष्ट करते हैं कि हम लोगों का उद्देश्य भारत में सिर्फ ब्रिटिश शासकों से सत्ता छीनकर भारतीय अभिजात्य वर्ग (Indian elite) को सत्ता सौंपना नहीं है, बल्कि हमारा उद्देश्य है–सैकड़ों भारतीयों का स्वशासन। सन् 1925 में उन्होंने लिखा था कि ''असली स्वराज

कुछ लोगों द्वारा सत्ता अधिग्रहण कर लेने पर नहीं आएगा, बल्कि, यह तब आएगा, जब पूरी जनता में इतनी ताकत आ जाये कि जब भी कोई सत्ता का दुरुपयोग करे, तो उसका विरोध कर सकें।" दूसरे शब्दों में, स्वराज जनता को शिक्षित करके ही लाया जा सकता है। जनता शिक्षित होने पर ही सत्ता को नियंत्रित करने की क्षमता प्राप्त कर सकती है।

19.5.2 स्वराज या सहयोगी प्रजातंत्र

केन्द्रीकृत प्रतिनिधिक सरकार के बदले जनता के स्वराज का अर्थ होगा, एक ऐसी प्रणाली जो विकेन्द्रित सहयोगी प्रजातंत्र होगी। गाँधी का कहना था कि सच्चा प्रजातंत्र केन्द्र में बैठे बीस आदमियों से नहीं चलाया जा सकता है। इसके लिए ज़रूरी है कि प्रत्येक गाँव में बिल्कुल निचले तबके की हिस्सेदारी हो। वस्तुतः गाँधी जी ने स्वराजवादी समाजवादी व्यवस्था का संबंध ग्रामीण गणतंत्र के "समुद्री वृत" से जोड़ा था। वे लिखते हैं, "असंख्य गाँवों से निर्मित ऐसी संरचना में उत्तरोत्तर विकास समान वृत होंगे, जो आरोही क्रम में व्यवस्थित नहीं होंगे। जीवन पिरामिड की तरह नहीं होगा जिसकी चोरी को उसका तल टिकाए रखता है बल्कि यह समुद्री वृत की तरह होगा जिसका केन्द्र व्यक्ति होगा, लेकिन जो गाँव के लिए मर मिटने के लिए तैयार रहेगा। फिर गाँव-गाँव के "वृत" के लिए अस्तित्वहीन होना स्वीकार कर लेगा। इस प्रकार यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि यह पूरी एक इकाई का रूप न ले ले। इकाई में सभी व्यक्ति समान होंगे और समान रूप से इस समुद्री वृत्त के वैभव का हकदार होंगे"।

19.5.3 स्वराज और स्वतंत्रता

गाँधी जी ने स्वराज की व्याख्या "सम्पूर्ण जनता की भलाई" और "सम्पूर्ण देशवासियों की स्वतंत्रता" के संदर्भ में भी की थी। व्यावहारिकता की दृष्टि से इसका अर्थ था, हिन्दू और मुसलमान के बीच सच्चा सम्बन्ध, जनता के लिए रोटी और अस्पृश्यता का पूर्ण रूप से बहिष्कार। सन् 1931 में उन्होंने कहा था कि हिन्द स्वराज सम्पूर्ण जनता का शासन है, न्याय का शासन है।

19.5.4 पूर्ण स्वराज

गाँधी जी के अनुसार 'स्वराज' के अन्तर्गत जनता पूँजी की बुराइयों से बची रहेगी और श्रम के उत्पादन का न्याय पूर्ण बँटवारा किया जाएगा। उनका कहना था कि स्वराज तब तक पूर्ण स्वराज का दर्ज़ा हासिल नहीं कर पायेगा, जब तक कि गरीब से गरीब आदमी भी जीवन की उन आवश्यकताओं एवं सुख-सुविधाओं को हासिल करने के योग्य न बन जाये, जिसका उपभोग राजकुमार एवं धनी लोग अब तक करते रहे हैं। उन्होंने पूर्ण स्वराज की व्याख्या की थी कि "यह एक ऐसा स्वराज है जो राजकुमार के लिए उतना ही है जितना कि किसान के लिए, यह धनी ज़मींदार के लिए उतना ही है, जितना कि गरीब हलवाहक के लिए, यह जितना हिन्दू के लिए है उतना ही मुसलमान के लिए भी।"

गाँधी के पूर्ण स्वराज का आदर्श था 'राम-राज', 'खुदाई राज' या 'पृथ्वी पर भगवान का राज'। उन्होंने इसकी व्याख्या यूं की है, "यह एक ऐसा सम्पूर्ण प्रजातंत्र है, जिसमें सम्पत्ति, रंग, जाति, धर्म, लिंग के आधार पर किसी भी तरह की असमानता का कोई भी स्थान नहीं होगा। इसमें भूमि और राज्य जनता की सम्पत्ति होगी, न्याय सस्ता एवं मानवीय होगा तथा सबों को पूजा करने की, व्याख्यान देने की एवं प्रेस की स्वतंत्रता होगी और यह सब व्यक्ति के स्व-निर्धारित नैतिक दबाव के तहत होगी।"

19.5.5 पूर्ण स्वराज : आर्थिक आयाम

गाँधी के अनुसार पूर्ण स्वराज या राम-राज्य का नैतिक या राजनैतिक आयामों के अलावा एक आर्थिक आयाम भी है, जिसका अर्थ है, ब्रिटिश पूँजीपतियों एवं पूँजी तथा उनके भारतीय सहयोग से पूर्ण स्वतंत्रता। दूसरे शब्दों में, गरीब से गरीब आदमी भी किसी अमीर की तुलना में बराबरी महसूस करे। यह तभी संभव है जब पूँजीपति अपने पूँजी को गरीबों के साथ हिस्सेदारी करे।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

1) 'पूर्ण स्वराज' से आप क्या समझते हैं?

19.6 आधुनिक सभ्यता और स्वराज पर गाँधी के संशोधित विचार

गाँधी जी ने आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के कुछ मूल्यों एवं संस्थाओं की जो नैतिक भर्त्सना की थी उसका स्वर हिन्द स्वराज के प्रकाशन के एक दशक बाद कुछ कोमल हो गया था। समय के साथ-साथ उनके विचार में भी कुछ तब्दीली आयी। अब वे पहले की तरह आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को पूरी तरह से खारिज करने के बजाय इसकी कुछ संस्थाओं की सीमित प्रशंसा करने लगे, विशेषकर संसदीय प्रजातंत्र, संविधान केन्द्रित सरकार, वैज्ञानिक दृष्टि, तकनीकी आविष्कार की गाँधी प्रशंसा करते थे।

19.6.1 आधुनिक उदारतावाद द्वारा नागरिक स्वाधीनता की चिरकालिक प्रशंसा

यह जरूर स्वीकार किया जाना चाहिए कि हिन्द स्वराज लिखने के समय भी गाँधी ने आधुनिक उदारतावाद में नागरिक स्वतंत्रता के लिए जो प्रतिबद्धता थी, उसकी खुल कर प्रशंसा की थी। 1903 में ही गाँधी भारतीयों की नागरिक स्वतंत्रता के लिए दक्षिण अफ्रीका में संघर्ष कर चुके थे। सन् 1920 तक वे इस सुधारवादी उदारतावाद के लिए गर्व महसूस करते थे, लेकिन इसके बाद अपनी स्वराज की अवधारणा के कारण संविधानवादी सरकार और संसदीय प्रजातंत्र के कटु आलोचक हो गए। उन्होंने तो यहाँ तक कहा था कि वे संविधान बनाने में कोई दिलचस्पी नहीं रखते हैं, क्योंकि यह आदर्श स्वराज के अनुकूल नहीं है। यद्यपि जवाहरलाल नेहरू एवं चितरंजन दास के प्रभाव में अपने विचारों और आदर्शों को गाँधी ने बाद में संशोधित किया था। अब वे आदर्श स्वराज के लिए संसदीय प्रजातंत्र तथा संविधान केन्द्रित सरकार को महत्वपूर्ण मानने लगे थे। इसी के अनुकूल उन्होंने संविधान सभा को "रचनात्मक सत्याग्रह" घोषित किया था। संसदीय प्रजातंत्र के बारे में उन्होंने हिन्द स्वराज के 1921 वाले संस्करण की भूमिका में लिखा, "मैं यहाँ पाठकों को सचेत करना चाहूँगा कि जिस स्वराज की बात इस पुस्तक में की गई है, मुझे पता है, उसके लिए भारत अभी तैयार नहीं है। ऐसा कहना दुर्बलता का सूचक हो सकता है, लेकिन यह मेरा दृढ़ विश्वास है। जैसे कि इस पुस्तक में तस्वीर खींची गई है, मैं 'स्वशासन' के लिए काम कर रहा हूँ, लेकिन मेरी सामूहिक गतिविधियाँ भारतीय जनता के इच्छानुसार संसदीय स्वराज प्राप्त करने के लिए कृतसंकल्प है। मैं रेलवे या अस्पताल को नष्ट करने के उद्देश्य से काम नहीं कर रहा हूँ, जबकि ऐसा होने का मैं निश्चित रूप से स्वागत ही करूँगा। न रेलवे न हस्पताल उच्च एवं शुद्ध सभ्यता के प्रतिमान हैं। ये तो अनिवार्यतः अनिष्टकारी हैं। ये राष्ट्र की नैतिकता को एक इंच भी ऊपर नहीं उठाते हैं। मैं कानूनी कचहरियों को भी स्थायी रूप से नष्ट करने के उद्देश्य से काम नहीं कर रहा हूँ, जबकि यह कितना अमानवीय है, यह मुझे पता है। मैं यंत्र-प्रणाली एवं कारखानों को भी नष्ट करने की कोशिश नहीं कर रहा हूँ। इन सबके लिए जिम आदमी एवं त्याग की जरूरत है, अभी जनता उसके लिए तैयार नहीं है।

इन संशोधनों को दुहराते हुए गाँधी जी ने 1924 में लिखा, "यह याद रखना आवश्यक है कि पुस्तक में जिस भारतीय गृह शासन का चित्रण हुआ है, उसे मैं भारत के लिए आदर्श नहीं मानता हूँ। मैं भारत के सामने संसदीय यानि प्रजातंत्रीय स्वराज का ढाँचा रख रहा हूँ। मैं सभी कल-कारखानों को नष्ट कर देने की सलाह नहीं देता हूँ, बल्कि चरखा को ही एक महामशीन बना रहा हूँ। भारतीय होमरुल एक आदर्श राज्य का चित्रण करता है "अगर ` उन आदर्श स्थितियों तक नहीं पहुँच सकता तो यह मेरी अपनी कमज़ोरियाँ हैं" मैंने जो हस्पताल के लिए कहा है, वह भी सच है, लेकिन फिर भी मैं उन कुछ दवाईयों को लेने में संकोच नहीं करूँगा जिससे अपने शरीर को ज्यादा तरजीह देने की जरूरत न पड़े।

19.6.2 गाँधी राज

आधुनिक सभ्यता और स्वराज के बारे में अधिक सारगर्भित एवं संशोधित विचार गाँधी ने एक पुस्तिका में प्रस्तुत किये थे, जिसमें हिन्द स्वराज को 'गाँधी राज' कह कर उपहास किया गया था।

उनका कहना था, "गाँधी राज एक आदर्श स्थिति है लेकिन स्वराज के अन्तर्गत कोई रेलवे, हस्पताल, कल-कारखानें, सेना, कानून, कचहरी न होगा, ऐसा कोई ख्वाब नहीं देखता है। निस्सन्देह मैं ऐसा स्वप्न नही देखता हूँ। इसके विपरीत रेलवे तो होगी, लेकिन वह सिर्फ सेना और भारत के आर्थिक शोषण की निमित्त नहीं होगी, बल्कि वह आन्तरिक व्यापार को बढ़ाने की निमित्त बनेगी, वह तीसरे दर्जे के यात्रियों को ज़्यादा सुख-सुविधाएँ प्रदान करेगी। स्वराज के अन्तर्गत कोई बीमारी का अस्तित्व तक नहीं रहेगा, ऐसा कोई नहीं मानता है, इसलिए निस्सन्देह हस्पताल रहेंगे लेकिन यह हस्पताल दुर्घटनाग्रस्त लोगों की सेवा के लिए होंगे, न कि स्वपोषित बीमारियों के लिए। कल-कारखाने चरखे के रूप में होंगे जो निस्सन्देह यंत्र-प्रणाली का एक खूबसूरत नमूना है; लेकिन इसमें मुझे सन्देह नहीं कि स्वराज के अन्तर्गत कई कारखाने विकसित होंगे, पर ये जनता के फायदे के लिए होंगे न कि आजकल के कारखाने की तरह जिसमें सामान्य जनता को कोई भी फायदा नहीं पहुँचता है। मैं नौसेना के बारे में नहीं जानता लेकिन मैं जानता हूँ कि भविष्य में भारतीय सेना दूसरे देशों को पराधीन बनाने के लिए भाड़े के सैनिकों का प्रयोग नहीं करेगी, बल्कि इसकी संख्या में बेतरह कटौती की जाएगी और इसका मुख्य काम भारत को सुरक्षित रखना मात्र होगा। स्वराज के अन्तर्गत कानून और कचहरी भी होंगे, लेकिन ये जनता की स्वतंत्रता के रक्षक होंगे, न कि जैसा कि आज है, नौकरशाहों के हाथ के यंत्र भर जिन्होंने पूरे देश को नपुंसक बना कर छोड़ दिया है। अन्त में यह लोगों के लिए वैकल्पिक होगा कि वे लंगोटी पहनते हैं या नहीं, या वे खुले में सोते हैं या नहीं, लेकिन मैं यह आशा कर सकता हूँ कि यह आज की तरह अनिवार्य नहीं होगा जहाँ लाखों करोड़ों की संख्या में जनता को अपने भूखे-नंगे शरीर को ढंकने के लिए गंदा चिथड़ा एवं सोने के लिए खुले आकाश के अलावा कुछ भी नसीब नहीं। इसलिए यह सही नहीं है कि भारतीय होमरूल में अभिव्यक्त कुछ विचारों को उसे सन्दर्भ से हटाकर इसका उपहास करते हुए लोगों के सामने ऐसे रखा जाये कि जैसे मैं किसी भी व्यक्ति की स्वीकृति के लिए उपदेश दे रहा था"।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

1) गाँधी राज से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

2) आधुनिक सभ्यता की अपनी आरम्भिक समीक्षा को गाँधी ने क्यों संशोधित किया?

....

....

....

19.7 सत्याग्रह

राजनैतिक विचार एवं आचरण के क्षेत्र में सत्याग्रह की अवधारणा गाँधी जी का सर्वोच्च योगदान है। स्वराज प्राप्त करने एवं सामाजिक संघर्षों को मिटाने का यह एक नैतिक-राजनैतिक अस्त्र है। जैसे कि बोंदुरा (Bondurant) ने लक्षित किया है, "सत्याग्रह प्रतिरोध की एक सामान्य विधि से कुछ ज्यादा है। यह मौलिक परिवर्तन एवं बेहतर उद्देश्य प्राप्त करने के संघर्ष का एक असीम अस्त्र है"। सत्याग्रह पर लिखित पुस्तक 'बिना हिंसा का युद्ध (War without violence) में कृष्णलाल श्रीधरनी ने सत्याग्रह की परिभाषा 'अहिंसक सीधी कार्यवाही' के रूप में की थी।

19.7.1 आरम्भिक प्रयोग

सत्याग्रह का प्रयोग सबसे पहले गाँधी ने 'एशिष्टिक लॉ एमेन्डमेंट आर्डिनेंस ऑफ 1906' के विरुद्ध दक्षिण अफ्रीका के भारतीय मज़दूरों के प्रतिरोध में किया था। उस समय यह आन्दोलन 'निष्क्रिय प्रतिरोध' (पैसिव रेजिस्टेंस) कहलाता था। बाद में यह सत्याग्रह कहलाया। गाँधी ने

भारत में सैकड़ों सत्याग्रह आन्दोलन चलाए जिसमें चम्पारण, अहमदाबाद, वैकोम, बारदोली और खेड़ा के आन्दोलन मुख्य हैं।

19.7.2 अर्थ

सत्याग्रह का अर्थ है : सत्य का आग्रह। दक्षिण अफ्रीका में अपने प्रतिरोध आन्दोलन का नाम सत्याग्रह क्यों रखा था, इसकी व्याख्या करते हुए गाँधी का कहना था कि "सत्य में प्रेम अन्तर्निहित होता है और उसी से आग्रह भी उत्पन्न होता है, जिसमें एक ताकत है। भारतीय आन्दोलन को सत्याग्रह हम लोगों ने इसलिए कहना आरम्भ किया क्योंकि इसमें जो ताकत है, वह सत्य और प्रेम या अहिंसा से उत्पन्न हुयी है"।

हिन्द स्वराज में गाँधी का समीकरण था : शरीर-ताकत = पाशविक ताकत = मज़बूत ताकतों के अस्त्रों की ताकत = प्रेम-ताकत = सत्य-ताकत। उन्होंने प्रथम को हिंसा की विधि कहा, जिसका उपयोग आधुनिक सभ्यता करती है। जबकि सत्याग्रह विश्वास करता है, आत्मा-ताकत या सत्य-ताकत और इस प्रकार यह स्वराज के अनुकूल है।

हिन्द स्वराज में उन्होंने लिखा था : "सत्याग्रह को अंग्रेजी में निष्क्रिय प्रतिरोध के नाम से जाना जाता है। निष्क्रिय प्रतिरोध एक ऐसी विधि है, जिसमें निजी पीड़ा के सहारे अपने अधिकारों की रक्षा की जाती है, यह अस्त्रों के सहारे प्रतिरोध की विधि से ठीक उल्टा है। कोई चीज़ जिसे मेरा अन्तःकरण सही नहीं मानता है, अगर मैं करने से इन्कार कर देता हूँ तो इसका मतलब है कि मैं आत्मिक शक्ति का प्रयोग कर रहा हूँ। उदाहरण के लिए, सरकार एक कानून पास करती है जो मुझ पर भी लागू होता है। मैं इसे पसंद नहीं करता हूँ। अगर मैं हिंसा के द्वारा सरकार को बाध्य करता हूँ कि वह कानून को वापस ले तो इसका मतलव है कि मैं "शारीरिक शक्ति" का प्रयोग कर रहा हूँ और अगर मैं इस कानून को नहीं मानता हूँ और इसके लिए हर्जाना भरना स्वीकार कर लेता हूँ, तो इसका मतलव है कि मैं "आत्मिक शक्ति" का प्रयोग कर रहा हूँ जिसमें स्व का त्याग अन्तर्निहित होता है।

गाँधी का कहना था कि भारतीय स्वराज के लिए सत्याग्रह व्यावहारिक रूप से अनिवार्य और नैतिक रूप से अपेक्षित राजनैतिक कार्यवाही था। उनका कहना था कि चूँकि अंग्रेज़ बहुत अच्छी तरह अस्त्रों से लैस थे, इसलिए भारतीयों को उस स्तर तक अस्त्र-शस्त्र हासिल करने में वर्षों लग जाने की संभावना थी। इस व्यावहारिक कठिनाई के अलावा गाँधी भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में हिंसा की विधि अपनाए जाने पर होने वाले सभ्यतागत एवं नैतिक परिणामों को अस्वीकार करते थे। उन्होंने इशारा किया था कि भारत को बड़े पैमाने पर अस्त्र से सुसज्जित करने का अर्थ है, इसका यूरोपीयकरण करना या दूसरे शब्दों में, नैतिक रूप से त्रुटिपूर्ण आधुनिक यूरोपीय सभ्यता द्वारा भारत को ही गुलाम बनाये जाने की प्रक्रिया को जारी रखना।

19.7.3 आधारगत सिद्धांत

सत्याग्रह सत्य, अहिंसा और तपस के सिद्धांत पर आधारित है। गाँधी ने इसकी व्याख्या लार्ड हंटर के सभापतित्व में "डिसआर्डर इन्कवायरी कमिटी" के समक्ष अहमदाबाद में 9 जनवरी, 1920 को प्रस्तुत की थी। इसके प्रासंगिक प्रश्न एवं उत्तर नीचे दिए जा रहे हैं।

प्रश्न—मैं मानता हूँ मि. गाँधी की सत्याग्रह आंदोलन के लेखक आप ही हैं।

उत्तर—जी, महाशय।

प्रश्न—क्या सारांश में आप इसकी व्याख्या करेंगे?

उत्तर—यह एक ऐसा आन्दोलन है जो हिंसा की विधियों को बदल देना चाहती है। यह ऐसा आन्दोलन है जो पूर्णतया सत्य पर आधारित है। मैं इसे राजनैतिक क्षेत्र में आन्तरिक नियमों का ही विस्तार मानता हूँ और मेरे अनुभव बताते हैं कि सिर्फ यह आंदोलन ही भारत को सम्भावी हिंसा के चपेट से बचा सकता है।

प्रश्न—किसी विशेष कानून के न्यायपूर्ण या अन्यायपूर्ण होने को लेकर लोगों में मतवैभिन्नतया है?

उत्तर—यही मुख्य वजह है कि हिंसा को हटाया जा सकता है क्योंकि एक सत्याग्रही अपने विरोधी को भी वही स्वतंत्रता एवं मुक्ति की भावना प्रदान करता है जिसका कि वह खुद को हकदार मानता है। दूसरे, वह अपने विरोधियों से संघर्ष अपने लोगों को कष्ट पहुँचाकर जारी रखता है।

गाँधी धर्मशास्त्र परम्परा में विश्वास रखते थे जिसके अनुसार धर्म 'धृ' धातु से निकला है (जिसका अर्थ है 'दृढ़ रहना') और जो ब्रह्मांड को नैतिक नियमों से परिचालित होने की ओर

संकेत करता है। इसका सार है–सत्य जिसका आधार सन्त (यथार्थ, सही क्या है और क्या होगा) है। गाँधी लिखते हैं :

''सत्य शब्द सन्त से निकला है जिसका अर्थ है आस्तित्व। यथार्थ में सत्य के अलावा कुछ भी अस्तित्वमान नहीं है। यही वजह है कि ईश्वर का शायद सबसे महत्वपूर्ण नाम ''सन्त'' या ''सत्य'' है। वस्तुतः यह कहना ज्यादा सही है कि सत्य ही ईश्वर है बनिस्पत कि यह कहना कि ईश्वर सत्य है। ''यह माना जायेगा कि सन्त या ईश्वर का सबसे सार्थक एवं सही नाम है''।

चूँकि ''यथार्थ में सत्य के अलावा कुछ भी आस्तित्वमान नहीं है, ''इसलिए राजनैतिक-व्यावहारिक क्षेत्र भी सत्य से अलग नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, गाँधी के अनुसार सत्य या नैतिकता से राजनीति का पृथक्करण अतर्कसंगत है। उन्होंने लिखा है :

''कछ दोस्तों ने मुझे कहा कि राजनीति और सांसारिक मामले में सत्य और अहिंसा का कोई स्थान नहीं है। मैं इनसे सहमत नहीं हूँ। मेरे लिए व्यक्तिगत मुक्ति के साधन के रूप में इसका प्रवेश एवं उपयोग ही हमेशा मेरा प्रयोग रहा है''।

गाँधी जी का सत्याग्रह राजनैतिक आचार में सत्य और अहिंसा को प्रवेश कराने का एक प्रयोग है। गाँधी के अनुसार यद्यपि सत्य निरपेक्ष होता है, लेकिन इसके बारे में हमारा ज्ञान एवं अनुभव सापेक्ष और आँशिक ही है। जिसे हम सत्य मानते हैं, हो सकता है वह दूसरे के लिए असत्य हो। वस्तुतः सत्याग्रही यह मान कर चलते हैं कि उनके विरोधी या शोषक भी सत्य की राह पर चलने वाले हैं। यही वजह है कि अहिंसा सत्य के अन्वेषण का साधन है। गाँधी ने लिखा था कि ''अहिंसा का प्रयोग जिस मूलभूत सिद्धांत पर आधारित है, वह यह है कि जो एक आदमी के लिए अच्छा है वह पूरे ब्रह्मांड के लिए भी अच्छा है। सभी मनुष्य सारतः एक हैं। इसलिए जो एक आदमी के लिए सम्भव है, वह सभी के लिए सम्भव है''। सापेक्ष सत्य के आधार पर काम करते हुए सत्याग्रही विरोधी सत्य के दावों को अहिंसक तरीके से निर्दोष ठहराते हुए समाज के मूल संघर्षों को दूर कर समाज में संगति प्रदान करते हैं। गाँधी लिखते हैं :

''ऐसा मालूम पड़ता है कि प्राचीन अन्वेषकों ने ऐसा महसूस किया था कि इस नश्वर शरीर के द्वारा सत्य का पूर्ण अभिज्ञान सम्भव नहीं, इसलिए ये लोग अहिंसा की ओर मुड़े। जिस प्रश्न का इन लोगों को सामना करना पड़ा वह था कि, ''जिन लोगों ने मेरे लिए बाधाएँ उत्पन्न की क्या मुझे उन लोगों को सहना चाहिए या उन्हें खत्म कर देना चाहिये''। उन लोगों को ऐसा अहसास हुआ कि वे जो विरोधियों को खत्म कर दिये, वे जीतने वालों में नहीं थे, बल्कि, जिन लोगों ने दुख या विरोधियों को सहना मंजूर किया वे अपने विरोधियों से आगे निकल गये। जिन्होंने जितना ही हिंसा का सहारा लिया, वे सत्य से उतना ही पीछे हट गये। कल्पित दुश्मनों से लड़ते हुए अपने अन्दर के दुश्मनों की उन लोगों ने अपेक्षा की''।

सत्याग्रही ''प्रेम की शक्ति'' या ''सत्य की शक्ति'' का प्रयोग विरोधियों या शोषकों को खत्म करने के लिए नहीं करता है, बल्कि वह संघर्षात्मक या उत्पीड़क सम्बन्धों को पूर्ण रूप से बदल देना चाहता है, जिससे दोनों पक्ष अपने आरम्भिक संघर्ष में नैतिक अन्योन्यश्रितता महसूस कर सकें। सत्याग्रह की प्रक्रिया में शोषण का शिकार अपने शोषक को भी उसके कपटपूर्ण असत्य, विश्वासों एवं क्रियाओं से मुक्त कर खुद मुक्त होता है। गाँधी जी ने 'हिन्द स्वराज' में लिखा था ''सत्याग्रह का प्रयोग करने वाला और जिसके विरुद्ध यह प्रयोग किया गया है, दोनों को यह मुक्त करता है''।

19.7.4 अहिंसा और सत्याग्रह

गाँधी के लिए अहिंसा का अर्थ ''दूसरों को कष्ट न पहुँचाना'' मात्र न था। यह अहिंसा का ऋणात्मक या निष्क्रिय अर्थ होता। अहिंसा का एक धनात्मक और सक्रिय अर्थ है–प्रेम या सद्भाव। गाँधी लिखते हैं :

''अहिंसा के ऋणात्मक रूप का अर्थ है, किसी भी प्राणी के मन और शरीर को कष्ट न पहुँचाना। इसलिए मैं किसी गलत काम करने वाले को भी कष्ट नहीं पहुँचाऊँगा, उसके प्रति विद्वेष का भाव नहीं रखूँगा, उसकी किसी भी मानसिक यंत्रणा की वजह नहीं बनूँगा''।

धनात्मक रूप में अहिंसा का अर्थ है, अथाह प्रेम, महानतम सद्भाव। अगर मैं अहिंसा का अनुयायी हूँ, तो मैं अपने दुश्मन को भी प्यार करूँगा, जैसे कि मैं बुरा काम करने वाले अपने पिता या पुत्र को करता हूँ। इस सक्रिय अहिंसा में सत्य और निर्भयता भी शामिल है''।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि गाँधी के लिए, दूसरों को कष्ट न पहुँचाने की भावना किसी

नैतिक या व्यावहारिक सत्य को मापने का एक ऋणात्मक प्रतिमान है। सत्य का धनात्मक प्रतिमान तो यह है कि यह कहाँ तक किसी व्यक्ति की भलाई के लिए क्रियाशील है।

हमारी इच्छाओं और प्रेरणाओं को दो वर्षों में बाँटा जा सकता है—स्वार्थपूर्ण और अस्वार्थपूर्ण। सभी स्वार्थपूर्ण इच्छाएँ अनैतिक हैं, जबकि दूसरों की भलाई करने के लिए अपने को सुधारना सही मायने में नैतिक है "सर्वोच्च नैतिक नियम तो यह है कि हम लोगों को मानव मात्र के लिए निरन्तर काम करते रहना चाहिए"।

19.7.5 तपस

सत्याग्रह के दो तत्वों की अब तक हम लोगों ने विवेचना की—सत्य और अहिंसा। पर इनके अलावा सत्याग्रह का एक तीसरा तत्व भी है—तपस। दूसरों के प्रति प्रेमपूर्ण क्रिया सत्य को मापने का एक धनात्मक प्रतिमान है, जैसा कि हम लोगों ने पहले देखा। लेकिन अब गाँधी का कहना था कि ऐसे प्रेम की परीक्षा 'तपस' के सहारे ही की जा सकती है। गाँधी कहते हैं : "दूसरों के प्रति हिंसा या कष्ट या यंत्रणा भोगना अहिंसा का सार है। यह समझना आवश्यक है कि सत्याग्रही द्वारा स्वयं को कष्ट पहुँचाना किसी कमज़ोरी या कायरता की वजह से नहीं है, बल्कि यह उन लोगों के साहस से ज्यादा उच्च कोटि का साहस है जो हिंसा का आश्रय लेते हैं"।

संघर्ष, संकल्प एवं स्वपीड़न पर आधारित सत्याग्रह तर्क की पूरक भूमिका निभाती है। तर्क के सहारे दूसरों को प्रभावित करना वस्तुतः सत्याग्रह का सार है। लेकिन सत्याग्रह मूलभूत सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक या विचारधारात्मक संघर्षों के निराकरण करने में तर्क की सीमाओं को जानता है। ऐसे संघर्षों में विवेकपूर्ण मतैक्य जल्दी हासिल नहीं किया जा सकता। गाँधी इस बात पर ज़ोर देते थे कि विरोधियों या उत्पीड़कों को बदलने के लिए विवेक की सामान्य प्रक्रिया का प्रयोग करने के बाद ही सत्याग्रह की सीधी कार्यवाही का प्रयोग किया जाना चाहिए।

यूं तो सत्याग्रह सीधी कार्यवाही की सबसे शक्तिशाली विधियों में से एक है, लेकिन सत्याग्रही दूसरी अन्य विधियों को निःशेष करने के बाद ही सत्याग्रह का आश्रय लेता है। इसलिए पहले वह गठित सत्ता-प्रतिष्ठानों के पास लगातार प्रयत्न करेगा, लोकमतों का समर्थन मांगेगा, जनता के विचारों को शिक्षित करेगा, वह ऐसे किसी भी व्यक्ति के सामने अपने पक्ष को प्रस्तुत करेगा जो उसे सुनना चाहता है। इन सभी विधियों को आजमाने के बाद ही वह सत्याग्रह का सहारा लेगा।

सत्याग्रह अभियान में सामाजिक प्रणाली के सत्य को तीन सोपानों में स्थापित करने की बात कही जाती है। 1) विरोधियों को तर्क के सहारे कायल करना और विरोधियों के विचारों के प्रति भी अपने को खुला रखना, 2) सत्याग्रह के स्वपीड़न के सहारे विरोधियों को निवेदन करना, और 3) असहयोग और नागरिक अवज्ञा।

सत्याग्रह की विभिन्न विधियाँ : 1) प्रण, प्रार्थना और अनशन जैसी शुद्धात्मक सत्याग्रही कार्यवाहियाँ, 2) बहिष्कार, हड़ताल जैसे असहयोगी कर्म, 3) धरना, विशिष्ट कानूनों की अवज्ञा एवं करों का भुगतान न करना, जैसी नागरिक अवज्ञाओं का प्रदर्शन, 4) साम्प्रदायिक एकता को प्रोन्नत करने, अश्पृश्यता को दूर करने, प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम को चलाने एवं सामाजिक एवं आर्थिक असमानताओं को दूर करने वाले रचनात्मक कर्म। इन सभी स्थितियों में सत्याग्रही जहाँ सत्य के दामन को पकड़े रहता है, वहाँ वह विरोधियों को हर यह अवसर प्रदान करता है, जिससे वह सत्याग्रही के पक्ष को गलत एवं भ्रांतिपूर्ण सिद्ध कर सके। सत्याग्रह हिंसा का प्रयोग नहीं करता क्योंकि मनुष्य निरपेक्ष सत्य को जानने में असमर्थ है इसलिए वह दूसरे को दण्डित करने का अधिकारी नहीं है। "मन में यह आदर्श बनाये रखना चाहिए कि सामुदायिक सत्य के स्वय-नियंत्रित समाज में हर व्यक्ति स्वयं पर इस प्रकार शासन करे कि वह अपने पड़ोसी के रास्ते की कभी बाधा नहीं बने"। जोन बोन्दुरां लिखती हैं कि "सत्याग्रह यह दावा करता है कि वह अहिंसक तरीके से मानवीय आवश्यकताओं को पूर्ति करने वाला ऐसे सत्य की रचना करेगा जो दोनों पक्षों को स्वीकार्य होगा एवं दोनों को पारस्परिक संतोष प्रदान करने वाला होगा। अतः सत्याग्राहियों का कार्यात्मक सिद्धांत होगा : सत्य को सापेक्ष, अहिंसक और सहिष्णु मानना तथा स्वयं पीड़न का सहारा लेना। गाँधी इन बातों को निम्नांकित उद्धरण में उचित ठहराते हैं :

"सत्याग्रह का प्रयोग करते हुए मुझे यह अनुभव हुआ कि आरम्भिक अवस्था में सत्य का अन्वेषण विरोधियों पर हिंसा के प्रयोग को स्वीकार नहीं करता है बल्कि, बड़े धैर्य और सहानुभूति से विरोधियों के भ्रम को दूर करती हैं। क्योंकि हो सकता है जो किसी को सत्य मालूम पड़े, वह दूसरे को असत्य जान पड़े"।

इसलिए आचार की स्वर्ण संहिता पारस्परिक सहिष्णुता है। इसके पीछे यह मानना है कि हम लोग

सभी एक जैसा नहीं सोचते हैं और हम लोग सत्य को खंडित एवं दृष्टि के विभिन्न कोणों से देखते हैं। सबों का अन्तःकरण एक जैसा नहीं होता। इसलिए यह सिद्धांत वैयक्तिक आचार का एक अच्छा मार्ग दर्शक है। सबों पर एक ही आचार संहिता लादना उनके स्वतंत्र अन्तःकरण पर असह हस्तक्षेप होगा।

वास्तविक अधिकार और न्यायपूर्ण नियमों के बारे में लोगों की अवधारणा एक जैसी नहीं होती। यही कारण है कि हिंसा के बदले एक सत्याग्रही अपने विरोधियों को भी वही स्वतंत्रता एवं मुक्ति की भावना का अधिकार देता है, जो वह खुद अपने लिए सुरक्षित रखना चाहता है। वह खुद को क्षति पहुंचाकर संघर्ष जारी रखता है।

प्रजातंत्र का विकास सम्भव नहीं है, अगर हम दूसरे पक्ष को सुनने को तैयार नहीं हैं। विरोधियों को सुनना अगर हमने अस्वीकार कर दिया है, तो इसका मतलब है कि हमने अपने विवेक के दरवाज़े को बद कर दिया है। अगर असहिष्णुता हमारी आदत बन जाती है, तो यह डर है कि हम सत्य को भी खो दें। इसके बावजूद कि प्रकृति ने हमारी समझ की कुछ सीमाएँ निर्धारित कर रखी हैं, फिर भी हम लोगों को जो भी समझ है, उसके अनुसार निर्भय होकर काम करना चाहिए। हम लोगों को खुले मन से यह स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए कि जिसे हम सत्य मानते थे, वह असत्य था। मन का यह खुलापन ही हम लोगों में अन्तर्निहित सत्य को दृढ़ करता है।

बोध प्रश्न 6

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

1) गाँधी ने सत्याग्रह को कैसे परिभाषित किया है?

....

....

....

....

2) सत्याग्रह किन-किन सिद्धांतों पर आधारित है?

....

....

....

....

3) अहिंसा और सत्याग्रह के अन्तःसंबंधों पर टिप्पणी करें।

....

....

....

....

19.8 गाँधीवादी विचारों पर कुछ आलोचनात्मक टिप्पणियाँ

आधुनिक सभ्यता की जो समीक्षा गाँधी ने की, उसे इस तथ्य के आधार पर समझा जा सकता है कि गाँधी इस सभ्यता के आंशिक अंतरंगी (इनसाइडर) और आंशिक बाहरी व्यक्ति (आउटसाइडर) थे। आंशिक रूप में एक अंतरंगी व्यक्ति के रूप में गाँधी जी ने आधुनिक उदारतावाद की नागरिक स्वतंत्रताओं और उत्तर-ज्ञानोदय आधुनिकतावाद के वैज्ञानिक मनोवृत्ति को महत्व दिया। आंशिक रूप से एक बाहरी आदमी के रूप में गाँधी किसी भी पश्चिमी आलोचक की अपेक्षा पश्चिमी आधुनिकता के अंधेरे पक्षों को ज़्यादा गहराई से देख सकते थे तो इसलिए, क्योंकि गाँधी एक दूसरी सभ्यता के निवासी थे जो पश्चिम के द्वारा एक उपनिवेश बना ली गयी थी। वे पश्चिमी आधुनिकता को रूपांतरित करने के लिए भारतीय सभ्यता से कुछ अवधारणात्मक श्रेणियाँ एवं नैतिक नियमों, जैसे सत्य और अहिंसा को ग्रहण करने के पक्ष में थे।

19.8.1 पश्चिमी आधुनिकता के प्रति रवैया

पश्चिमी आधुनिकता के प्रति गाँधी का आरम्भिक रूख इतना अधिक नकारात्मक था कि नेहरू का यह कहना गलत नहीं था कि वे आधुनिक जीवन के कुछ पक्षों के प्रति किसानी अंधता (पैजेंट्स ब्लाइंडनेस) से ग्रसित थे। यद्यपि अपने बाद के वर्षों में गाँधी ने आधुनिकता की समीक्षा में काफी नरमी लाई, जैसा कि हम लोगों ने देखा। तब भी आधुनिक सभ्यता के विषय में उन्होंने जिस आदर्श स्वराज की कल्पना की थी, उसकी वैधता एवं प्रासंगिकता के वे बराबर तरफदार रहे। वस्तुतः गाँधी का यह आदर्श एवं आधुनिक सभ्यता की उनकी गहरी आलोचना ने भारतीय जनता में नेहरू के शब्दों में "महान मनोवैज्ञानिक क्रांति" लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिसने अन्ततः अहिंसक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को सफल बनाया। गाँधी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने पश्चिमी आधुनिकता की परियोजना में निहित विभाजकता, शोषण, हाशियाकरण, हिंसा और नैतिक अपूर्णतया को चिन्हित किया था। आधुनिकता की मनुष्य की जो भौतिकवादी एवं परमाणुवादी अवधारणा है, गाँधी की उसकी समीक्षा अन्तर्दृष्टिपूर्ण एवं हितकारी है।

19.8.2 सत्याग्रह की अव्यावहारिकता

गाँधी के सत्याग्रह के सिद्धान्त एवं आचार के बारे में कई विचारकों का मत है कि हिंसक उत्पीड़न के विरुद्ध अहिंसा और स्वपीड़न अव्यावहारिक विधियाँ है। उन लोगों का कहना है कि गाँधी की विधियाँ असांसरिक एवं अमानवतावादी है। उदाहरण के लिए, लोकमान्य तिलक का यह कहना था कि गाँधी राजनीति को नैतिकता से जोड़ने की जो बात कहते हैं, वह सांसरिक सरोकारों के मेल में नहीं है। गाँधी को लिखे अपने प्रसिद्ध पत्र में वे कहते हैं : "राजनीति साधुओं का नहीं, सांसरिक लोगों का खेल है। इसलिए युद्ध के बनिस्पत श्री कृष्ण की प्रविधि इस संसार की मेल में है"। अपने उत्तर में गाँधी का कहना था कि अहिंसा और स्वीपीड़न असांसरिक नहीं है बल्कि अनिवार्यतः सांसरिक है। उन्होंने यह स्वीकार किया था कि प्रयोग के लिए ये सिद्धांत कुछ मुश्किल ज़रूर हैं, लेकिन इन्हीं सिद्धांतों पर चलने की आवश्यकता है। उनका कहना था कि पूर्ण अहिंसा का सिद्धान्त यूक्लिड के बिंदु या सीधी रेखा के सिद्धान्त की तरह है, लेकिन हमें जीवन के प्रत्येक क्षण में प्रयत्नशील रहना होगा। गाँधी का कहना सही था कि अहिंसक समाज सम्भव भी है और अपेक्षणीय भी।

यह आलोचना का विषय है कि सत्याग्रह में सत्याग्रही से मृत्यु तक स्वपीड़न की मांग की जाती है। यह सही है कि स्वपीड़न सत्याग्रह का एक महत्वपूर्ण तत्व है, तथापि हिंसक प्रतिरोध के मामले में भी स्वपीड़न की भूमिका होती है। उत्पीड़न के विरुद्ध हिंसक और अहिंसक प्रतिरोध दोनों में "मृत्यु तक बलिदान की भावना" एक सामान्य तत्व है। यही कारण है कि गाँधी अहिंसा की सभी विधियों के असफल हो जाने पर और वो भी, सिर्फ मूलभूत समस्याओं पर ही सत्याग्रह को अपनाने की सम्मति देते थे। सन् 1921 में उन्होंने लिखा था: "मुझे गहरी पीड़ा होगी अगर हम कल्पनीय अवसर पर हम लोग स्वयं के समक्ष एक नियम रखें और उसी के अनुसार भविष्य की राष्ट्रीय सभा के लिए कार्य निर्धारित करें। अधिकांश मामलों में मैं अपने निर्णय को राष्ट्रीय प्रतिनिधियों को सुपूर्द कर दूंगा।: "लेकिन जब हिंसक उत्पीड़न की स्थिति बरकरार हो और अहिंसक प्रतिरोध की सभी नरम विधियाँ आजमाई जा चुकी हों, तब भी गाँधी का मानना था कि सामुदायिक सत्य के लिए स्वपीड़न से अहिंसक योद्धा की मृत्यु हिंसक प्रतिरोध में हारकर मरने वाला योद्धा की मृत्यु के अपेक्षा व्यक्ति स्वातंत्र्य का सच्चा उद्घोष है"।

19.8.3 पश्चिमी विचारकों द्वारा मूल्यांकन

निष्कर्षतः गाँधी जी के सत्याग्रह का पश्चिमी विचारकों द्वारा दो मूल्यांकनों पर हम लोग विचार करेंगे। अपनी पुस्तक 'फिलासफीज़ ऑफ इंडिया' में एच. ज़िमर लिखते हैं:

"गाँधी के सत्याग्रह की योजना उस प्राचीन हिन्दू विज्ञान के क्षेत्र में एक गम्भीर शक्तिशाली प्रयोग है जो उच्चतर शक्तियों में प्रवेश कर निम्नतर शक्तियों को अतिक्रमित कर जाती हैं। ग्रेट ब्रिटेन के "असत्य" का भारत के "सत्य" के साथ गाँधी सामना कर रहे हैं। अंग्रेज़ो ने हिंदू पवित्र धर्म के साथ समझौता किया। यह एक चमत्कारिक पुजारी युद्ध है जो विशाल आधुनिक पैमाने पर लड़ा जा रहा है" और "रॉयल सैनिक कॉलेज के टेक्स्ट बुक में लिखित सिद्धान्त बजाय बह्मा के सिद्धांतों पर लड़ा जा रहा है"।

इसी प्रकार अपनी पुस्तक साइंस, लिबर्टी एन्ड पीस में एलडस हक्सले लिखते हैं :

"ऐसा मालूम पड़ता है कि आने वाले वर्षों में सत्याग्रह पश्चिम में भी अपनी जड़े जमा लेगा। किसी हृदय परिवर्तन की वजह से नहीं बल्कि सिर्फ इसलिए कि विजित देशों में जनता का यह

एकमात्र ऐसी राजनैतिक कार्यवाही हैं, जिसे प्रयोग में लाया जा सकता है। रुर और पालातिनेत के जर्मनों ने फ्रांसीसी लोगों के विरुद्ध सन् 1913 में सत्याग्रह का आश्रय लिया था। यह आन्दोलन स्वत: स्फूर्त था। दार्शनिक, नैतिक या संगठनात्मक रूप में यह तैयार नहीं था इसलिए यह आन्दोलन अन्तत: टूट गया। लेकिन यह काफी दिनों तक चला जिससे यह सिद्ध हुआ कि पश्चिमी लोग (जो किसी भी दूसरे देश में अधिक सैनिक प्रवृत्ति के हैं) भी आत्मत्याग एवं पीड़ा को स्वीकार कर अहिंसा की सीधी कार्यवाही अपनाने में उतने ही सक्षम हैं"।

बोध प्रश्न 7

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर का परीक्षण दिए गए उत्तर से करें।

1) गाँधी का पश्चिमी विचारकों ने जो मूल्यांकन किया है, उसका संक्षेप में वर्णन करें।

....

....

....

....

19.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आप लोगों ने सत्याग्रह और स्वराज्य के बारे में गाँधी की अवधारणाओं का अध्ययन किया। आप लोग उन कारणों से परिचित हुए जिनकी वजह से गाँधी पश्चिम की आलोचना करते थे। अन्त में गाँधी का मूल्यांकन किया गया। यह आशा की जाती है कि इस इकाई के अध्ययन से आप लोगों को उन विषयों को लेकर एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो गयी होगी जिनके प्रति गाँधी कटिबद्ध थे।

19.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

पंथम थौमस एवं दूयोश केनेथ एल., *पोलिटकल थॉट इन मॉडर्न इंडिया;* सेज पब्लिकेशनस इंडिया, प्रा. लि., 1986, नई दिल्ली।

जे. बंदोपाध्याय, *सोशल एंड पौलिटिकल थॉट ऑफ गाँधी,* एलायड पब्लिशर्स, बम्बई, 1969।

विनोवा भावे, *स्वराज शास्त्र,* सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, 1963।

जय प्रकाश नारायण, *टूवार्डस टोटल रिवौल्यूशन, खंड-1,* रिकमंड पब्लिकेशन,

जय प्रकाश नारायण, *प्रिज़न डायरी,* (स) ए.बी. शाह, वाशिंगटन यूनिवर्सिटी प्रेस, सीएटल, 1977।

मोहनचंद करमचंद गाँधी : एन औटोबायोग्राफी, द स्टोरी विद ट्रूथ, लंदन, 1949।

म.क. गाँधी, *हिन्दू धर्म,* नवजीवन पब्लिशिंग हाऊस, अहमदाबाद, 1950।

म.क. गाँधी, *सत्याग्रह,* नवजीवन पब्लिशिंग हाऊस, अहमदाबाद, 1951।

19.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

खंड 19.2 और उपखंड 19.2.1 देखें।

बोध प्रश्न 2

खंड 19.3 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) खंड 19.4 और उपखंड 19.4.1 देखें।
2) खंड 19.4 देखें।

बोध प्रश्न 4

खंड 19.4 देखें।

बोध प्रश्न 5

1) खंड 19.6 एवं उपखंड़ 19.6.2 देखें।
2) खंड 19.6 एवं उपखंड 19.6.1 देखें।

बोध प्रश्न 6

1) खंड 19.7 एवं उपखंड 19.7.2 देखें।
2) खंड 19.7 एवं उपखंड 19.7.3 देखें।
3) खंड 19.7 एवं उपखंड 19.7.4 देखें।

बोध प्रश्न 7

खंड.19.8 देखें।

इकाई 20 सर्वोदय और गाँधीवादी विकल्प

इकाई की रूपरेखा

20.1 प्रस्तावना
20.2 सर्वोदय की अवधारणा
20.2.1 व्यक्ति की अवधारणा
20.2.2 राजनीति में नैतिकता की भूमिका
20.2.3 राजनीतिज्ञ की अवधारणा
20.2.4 नागरिक, समाज और राज्य
20.2.5 ग्राम-पंचायत
20.2.6 हिन्दूवाद
20.3 सारांश
20.4 कुछ उपयोगी पुस्तकें
20.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.1 प्रस्तावना

माओ से तुंग और गाँधी दो ऐसे राजनेता हैं जो विश्व समुदाय में अपना स्थान रखते हैं। दोनों ही राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों से पैदा हुए हैं। दोनों ने ही पूर्वी समाज को समझने की यथाशक्ति कोशिश की। दोनों ने ही राजनैतिक आंदोलनों में सक्रिय भाग लिया और अपने योगदान द्वारा राष्ट्रीय आंदोलनों को एक निश्चित दिशा प्रदान की। गाँधी और माओ दोनों ने ही एक संयोजित व्यक्तित्व की छवि को बनाने का प्रयत्न किया है। राजनैतिक सिद्धांत के स्तर पर, माओ ने स्वयं मार्क्सवादी होते हुए मार्क्सवादी विचारधारा से पश्चिमी प्रभाव को भी हटाया है। बुद्धिजीवियों के इतिहास में यह एक मुख्य प्रश्न है कि क्या गाँधी ने पश्चिमी विचारधारा की पूरी बुद्धिजीवी परंपरा को बदलने की कोशिश की? गाँधी की विचारधारा को व्यवस्थित ढंग से पुन: परिभाषित करना एक कठिन कार्य है। एक तरह से गाँधी की विचारधारा के तीन आयाम हैं, जिनमें व्यक्तित्व, सामाजिक और पर्यावरण आयामों का, एक ही में समावेश किया गया है। इसलिए गाँधी एक जटिल विचारक कहलाए जाते हैं। गाँधी की विचारधारा के मुख्य तथ्यों को अलग से उजागर करना एक मुश्किल कार्य है। उन्होने भारतीय परंपरा के अनेक तथ्यों को इकट्ठा किया परन्तु उनको अपने ढंग से परिभाषित किया। इसके साथ ही उन्होंने कुछ नए तथ्यों को भी इसमें जोड़ा। गाँधी ने अपने विचारों को स्वयं एक निश्चित स्वरूप में अपने ही तरीके से विकसित किया।

20.2 सर्वोदय की अवधारणा

इस अवधारणा की उत्पत्ति को समझना हमे उस विशाल आंदोलन की तह में ले जाता है, जिसकी शुरुआत अठारहवीं शताब्दी के अंत में उस समय हुई, जब अनेक भारतीय विचारकों ने पश्चिमी प्रभावों के संदर्भ में भारतीय परम्पराओं को पुनर्जीवित करने एवं भारतीय समाज का आधुनिकीकरण करना शुरू किया था। इन विचारकों ने भारतीय परम्पराओं में बहुत सी अवधारणाओं को खोजा तथा इन अवधारणाओं को पुन: परिभाषित किया। इसके साथ-साथ उन्होंने कुछ नई अवधारणाओं का भी प्रतिपादन किया। गाँधी ने अपने विचारों को अपने सोचने के ढाँचे के अनुसार विकसित किया। उन्होंने कुछ अवधारणाओं को त्याग किया तथा कुछ अन्य पहलुओं को महत्ता दी। मूल्यों का पुनर्निवधंन भी किया।

गाँधीवादी अवधारणाएँ जैसे-सर्वोदय तथा सत्याग्रह — गीता अथवा उपनिषद् की उपज है। सर्वोदय दो शब्दों से मिलकर बना है — 'सर्व' और 'उदय'। 'सर्वोदय' का शाब्दिक अर्थ है, सबका उत्थान। इस उत्थान में शारीरिक और भौतिक आयाम होने के साथ-साथ इसके मूल रूप से एक आध्यात्मिक चेतनात्मक अभिबोध भी है, जो कि शारीरिक तथा भौतिक आयाम में बदलाव लाता है। फिर भी गाँधी ने सर्वोदय का अर्थ सबके कल्याण को माना। ऐसा कल्याण चेतनात्मक अभिबोध के द्वारा ही हो सकता है।

सत्याग्रह का अर्थ है : सत्य में अडिग विश्वास। गाँधी ने सत्याग्रह का कुछ हद तक दक्षिणी अफ्रीका मे प्रयोग किया। बाद में उन्होंने इसका वैचारिक तथा सैद्धांतिक प्रचार किया। यहाँ यह

ध्यान देना आवश्यक है कि सत्याग्रह की समृद्धि करने और उसे परिभाषित करने के लिए 'मनन्-क्रिया-मनन्' की प्रक्रिया अपनायी गई, जिससे सत्याग्रह साधन और साध्य दोनों बन सके।

एक सत्याग्रही होने के लिए व्यक्ति को अहिंसा के सिद्धांतों को अपनाना होगा। गाँधी ने जीवन भर इन मूल सिद्धांतों को कभी नहीं तोड़ा। जब असहयोग आंदोलन में लोग हिंसा पर उतर आए, तब उन्होंने राजनैतिक आंदोलन को वापस ले लिया। इसके प्रयोग के लिए, व्यक्ति को अपनी क्रियाओं और कार्य-कलापों पर अकुंश लगाना होगा। अहिंसा के प्रयोग में कोई कमज़ोरी नहीं वरन् एक शक्ति प्रदर्शित होती है।

उपरोक्त अवधारणाओं की भारतीय परम्पराओं के एक भाग के रूप में व्याख्या की गयी है, परन्तु गाँधी इन्हें विश्वव्यापी अर्थ देकर ऊँचे स्तर पर ले गए।

गाँधी के संदर्भ में, होने और बनने में द्वंद्वात्मक सम्बन्ध है। उनके विचार, उनके अपने जीवन के अनुभवों से उत्पन्न हुए, लेकिन इसके साथ-साथ उनके जीवन के अनुभवों ने उनके विचारों को प्रभावित किया। अपने अंत समय तक, गाँधी सत्य के साथ प्रयोग करते रहे। सत्य के प्रति उनकी पूर्ण निष्ठा थी। गाँधी ने सर्वोदय के सिद्धांत की व्याख्या अपने अनुभवों के द्वारा की। विदेश में ली गई पश्चिमी शिक्षा के कारण गाँधी को पूंजीवाद के विभिन्न रूपों को करीब से देखने का मौका मिला। पश्चिमी पूँजीवाद उपभोग और निजी संपत्ति के केन्द्रीकरण को बढ़ावा देता है। राजनैतिक विचार के स्तर पर मानव राजनैतिक तानेबाने का केन्द्र बिन्दु बना रहता है। समुदाय और समाज की ज़रूरतों पर ध्यान नहीं दिया जाता। गाँधी पूँजीवाद के एक बड़े आलोचक बन गए। उन्होंने सामाजिक पूँजी के सिद्धांत का प्रचार किया। उन्होंने मानव के परिश्रम के संदर्भ में, पूँजीवाद के मूल सिद्धांतों को स्वीकार किया। प्रत्येक व्यक्ति का परिश्रम, पूँजी का निर्माण करता है। परन्तु पूँजी का एक सामाजिक महत्व भी है। समाज का, व्यक्ति की पूँजी पर हक है। वितरण के स्तर पर बाज़ार का काम प्रतिबंधित होना चाहिए। मानव चेतना का काम यहाँ आवश्यक है। मानव, अपने उच्च स्तर की अंतरात्मा के कारण, समुदाय को अपनी संपत्ति का इस्तेमाल करने देता है। मानवीय आधार को किसी भी समय उपेक्षित नहीं किया जाना चाहिए। गाँधी ने निजी संपत्ति के सिद्धांत की पुनर्व्याख्या की। व्यक्ति के पास निजी संपत्ति हो सकती है, लेकिन सिर्फ अपने इस्तेमाल के लिए नहीं। इसका उपयोग समाज की जरूरतों को पूरा करने के लिए भी हे. चाहिए। इसलिए व्यक्तिगत ज़रूरतों को कम से कम रखना चाहिए। यहाँ पर गाँधी का आर्थिक समानता पर कथन ध्यान देने योग्य है।

"आर्थिक समानता लाने के लिए पूँजी और परिश्रम के बीच स्थायी द्वन्द्व को मिटाना होगा। इसका अर्थ है कि उन मुट्ठी भर धनिकों की पूँजी को घटाकर एक स्तर पर लाना जिनके हाथों में देश की अधिकांश पूँजी है, और दूसरी तरफ उन लाखों, भूखे नंगे लोगों को ऊपर उठाना"। "जब तक अमीर और लाखों भूखों के बीच खाई है", यहाँ एक अहिंसक प्रणाली की सरकार नामुमकिन है।

व्यक्ति की ज़रूरतों पर प्रतिबंध पर्यावरण की दृष्टि से भी आवश्यक है। अपनी ज़रूरतों के विस्तार से पर्यावरण पर भार पड़ता है। अन्य जातियों के प्रति पर्यावरण असंतुलन एक हिंसक कार्यवाही है। गाँधी का अन्य जीव-जन्तुओं के प्रति अत्याधिक प्रेम था। वन्य प्राणियों के प्रति उनका यह ख्याल, उन्हें पर्यावरण के प्रति अधिक सजग बनाता है। इसलिए, वह मानवीय, ज़रूरतों को कम से कम करने का प्रयत्न करते हैं। गाँधी के शाकाहारी होने की विचारधारा भी उनके पर्यावरण के अनुभव पर आधारित है। शाकाहारी जीवन, पर्यावरण के लिए उतनी अधिक मुश्किलें नहीं खड़ी करेगा। खांदी पहनना भी, गाँधी के सिद्धांतों में से है जो कि मानवीय पर्यावरण के लिए उचित ही है। विश्व पर्यावरण पर बुरा प्रभाव तब पड़ता है, जब मनुष्य की ज़रूरतें बढ़ती चलीं जाती हैं। परिणामस्वरूप, पर्यावरण असंतुलन समाज पर बुरा प्रभाव डालता है।

मानव चेतना को दो तरफे ढांचे की तरह उसके साथ-साथ बढ़ना चाहिए—एक स्वयं और दूसरा अन्य। दूसरों के साथ आत्मा का विकास संभव है। दूसरों की सेवा करना हर मनुष्य का नैतिक कर्त्तव्य है। गरीबी का जन्म भी मनुष्य की धन के प्रति भूख के कारण ही होता है। गरीबों की सेवा करना, ईश्वर की सेवा के समान है। दरिद्रनारायण सेवा, हमारी पुरानी सभ्यता का ही एक भाग है।

दक्षिणी अफ्रीका में रहते हुए भी गाँधी ने इन बातों को अपनाया। मनुष्य निजी संपत्ति तो रख सकता है, परन्तु इसे स्वयं प्रयोग करते समय अपनी चेतना को भी जगा लेना चाहिए। अपनी संपत्ति का अपने लिए उपभोग करने का अधिकार गाँधी की दृष्टि में विवादास्पद है। दूसरों का यह अधिकार है कि वह धनी व्यक्ति की संपत्ति का उपभोग अपनी निज़ी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए कर सकते हैं। एक अहिंसावादी सामाजिक ढाँचा तैयार किया जा सकता है। यदि सबकी कम से कम

ज़रूरतें पूरी की जा सके। अपनी ज़रूरतों पर स्वयं नियंत्रण रखने से सर्वोदय को आगे बढ़ाया जा सकता है। जब धनी अनैतिक और लोभी बन जाता है, तब गरीब को यह अधिकार है कि इसका विरोध करे। गाँधी ने खासतौर से जोर देकर कहा कि अगर धनी अपने धन को सच्चे अमानतदार के रूप में गरीबों में न बांटे, तो इसका अहिंसक असहयोग और सविनय अवज्ञा एक अचूक उपाय है, क्योंकि अमीर, अपना धन गरीबों के सहयोग के बिना समाज में इकट्ठा नहीं कर सकता। गाँधी ने अमानतदार (Trusteeship/Trustee) की कल्पना की जो कि वास्तव में एक आर्थिक नीति है, जिससे एक सर्वोदय समाज की स्थापना की जा सकती है। एक उद्योगपति को अपने आप को अपनी संपत्ति का अमानतदार समझना चाहिए, जिसके पास संपत्ति तो है, लेकिन इसका उपभोग वह मनचाहे ढंग से नहीं कर सकता।

जब संपत्ति के मालिक मूल नीतियों को तोड़कर, संपत्ति का दुरुपयोग करते हैं तब गरीब जनता का यह अधिकार है कि वह इसका विरोध करे। सत्याग्रह, गाँधी की राजनैतिक विचारधारा का केन्द्र बिन्दु है। सत्याग्रह के लिए व्यक्ति को सदाचारी और सत्य के प्रति निष्ठावान होना चाहिए सत्य के लिए लड़ना, व्यक्ति का अधिकार है। व्यक्ति या जनता समाज को पुनर्गठित करने के लिए सत्याग्रह कर सकते हैं, लेकिन अहिंसा के मूल नियमों को तोड़ कर नहीं। राघवन.एन. अय्यर ने सत्याग्रह और सर्वोदय के बीच एक द्वंद्वात्मक सम्बन्ध बताया है।

गाँधी की सत्य की विचारधारा, अहिंसा के माध्यम द्वारा, उनकी सत्याग्रही नीतियों को दर्शाती है अथवा अधिकारियों का सक्रिय विरोध करने के रूप में अहिंसा की नीति, जिसमें सत्य ही साध्य है, के द्वारा उन्होंने सर्वोदय द्वारा अहिंसक समाजवाद लाने में सहायता की। गाँधी की आर्थिक विचारधारा रस्किन से प्रभावित हुई। यह बताया गया है कि गाँधी ने सर्वोदय का शीर्षक रस्किन के 'अंटू दिस लास्ट' का गुजराती अनुवाद करते समय पैदा किया। रस्किन की इस पुस्तक का गाँधी पर गहरा प्रभाव पड़ा।

20.2.1 व्यक्ति की अवधारणा

1) एक व्यक्ति की भलाई, समस्त मानव जाति की भलाई में निहित है।
2) एक नाई के काम का उतना ही महत्व है जितना कि एक वकील का, क्योंकि दोनों को ही अपने परिश्रम के बल से अपनी जीविका कमाने का समान अधिकार है।
3) एक मज़दूर, जैसे खेत में काम करने वाले और एक बुनकर की ज़िन्दगी जीने योग्य होती है।

गाँधी सबकी भलाई में विश्वास रखते हैं। मानव परिश्रम ही एक समाज का निर्माण करता है। एक निपुण कारीगर और सामान्य कारीगर के परिश्रम का समान महत्व है। बौद्धिक परिश्रम और शारीरिक परिश्रम में कोई अंतर नहीं है। दूसरे शब्दों में, गाँधी के विचारों में परिश्रम एक सामाजिक तत्व है, जो पूँजी का निर्माण करता है, जिसका मूल्य हमेशा समान रहता है, चाहे यह परिश्रम किसी भी रूप में क्यों न हो।

20.2.2 राजनीति में नैतिकता की भूमिका

गाँधी की राजनीति का सिद्धांत मूलतः नैतिक है। गाँधी के अनुसार राजनीति में आचरण, राजनीति और धर्म के बीच संबंध स्थापित करने में सहायक होता है। सभी धर्मों में एक ही मुख्य समस्या है — "सत्य की खोज"। सभी धर्मों में एक कड़ी है, जो कि विश्वव्यापी है। साम्प्रदायिकता एक ऐसी बुनियाद है जो सबको सत्य की खोज करने का मौका देती है। गाँधी कभी भी राजनीति को धर्म से अलग नहीं समझते। इन दोनों के बीच उन्होंने एक नया रिश्ता कायम किया: राजनीति के आचरणवादी आयाम का धर्म और राजनीति से करीबी रिश्ता है। राज्य और सरकार का धर्म से कोई संबंध नहीं है, परन्तु एक राजनीतिज्ञ को धार्मिक होना आवश्यक है।

20.2.3 राजनीतिज्ञ की अवधारणा

राजनीतिज्ञ का मुख्य कर्त्तव्य, दूसरों की सेवा करना है। नहीं तो, राजनैतिक शक्ति, एक राजनीतिज्ञ को भ्रष्ट बना सकती है। धर्म और सरकार का अलग होना आवश्यक है क्योंकि धर्म का मनुष्य के जीवन में एक महत्वपूर्ण कार्य है। सरकार को धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। गाँधी का सरकार का सिद्धांत मूलतः धर्मनिरपेक्ष सरकार है।

20.2.4 नागरिक, समाज और राज्य

गाँधी के राजनैतिक संवादों में समाज और राज्य की पृथक-पृथक व्याख्या की गई है। उनकी

राजनैतिक संरचना में राज्य में समाज की अधिक महत्वपूर्ण भूमिका है। समाज एक व्यक्ति अथवा समूह को अपने निजी कार्यों के लिए पूरा सहयोग देता है। राज्य अथवा सरकार का कार्य होना चाहिए। यहाँ पर वह थोरू के विचारों से सहमत हैं कि ''वही सरकार उत्तम है, जो कम से कम शासन करे''।

20.2.5 ग्राम-पंचायत

गाँधी का सर्वोदय, उस छोटे से गणराज्य से संबंधित है, जहाँ राज्य पर निर्भर हुए बिना जनता अपना कार्य कर लेती है। गाँधी की योज़ना में, ग्राम पंचायत नीतियों के निर्धारण में एक बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। ग्राम पंचायत हर जाति और धर्म के योग्य युवकों से बनती है। एक खुले समाज में लोगों के बीच अपने कार्यों को संभालने की एक अनौपचारिक व्यवस्था होती है। ग्रामीण गणराज्य, भारत की परंपरा का एक भाग है। प्रजातंत्र को मज़बूत बनाने के लिए भारतीय समाज को अनेक संस्थाओं को अपनाना होगा। लोकतांत्रिक ढाँचे में अपनी पुरानी संस्थाओं का होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, पश्चिमी लोकतंत्र, भारत के लिए तभी उपयुक्त होगा जब यह भारतीय परिस्थिति में ढल जाय। जैसा कि गाँधी ने कहा है ''राजनीति के क्षेत्र में, मैं भारतीय संस्थाओं का इस्तेमाल करूंगा, और उनकी कमियों को दूर करके उनकी सेवा करूंगा। गाँधी इस ऐतिहासिक बात से सजग थे कि उपनिवेशवाद ने ग्रामीण समाज की मूलभूत मान्यताओं को नष्ट कर दिया है। सच्ची आस्था से इन मान्यताओं का पुनर्त्थान शायद लोकतंत्र को मज़बूत बना सके। निम्न स्तर पर, राजनैतिक संस्थाएं शायद राज्य की शक्तियों को कम कर सकें। गाँधी के राज्य का सिद्धांत, एक सीमित राज्य का सिद्धांत है जो लोगों के सामान्य जीवन में हस्तक्षेप नहीं करता। भारतीय समाज अनेक गाँवों से बना है, ग्रामीण गणराज्य लोकतांत्रिक संस्था का केन्द्र बन सकता है। नहीं तो राज्य एक निरंकुश संस्था बनकर, ग्रामीण समाज की महत्ता को नष्ट कर सकता है।

एक बार जब ग्राम पंचायत स्थापित हो जाएगी, तब सर्वोदय की आर्थिक स्थिति सुविधा से बनाई जा सकती है। राजनैतिक संस्थाओं द्वारा, स्थानीय साधनों का प्रबंध किया जा सकता है। अमीर लोग अपनी अधिक ज़मीन को ग्राम पंचायत को दे दें, जो इन्हें ज़रूरतमंद लोगों में बांट सकें। मेहनतकश समुदाय अपने परिश्रम द्वारा ग्रामीण पूँजी में अपना योगदान देते हैं। व्यक्ति, राजनैतिक संस्थाओं का केन्द्र रहता है। संस्था इतनी छोटी रहती है कि वह व्यक्ति से प्रभावित रहे। लेकिन सामाजिक पूँजी को बनाने के लिए व्यक्ति की शुरुआत ज़रूरी है। लेकिन व्यक्ति अपनी अधिक संपत्ति के द्वारा समुदाय का भला कर सकता है। ग्राम पंचायत को भी गाँव की आर्थिक स्थिति का ध्यान रखना चाहिए, इससे ग्रामवासियों की सम्पन्नता पर भी असर पड़ेगा।

गाँधीवादी राजनैतिक कार्यक्रम में मुख्य बात सामाजिक पुनर्निर्माण की है। ग्राम पंचायत शिक्षा, स्वास्थ, सफाई आदि का भार ले सकती है। यह अस्पर्शयता मिटा सकती है और खादी बुनना सिखा सकती है। इस प्रकार ग्राम समुदाय आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बन सकता है। इनकी ज़रूरतें, बिना किसी बाहरी निर्भरता के, अपने सामूहिक प्रयास से ही पूरी हो जाती हैं। व्यक्ति की अपनी शुरुआत समुदाय में एकता ला सकती है। गाँधी वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध नहीं थे। वर्ण व्यवस्था प्रदूषण और स्वच्छता पर निर्भर नहीं होनी चाहिए। काम का विभाजन लोगों को बौद्धिक तथा शारीरिक कार्य करने वालों के बीच में बाँटता है। जो लोग हाथ का काम करते हैं, उनका हिन्दू समाज में नीचा स्थान होता है। गाँधी बौद्धिक कार्य और हाथ के काम में कोई विभाजन नही करते। अस्पर्शयता का चलन, एक ऐसी व्यवस्था है जिससे समाज में हिंसा उत्पन्न होती है। हाथ और मस्तिष्क का मिलन एक समुचित व्यक्तित्व को बनाता है। गाँधी ने एक जातिवादी समाज को समझा। उन बातों को हटाकर, जिस पर कि जातिवाद की धारा टिकी है, एक समाज की पुनर्रचना की जा सकती है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) नीचे दी गई जगह पर अपने उत्तर लिखें।

ii) इकाई के अंत मे दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिला ले।

1) गांधी के ग्राम पंचायत के विषय में उनके विचारों को लिखें।

....

....

....

....

20.2.6 हिन्दूवाद

गाँधी उन चार अवस्थाओं को भी मानते हैं जो कि किसी भी व्यवस्था के मूलभूत नियम हैं। प्रत्येक को, चाहे वह किसी भी जाति का हो, इन अवस्थाओं को अपने जीवन में अपनाने का अधिकार है। उनकी योजना में द्वितीय और तृतीय अवस्थाएँ महत्वपूर्ण अवस्थाएँ हैं। द्वितीय अवस्था, जब व्यक्ति सामाजिक और पारिवारिक कार्यों में भाग लेता है, मानव सभ्यता को बढ़ाने में सहायक होती है। तृतीय अवस्था में व्यक्ति अपनी पारिवारिक सीमाओं को पार करके लोक कल्याण के क्षेत्र में प्रवेश करता है। इसमें प्रत्येक का अपना योगदान समाज की भलाई के लिए होता है। प्रत्येक नागरिक लोक कल्याण के क्षेत्र में आ जाता है। इस प्रकार राजनीति सबका क्षेत्र बन जाता है। गाँधी पेशेवर राजनीतिज्ञ के विरुद्ध थे, इससे सामाजिक जीवन भ्रष्ट होता है। अगर प्रत्येक नागरिक लोक कार्यों के प्रति जागरूक रहे हो राजनैतिक ढाँचा टूटेगा नहीं। व्यक्ति, समुदाय और समाज की व्यवस्था सरल हो जाती है। राजनैतिक शक्ति का कुछ लोगों के हाथ में ही होने से, सफल और भागीदारी वाली लोकतंत्र की प्रणाली नहीं बनाई जा सकती।

लोकतंत्रीय प्रणाली तभी सक्षम रूप से काम कर सकती है, जब तक कि समाज की तकनीकी ज़रूरतें व्यक्तियों के हाथ में रहे। तकनीकी बढ़ोत्तरी व्यक्ति को उदासीन बना सकती है, जो मनोवैज्ञानिक कारणों से उसे हिंसक भी बना सकती है। तकनीकी उन्नति बेरोज़गारी का कारण हो सकती है, जिससे गरीबी बढ़ती है। बेरोज़गारी और आर्थिक इकाई के मुख्य कारक हैं, व्यक्ति एक सक्रिय सामाजिक इकाई नहीं हो सकता। तकनीकी उन्नति गरीब और अमीर के बीच एक दीवार बनाती है, जो कि सर्वोदय समाज के मूल सिद्धांतों के विरुद्ध है।

औद्योगीकरण की भूमिका

सर्वोदय समाज में औद्योगीकरण और तकनीकी उन्नति के लिए जगह है. लेकिन इसे मानवीय नियंत्रण से बाहर नहीं जाना चाहिए और न ही समाज के पर्यावरण का संतुलन बिगाड़ना चाहिए। औद्योगीकरण और शहरीकरण से ग्रामीण समाज को नष्ट नहीं होना चाहिए, जो कि भारत की आत्मा हैं। औद्योगीकरण के कारण, आर्थिक शक्ति का विक्रीकरण होता है जो लोकतंत्र की जड़ों को काटती है। आर्थिक और राजनैतिक शक्तियों का एकीकरण उन मुट्ठी भर लोगों की सहायता करेगा जो लोकतंत्र के मूल सिद्धांतों को नष्ट कर सकते हैं। गाँधी भारत के गाँवों में आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण के विरुद्ध थे। भूमि का वितरण, गाँधी का एक प्रमुख आर्थिक और राजनैतिक कार्यक्रम है।

शिक्षा की भूमिका

एक सर्वोदय समाज को बनाने में शिक्षा मुख्य साधन है। एक सर्वोदय सामाजिक प्रणाली नई शिक्षा देकर बनाई जा सकती है। गाँधी अनिवार्य रूप से प्राथमिक शिक्षा के पक्ष में थे। गाँधी ने उस मूल शिक्षा का समर्थन किया, जिसमें हाथ और मस्तिष्क का समावेश हो। हाथ के परिश्रम और बौद्धिक परिश्रम के एकीकरण की आवश्यकता है। शिक्षा, सर्वोदय समाज के लिए मूल आदर्श है। यह उस उद्देश्य को पूरा करती है, जिसमें एक बालक को उत्पादन कर्ता बनता है, जो शिक्षा के द्वारा कुछ गुण सीखता है। शिक्षा विद्यालय के प्रयोगशाला के समान होनी चाहिए, जहाँ योग्य युवक बनाए जाएँ। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक को सामाजिक सच्चाईयों से जूझने के लिए तैयार करना है। सामाजिक ज्ञान उसे सर्वोदय समाज में भाग लेने में मदद करेगा।
जैसा कि हम जानते हैं, गाँधी का सर्वोदय समाज शक्ति पर नहीं, वरन् लोगों को मनाने पर आधारित था। गाँधी एक नए समाज को बनाने के लिए राजनैतिक दल में विश्वास नहीं रखते थे क्योंकि एक दल संस्थागत होने के कारण व्यक्ति को सख्ती के साथ उसमें शामिल होने के लिए मजबूर कर सकता है और जो कि अहिंसा के मूल सिद्धांतों के विरुद्ध है। इसलिए गाँधी स्वाधीनता से पूर्व कांग्रेस का खण्डन चाहते थे। गाँधी की योजना में, समाज को बदलने में मानव चेतना का बड़ा हाथ है। व्यक्ति, उनकी समस्त सोच का केन्द्र बिन्दु है। व्यक्ति अपनी चेतना के कारण, दूसरों के साथ मिलकर सामूहिक कार्य करता है, जो कि एक ऐच्छिक कार्य है। सर्वोदय समाज में व्यक्ति की स्वयं की इच्छा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। गाँधी के सर्वोदय समाज में राजनैतिक दलों की तुलना में स्वयंसेवी दलों का अधिक काम है, इससे राजनैतिक और आर्थिक शक्तियों के वितरण में सुविधा होगी। व्यक्ति स्वयंसेवी संस्थाओं को अपनी इच्छा से चुनता है, जिसे कि सही शिक्षा से भी प्राप्त किया जा सकता है। शिक्षा को व्यक्ति को अपने समाज के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि बनाने में सहायता करनी चाहिए। शिक्षा की समाज को बनाने में मुख्य भूमिका है, एक ऐसा समाज जो तनाव और हिंसा से मुक्त हो। एक बदलते हुए समाज में गाँधी, वर्ग और हिंसा की भूमिका को पहचानते थे। अपने विचारों में वह इन दोनों की भूमिकाओं को कम से कम कर रहे थे। बुद्ध की तरह, गाँधी भी हिंसा का स्थान, भारतीय समाज में समझते थे। द्वन्द्व और हिंसा एक बेहतर समाज को नहीं बना सकते। गाँधी के विचार, अहिंसा, सत्याग्रह

वांछिक विचारों से प्रभावित हैं। इसके साथ ही वह व्यक्ति को आगे आने का मौका देते हैं। सामाजिक गुटों के सक्रिय होने और सामूहिक इच्छा द्वारा समाज में बदलाव लाया जा सकता है। एक अहिंसक समाज की स्थापना तभी हो सकती है जब किसी भी प्रकार की हिंसा का प्रभाव न हो। गाँधी ने देखा कि भारतीय समाज में हिंसा के कई कारण हैं। आर्थिक, जातिवाद, धर्म, सभी एक हिंसक राजनीति की ओर बढ़ते हैं। गाँधी ने आर्थिक और अन्य कारणों से हिंसा का पता लगाकर मानव ज्ञान में एक महान योगदान दिया।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) नीचे दी गई जगह पर अपने उत्तर लिखें।

ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिला लें।

1) गाँधी के सामाजिक बदलाव के सिद्धान्तों की व्याख्या करें।

....

....

....

....

20.3 सारांश

इस इकाई में आपने गाँधी के सत्याग्रह के सिद्धांतों के बारे में पढ़ा। सत्याग्रह समाज के कार्यों के लिए एक नया कार्यक्रम है, जिसे गाँधी ने शुरू किया। इसके गहन अध्ययन से, विशेषकर इस भौतिक संसार में आपको इसकी महत्ता का अनुमान लगेगा।

20.4 कुछ उपयोगी पुस्तकें

भीकू पारेख, 1980, *गाँधीज़ पालीटिकल फिलासफी : ए क्रिटीकल एसैस्मेंट*, हुण्डमिल्स।

भीकू पारेख, *कॉलोनाइज़ेशन, ट्रेडशन एण्ड रिफॉर्म : एन ऐनैलेसिस ऑफ गाँधीज़ पालिटिकल डिसकोर्स*, 1989, नई दिल्ली।

मैथ्यू ज़कारिया, *रीवौल्यूशन टू रीफॉर्म : ए कम्पैरिज़न ऑफ सर्वोदय एण्ड कानशेनटाइजेशन* 1986, नई दिल्ली।

आर.एन. अय्यर, 1983, *द मॉरल एण्ड पॉलिटिकल थाट ऑफ महात्मा गाँधी*, नई दिल्ली।

20.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

20.2 भाग देखें

बोध प्रश्न 2

20.2.5 उपखंड देखें

बोध प्रश्न 3

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत के भाग को देखें।

इकाई 21 गाँधीवादी सामाजिक सुधार : भूदान आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 रचनात्मक कार्यक्रम की अवधारणा
21.3 सर्वोदय की अवधारणा
 21.3.1 सर्वोदय का आशय
 21.3.2 तकनीकी की भूमिका
 21.3.3 ग्राम-विकास की अवधारणा
 21.3.4 सर्वोदय संबंधी विनोबा की अवधारणा
21.4 भूदान आंदोलन
 21.4.1 ग्रामदान की अवधारणा
 21.4.2 ग्राम पंचायत की भूमिका
 21.4.3 जयप्रकाश नारायण का योगदान
 21.4.4 व्यक्तिगत संपत्ति की भूमिका
 21.4.5 संगठन की भूमिका
21.5 आंदोलन की सीमाएँ
21.6 सारांश
21.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
21.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको एक गाँधीवादी सुधार प्रयास के रूप में भूदान आंदोलन से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन से आप :

- रचनात्मक कार्यक्रम और सर्वोदय की अवधारणाओं की व्याख्या कर सकेंगे,
- भूदान आंदोलनों का समुचित बोध कर पायेंगे, और
- भूदान आंदोलन की सीमाएँ जान सकेंगे।

21.1 प्रस्तावना

गाँधी को भारत का एक मौलिक चिंतक माना जाता है। एक राजनीतिक जीवन-क्रम में ही गाँधी के विचारों ने परिपक्व स्वरूप लिया। उनके दक्षिण अफ्रीका अनुभवों ने उनके चिंतन को एक नैतिक आयाम दिया। एक नैतिक स्तर पर उन्होंने श्वेत (अंग्रेज) अल्पसंख्यकों द्वारा आरोपित नस्लवाद का विरोध किया। भारतीय समुदाय के सभी वर्गों और जातियों का उन्हें समर्थन मिला। गाँधीवादी नैतिकता का एक राजनीतिक अभिप्राय है। जातिगत एवं वर्गीय विभेदों के बावजूद दक्षिण अफ्रीका में वे एक वांछनीय समुदाय की रचना करने में सफल हुए। दक्षिण अफ्रीका के अनुभवों ने गाँधी को भारतीय यथार्थ में एक बेहतर अंतर्दृष्टि प्रदान की। उन्होंने साक्षात किया कि भारतीय जनसमुदाय का एक तबका जातिगत आधार पर सामाजिक भेदभाव के कारण हिन्दू धर्म के दायरे से बाहर बना हुआ है। ग्रामीण भारत से गाँधी के संपर्क ने उनके चिंतन को अधिक जटिल किंतु भारतीय यथार्थ के निकट स्वरूप दिया।

भारत आने के बाद गाँधी से कांग्रेस पार्टी ने चंपारण के किसानों की समस्याओं का अवगाहन का आग्रह किया। चंपारण जिले के किसान अंग्रेज काश्तकारों के विरुद्ध आंदोलन चला रहे थे। अपने लक्ष्य को और पुष्ट बनाने के लिए वे बाहरी हस्तक्षेप की अपेक्षा कर रहे थे। प्रत्यक्ष जांच पड़ताल के लिए वहाँ किसी को भेजने के लिए उन्होंने कांग्रेस के लखनऊ सत्र में नेतृत्व से आग्रह किया। कांग्रेस ने उनके साथ चंपारण जाने का दायित्व गाँधी को सौंपा। गाँधी ने किसानों की आर्थिक

स्थिति का स्वतंत्र अध्ययन किया था, यद्यपि वे राहत कार्य से बंधी सुझाव देने के लिए औपनिवेशिक प्रशासन द्वारा गठित समिति के भी सदस्य बने थे। गाँधी अपनी सूझबूझ से ग्रामांचलों के बहुस्तरीय जटिल यथार्थ का बोध कराने में समर्थ हुए।

चंपारण आंदोलन के समय ही उनके अपने प्रदेश गुजरात में व्यापक किसान आंदोलन चल रहा था। खेड़ा जिले का किसान आंदोलन राज्य के दिये जाने वाले ऊंचे करों के मसले पर संगठित किया गया था। इसका नेतृत्व स्थानीय उच्चजातीय व्यक्ति कर रहे थे। धनी तथा मध्यम स्तर के किसानों के पटीदार संघ की इस आंदोलन में सक्रिय भूमिका थी। स्थानीय अभिजात जनों के नहीं, बल्कि सरकार के विरुद्ध होने के कारण इस आंदोलन को एक सीमा तक सफलता मिली। लेकिन गाँधी इस तथ्य से बहुत विक्षुब्ध थे कि देहाती गरीबों और निचली जाति के लोगों के लिए वे कुछ कर नहीं पाये। उपरोक्त दोनों प्रयोगों से उन्हें यह सबक मिला कि निर्धन तथा सामाजिक रूप से पिछड़े लोगों को सक्रिय भागीदारी के बिना किसी भी जनआंदोलन का कोई सकारात्मक परिणाम नहीं हो सकता। गाँधी ने अस्पृश्यता-निवारण और खादी कपड़े पहनने पर आधारित एक युक्तिसंगत योजना सामाजिक पुनर्रचना के लिए बनाई। इस कार्यक्रम के अंतर्गत उच्चजाति के धनी व्यक्तियों को शामिल किया जाना था, जिससे वे बहुस्तरीय सामाजिक यथार्थ से परिचित हो सकें। इसका समग्र परिणाम होगा कि अभिजन समुदाय स्वयं निर्धनों की स्थिति का अनुमान कर सकेगा। निर्धनों की दुरावस्था का बोध कर लेने पर संभव है, वे उनके लिए कुछ करें। इसके अलावा, गाँधी इस बात से आश्वस्त थे कि अभिजनों के सक्रिय सहयोग के बिना सामाजिक अभिरचना की कोई योजना सफल नहीं हो सकती। एक नैतिक आधार पर समेकित वांछनीय समुदाय की रचना ही सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को तेज कर सकती थी।

21.2 रचनात्मक कार्यक्रम की अवधारणा

अपने रचनात्मक कार्यक्रम संबंधी प्रयोग गांधी ने 1921 के असहयोग आंदोलनों के समय किए। गाँधी चाहते थे कि कांग्रेस उनके कार्यक्रमों को स्वीकृति दे तथा वे व्यापक जन अभियान चलाने की दिशा में पहल कर सकेंगे। सामाजिक पुनर्रचना कार्यक्रम में भागीदारी से अपेक्षा की जाती थी कि आम कांग्रेस कार्यकर्ता वस्तुगत यथार्थ से संपर्क रख पायेगा।

कांग्रेस ने गाँधी के सामाजिक पुनर्रचना कार्यक्रम को पार्टी कार्यक्रम के रूप में स्वीकृति दे दी। असहयोग आंदोलन ऐसे समय में शुरू किया गया जब भारतीय समाज व्यापक उथल-पुथल का सामना कर रहा था। दरअसल, असहयोग आंदोलन के अंतर्गत अनेक सामाजिक एवं राजनीतिक अभियानों का समावेश हो रहा था। अखिल भारतीय स्तर पर संगठित किया जाने वाला यह पहला जन आंदोलन था। गाँधी भारत में व्यापक जनाधार वाली राजनीति के संचालक के रूप में उभरे; जिसके अंतर्गत सभी जातियों और वर्गों के लोगों की भागीदारी थी। इन व्यापक जनांदोलनों में भागीदारी कांग्रेस कार्यकर्ताओं के लिए शिक्षाप्रद अनुभव सिद्ध हुआ।

असहयोग आंदोलन लगभग एक साल चला जिसके फलस्वरूप विभिन्न अंचलों से अनेक राजनीतिक नेता उभर कर आए। व्यापक राजनीतिक गतिविधि न होने पर गाँधी ने कांग्रेस कार्यकर्ताओं का सामाजिक पुनर्रचना कार्यक्रम के प्रोत्साहित किया। इस प्रकार ये कार्यकर्ता उपरोक्त कार्यक्रमों की सीमा में ही बने रहे। इस महान सामाजिक प्रयोग के फलस्वरूप कांग्रेस निरुद्देश्य नहीं बने। बारदोली के स्थानीय कांग्रेस नेताओं ने लगान के मसले पर एक अन्य किसान आंदोलन के नेतृत्व के लिए गाँधी को बुलाया। यद्यपि गाँधी ने आंदोलन का स्वयं सक्रिय संचालन नहीं किया, उनकी ही देखरेख में आंदोलन आगे बढ़ा। बारदोली रैयतवाड़ी प्रथा के अधीन क्षेत्र में आता था जिसमें राज्य और काश्तकारों के बीच कोई बिचौलिया नहीं होता था। काश्तकारों के लिए सरकार के विरुद्ध आंदोलन चलाना अपेक्षाकृत आसान कार्य था। इस आंदोलन का नेतृत्व पटीदार समुदाय के हाथों में रहा, लेकिन गाँधी उन्हें सामाजिक पुनर्रचना कार्यक्रम में स्वयं को शामिल करने के लिए प्रेरित करने में सफल हुए। ऊँची जातियों के लोग हरिजन बस्तियों में गये और अस्पृश्यता निवारण के लिए कार्य किया। शुरुआत में, हरिजनों के साथ मेलजोल में उन्होंने झिझक दिखाई लेकिन क्रमशः यह संसर्ग उनके दैनिक जीवन का अंग बन गया।

बारदोली आंदोलन के परिणामों से गाँधी ने व्यक्तिगत रूप से संतुष्टि का अनुभव किया, यद्यपि यह आंदोलन आर्थिक दृष्टि से ही सफल माना जा सकता था। इसी के क्रम में शुरू हुआ सविनय आंदोलन जो अखिल भारतीय स्तर का दूसरा जनांदोलन कहा जा सकता है। इस आंदोलन ने ग्रामीण जनसमुदाय को राजनीति की ओर खींचा। सविनय अवज्ञा आंदोलन के अंतर्गत अनेक स्थानीय कर विरोधी आते थे। उनमें सवानि प्रमुख उत्तर प्रदेश और आंध्र प्रदेश में शुरू हुए थे जहाँ

आंदोलन के नेताओं ने सामाजिक तथा आर्थिक मसलों को जोड़ते हुए गाँधीवादी नीति का अनुशरण किया था।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए निम्न रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर की जाँच इकाई के अंत में दिये उत्तर के आधार पर करें।

1) गाँधी के सामाजिक पुनर्रचना कार्यक्रम के बारे में आप क्या जानते हैं?

....

....

....

....

21.3 सर्वोदय की अवधारणा

असहयोग आंदोलन का सामाजिक आधार सविनय अवज्ञा आंदोलन के सामाजिक आधार से पर्याप्त भिन्न था। अधिकाधिक निचली जातियाँ व्यापक जनराजनीति के आवर्त के अधीन आईं। 1942 का आंदोलन व्यापक जन राजनीति के इतिहास में प्रगति का सूचक था। इस आंदोलन में पिछड़ी जातियों और ग्रामीण जनसमुदाय अधिकाधिक सक्रिय हुए। जन राजनीति के उग्रतर स्वरूप अपनाने के साथ गाँधी के विचारों में भी मूलगामी रूपांतरण हुए। भावी भारत के बारे में स्वयं अपनी विश्व दृष्टि के विकास में वे लगे। उदारवादी जनतंत्र के मूलगामी विकल्प की रचना वे चाहते थे, जिसके अंतर्गत निर्धनों एवं पिछड़े जनों के मतों को अधिक मान्यता मिले। गाँधीवादी नीति पर आधारित सभी जन अभियानों का एक नैतिक स्वर मिलता है। गाँधीवादी राजनीतिक के अंतर्गत जाति, वर्ग एवं समुदाय संबंधी तत्वों की अंतःक्रिया देखने को मिलती है। गाँधीवादी जनराजनीति के दो अंतःसंबंधित विकास क्रम सामने आते हैं : i) गाँधीवादी अर्थों के सक्रिय राजनीति जब जनसमुदाय एक निश्चित उद्देश्य के साथ सड़कों पर आकर आंदोलन में हिस्सा लेते हैं,और ii) राजनीतिक शिथिलतर रूप में राजनीतिक कार्यकर्त्ता सामाजिक पुनर्रचना कार्यक्रमों में शरीक होते हैं। एक चिंतनशील व्यक्ति के रूप में गाँधी ने राजनीतिक क्रियाकलापों से समुचित गंभीरता से सबक सीखते हुए निरंतर गतिशीलता का परिचय दिया। इस प्रक्रिया में उन्होंने अपनी ही एक विश्व दृष्टि रची, जो सर्वोदय नाम से सुपरिचित है। सर्वोदय संबंधी गाँधी के लेख यहाँ वहाँ लिखे हुए हैं। स्वयं अपने जीवन में वे उन्हें कोई सुसंयोजित रूप नहीं दे पाए। गाँधी की बौद्धिक विरासत में अंतर्विरोधी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। एक ओर तो सत्ता-राजनीति एवं दलगत राजनीति संबंधी विचार हैं, दूसरी ओर वे जिनकी व्याख्या गाँधी के निकट अनुगामी विनोबा भावे ने की है। दरअसल, ये दोनों ही अंश एक दूसरे के संपूरक बने थे। स्वतंत्रता के पहले दशक में उपरोक्त दोनों प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि समूह परस्पर सहयोग की स्थिति में रहे। यह भारत के इतिहास में रचनात्मकता का दशक था जब कांग्रेस सरकारों के अधीन राज्य ने अनेक उद्योग स्थापित किये और जनहितकारी योजनाएँ बनाईं। सत्ता से बाहर बने रहने वाले लोग ग्रामीण भारत की पुनर्रचना के उद्देश्य से गाँवों की ओर गये उनके कार्य भूदान आंदोलन के रूप में सुपरिचित हैं, जिसे भारतीय राज्य का पर्याप्त नैतिक एवं राजनीतिक समर्थन प्राप्त हुआ।

21.3.1 सर्वोदय का आशय

यहाँ सर्वोदय की अवधारणा का विस्तार से स्पष्टीकरण आवश्यक है, जिसके आर्थिक तथा राजनीतिक आयाम हैं। विनोबा भावे ने गाँधी के विचारों को व्यावहारिक बनाने के लिए उनका परिवर्धन किया, जिसका विवरण आप अगली इकाई में पढ़ेंगे। गाँधी ने अर्थनीति के क्षेत्र में ट्रस्टीशिप की अवधारणा का विकास किया। उत्पादन स्तर की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति को असीमित संपदा-सृजन का अधिकार है, लेकिन उपभोग की दृष्टि से उसके अधिकारों की सीमा है। दूसरे शब्दों में, वह अपनी संपत्ति का स्वामी एक अर्थ में ही बनता है, वास्तव में वह उसका न्यासी मात्र है। उपभोग की प्रक्रिया में उसे अपनी आवश्यकताओं को अपने निर्धन पड़ोसियों के सापेक्ष रखनी चाहिए। भोजन, वस्त्र और आवास का अधिकार सभी को है। जहाँ जनसमुदाय की न्यूनतम आवश्यकताएँ भी पूरी न हों, गाँधी के अनुसार धनिकों के बीच व्यापक अंतर होते हुए किसी हिंसा विहीन समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता। इसलिए कि अहिंसक समाज-व्यवस्था के अंतर्गत मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की गुंजाईश नहीं हो सकती। गाँधी के आर्थिक विचार सामाजिक संपदा के न्यायसंगत वितरण के सिद्धांत पर आधारित हैं।

21.3.2 तकनीकी की भूमिका

गाँधी के आर्थिक चिंतन का एक तकनीकी आयाम है। किसी समाज के तकनीकी स्तर का समाज के आर्थिक विकास से घनिष्ट संबंध है, जो पूर्ण रोजगार के अवसर प्रदान कर सकें। तकनीकी प्रगति के नाम पर बेरोजगार नहीं बढ़ाई जा सकती। तकनीकी को जनसमुदाय की आवश्यकताओं को सिद्ध करने वाला होना चाहिए न कि उन पर शासन करने वाली कोई चीज जो अजनबीपन का बोध बढ़ाए। एक समरूप समाज की रचना के लिए पूर्ण रोजगार की स्थिति आवश्यक है, क्योंकि बेरोजगारी और अजनबीपन कुंठा एवं क्रोध की मानसिकता बनाते हैं जो एक हिंसा-विहीन समाज की आवश्यकताओं के प्रतिकूल है।

21.3.3 ग्राम-विकास की अवधारणा

गाँधी के अर्थनीतिक विचार मुख्यतः ग्राम विकास से संबंधित हैं। उनके अनुसार, ग्राम समाज ही भारत की आत्मा है। औद्योगिकीकरण और शहरीकरण के फलस्वरूप ग्रामीण अर्थतंत्र का विध्वंस नहीं होना चाहिए। इसके अलावा, गाँधी ने ग्रामीण समाज की आत्मनिर्भरता पर बल दिया। कृषि अर्थतंत्र और कृषि संबंधी उद्योगों को ग्रामीण जनसमुदाय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना चाहिए। न्यूनतम अतिरिक्त राशि होने पर वे उसे शहरी समाज को दे सकते हैं। लेकिन अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए उन्हें शहरी समाज पर निर्भर नहीं करना चाहिए।

21.3.4 सर्वोदय संबंधी विनोबा की अवधारणा

विनोबा भावे ने एक अधिक व्यावहारिक अर्थ में गाँधी के अर्थनीतिक विचारों का विकास किया। विनोबा भावे का सरोकार ग्रामीण भारत में सर्वोदय समाज की रचना का था। असमान भूमि वितरण के चलते यह संभव नहीं था। कुछेक व्यक्तियों के अधीन भूमि स्वामित्व का संकेन्द्रण ग्रामीण क्षेत्रों में हिंसा का आधार बनता है। ग्रामीण धनिकों को भूमि के स्वेच्छया वितरण में शरीक होना चाहिए। भूदान का अर्थ है भूमिहीनों के बीच भूमि का वितरण। भूदान दर्शन के अनुसार इस प्रक्रिया में शरीक होने के लिए धनिकों को समझाया बुझाया जाना चाहिए। विनोबा भावे गाँव-गाँव पैदल गये और इस आंदोलन का प्रचार किया। गाँव के प्रत्येक धनी व्यक्ति से उनको अपना बेटा मानने का आग्रह उन्होंने किया। दूसरे शब्दों में, "अपना एक बेटा होने पर धनी व्यक्ति उन्हें (विनोबा को) दूसरा बेटा माने। अपने दो बेटे होने पर उसे उनको तीसरा बेटा मानना चाहिए।" विनोबा ने प्रत्येक भूस्वामी से अपनी भू-संपत्ति का एक अंश भूदान के लिए देने का आग्रह किया।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए निम्न रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर की जाँच इकाई के अंत में दिए उत्तर के आधार पर करें।

1) गाँधी की सर्वोदय संबंधी अवधारणा की चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

21 4 भूदान आंदोलन

भूदान आंदोलन का नेतृत्व विनोबा भावे के जिम्मे आया, जिन्हें जनसमुदाय संत का सम्मान देता था। उन्होंने गाँव-गाँव अभियान चलाया और सर्वोदय शिक्षा का प्रचार किया। यह अभियान 1951 में शुरू हुआ था जब भूमि समस्या पर तेलंगाना किसान आंदोलन अपने उत्कर्ष पर आ चुका था। तेलंगाना आंदोलन स्थानीय भूस्वामियों के विरुद्ध निर्धन किसानों का सशस्त्र संघर्ष था। समस्या की जाँच-पड़ताल के बाद विनोबा ने एक अनूठा समाधान सुझाया : भूस्वामियों द्वारा भूमि का स्वेच्छा से दान भारत में भूमिहीनता की समस्या का समाधान हो सकता है। इससे घृणा के बजाय प्रेम पर आधारित, अहिंसक समाधान का पथ प्रशस्त होगा। तेलंगाना जिले के पोचमपल्ली गाँव में रामचन्द्र रेड्डी ने विनोबा को 100 एकड़ भूमि दान में देकर ऐतिहासिक कार्य किया।

21.4.1 ग्रामदान की अवधारणा

भूदान-आंदोलन का आरंभिक लक्ष्य था स्वैच्छिक भूमि-अनुदान प्राप्त करना और उसका भूमिहीनों के बीच वितरण। शीघ्र ही आंदोलन ने प्रत्येक भू-स्वामी से भूमि का 1/6 भाग देने की मांग की। 1952 में आंदोलन ने उपरोक्त अवधारणा को व्यापक बनाकर ग्रामभावना का रूप दिया और भूमि के वाणिज्य संवर्धित स्वामित्व का समर्थन किया। ग्रामभावना के अधीन आनेवाला पहला गाँव था उ.प्र. के हमीरपुर जिले का मंगरोठ। इसके तीन साल बाद ही अन्य एक गाँव ग्रामदान के अधीन मिल पाया। दूसरा तथा तीसरा ग्रामदान ओड़िसा में हुआ और आंदोलन व्यापक होने लगा।

ग्रामभावना की प्रक्रिया का आरंभ ग्रामीणों में सामाजिक चेतना के जागरण के साथ होता है। इसके पश्चात् ग्रामदान के अनुरूप जीवन शैली अपनाने की शपथ लेनी होती है। इसके फलस्वरूप लोकशक्ति के उभारने की आशा की जाती है। ग्रामभावना के अधीन आने के लिए किसी गाँव को तीन कदम उठाने होते हैं : अ) ग्रामदान के लिए तैयार गाँववासियों को एक वैधानिक रूप से गठित ग्राम सभा के पक्ष में अपनी भूमि के स्वामित्व अधिकारों के अंतरण के लिए सहमत होना चाहिए, ब) ग्राम सभा के गठन पहले ही कर लिया जाना चाहिए, और स) समाज कल्याण कार्यों तथा आर्थिक विकास के लिए एक ग्राम कोष की स्थापना करनी चाहिए। उपरोक्त तीन शर्तें पूरी होने पर ग्रामदान के अधीन गाँव का पुनर्निर्माण कार्य आरंभ हो जाता है।

यद्यपि ग्रामदान का विचार 1952 में ही उभर कर आया, इसकी सुसंगत परिभाषा का प्रयास 1957 में किया गया। यदि 80 प्रतिशत भू-स्वामी अपना स्वामित्व छोड़ने के लिए तैयार हैं, तो गाँव को ग्रामदान के अंतर्गत माना जा सकता है। भूस्वामी यदि अपनी समस्त भूमि का 51 प्रतिशत भी छोड़ने के लिए तैयार हैं तो भी इससे ग्रामदान की शर्त पूरी मान लेते हैं। 1965 में ग्रामदान की परिभाषा को और लचीला बनाकर उन भूस्वामियों को भी शामिल कर लिया गया जो भूमिहीनों में वितरण के लिए अपनी भूमि का 1/2 भाग भी देने को तैयार हों। इस नई व्यवस्था को सुलभ ग्रामदान की संज्ञा दी गई। इसे उस समय स्वीकार किया गया जब आंदोलन अपने अवसान की ओर बढ़ चुका था।

21.4.2 ग्राम पंचायत की भूमिका

ग्रामदान के अधीन गाँवों में ग्राम सभा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। ग्रामीण समाज की पुनर्रचना के लिए गाँधी के राजनीतिक अभियोजन का यह एक अंश है कि ग्राम पंचायतों को भारतीय जनतंत्र का केन्द्र भाग माना जाये। आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण के लक्ष्य गाँधीवादी नीति निर्धारण के ही अंतर्गत आते हैं। ग्राम सभा भूमिहीनों को भूमि वितरित करने के लिए उत्तरदायी है। सामुदायिक विकास कार्यों हेतु भूमि तथा ग्रामवासियों की श्रम शक्ति के समुचित नियोजन के लिए ग्राम सभा ही प्रशासनिक इकाई का काम करती है। सर्वोदय जो कुछ व्यक्ति के पास है, उसके अनुदान में आस्था रखता है। एक भूमिहीन श्रमिक ग्राम कोष को अपना श्रम दे सकता है बल्कि भूस्वामी अपनी भू-संपदा। दुर्लभ संसाधनों का समुचित उपयोग ग्राम विकास कार्य में सहायक हो सकता है। ग्राम सभा को अतिरिक्त श्रम शक्ति के रचनात्मक उपयोग का अधिकार है। खादी वस्त्र निर्माण सर्वोदय आदर्श के अधीन गाँव अभिन्न क्रिया कलाप है जिसमें गांव के श्रमिक स्वयं को सार्थक रूप में लगा सकते हैं। ग्रामीण उद्योग खादी निर्माण तक ही सीमित नहीं है। गाँव के स्तर पर लघु उद्योगों को भी अनुमति दी जाती है। दूसरे शब्दों में, यह श्रम का समुचित उपयोग ही नहीं, बल्कि ग्रामीण अर्थतंत्र को अधिक आत्मनिर्भर बनाने का प्रयास है। शहरी अर्थतंत्र पर उनकी निर्भरता और भी कम होगी। ग्रामीण अर्थतंत्र की समृद्धि ही भारत के विकास की कुंजी है।

21.4.3 जयप्रकाश नारायण का योगदान

जयप्रकाश नारायण के आने से भूदान आंदोलन को एक संवेग मिला। 1942 के आंदोलन के एक नायक थे—जयप्रकाश। समाजवादी पार्टी के नेता के रूप में उनकी एक अखिल भारतीय छवि थी। स्वतंत्रता के बाद सत्ता-राजनीति कर्मी थे। ज.प्र. की लोकप्रियता ने बिहार में भूदान आंदोलन को संप्रेशित किया। 1953 में चंदील में वार्षिक सर्वोदय सम्मेलन के अवसर पर जयप्रकाश ने शोषण-विहीन तथा समतामूलक समाजार्थिक व्यवस्था की स्थापना से एक सर्वोदय समाज के निर्माण का आह्वान किया। सूचना के अनुसार, सम्मेलन में भाग लेने वाले इलाहाबाद और कलकत्ता के अनेकानेक छात्र कालेज विश्वविद्यालय छोड़कर आंदोलन में शामिल हो गये। दान के रूप में अधिकांश भूमि बिहार से प्राप्त हुई। 25 लाख एकड़ भूमि प्राप्त करने का लक्ष्य एक साल में ही पार कर लिया गया।

21.4.4 व्यक्तिगत संपत्ति की भूमिका

भूदान आंदोलन ने सर्वाति संवेदनशील संस्थान, व्यक्तिगत संपत्ति, का प्रश्न उठाया और इसके पुनर्वितरण की आवश्यकता पर बल दिया। आंदोलन ने भू-स्वामित्व को ही प्रश्नाधीन बना दिया। भूमि ईश्वर की दी हुई चीज है और इसका उपयोग सभी प्राणियों द्वारा किया जाना चाहिए, यह सर्वोदय मंडलियों की सामान्य चिंताधारा बन गई।

21.4.5 संगठन की भूमिका

संगठनिक दृष्टि से भूदान आंदोलन के अंतर्गत सर्वोच्च निकाय था सर्व सेवा संघ। गाँधी द्वारा प्रेरित और शुरू किए गए विभिन्न रचनात्मक कार्यक्रमों से जुड़े व्यक्तियों ने अपना एक संगठन बनाया जो अब सर्व सेवा संघ के नाम से सुपरिचित है। विनोबा ने सर्व सेवा संघ को "कार्यक्रम अभियोजन तथा क्रियान्वयन के लिए विशेषज्ञों का अखिल भारतीय संस्थान" बताया था। ग्राम स्तर के सदस्यों को लेकर बनी भूदान योजना समिति भूमि संचय और वितरण का दायित्व संभालती थी। इस पर सर्व सेवा संघ का नियंत्रण रहता था। भूदान आंदोलन निर्धनता विरोधी विचारधारा से प्रेरित था। क्षेत्र विशेष के अभिजन भूस्वामियों के स्वार्थ इससे प्रभावित हुए। ग्रामदान योजना के अधीन आ चुके गाँव भूस्वामी अभिजनों के लिए चुनौती बन गए। इन भूस्वामियों ने आंदोलनों का विरोध शुरू कर दिया और कुछ ने तो भूदान में दी गई भूमि वापस मांगी। भूदान-कार्यक्रम को उन्होंने सफलतापूर्वक ध्वस्त कर दिया।

21.5 आंदोलन की सीमाएँ

भूदान आंदोलन विनोबा भावे तथा जयप्रकाश के नेतृत्व में गाँधीवादी कार्यकर्त्ताओं द्वारा प्रेरित हुआ था। उपरोक्त व्यक्ति संगठन को सशक्त बनाने की दिशा में कुछ कर नहीं पाए। आठवें दशक के आरंभ में विनोबा भावे तथा जयप्रकाश के बीच संघर्ष की स्थिति बन जाने पर सर्व सेवा संघ का ऊर्ध्व-विभाजन हो गया। आदर्शवाद अधिक समय तक टिका नहीं रह सकता था। संगठनिक दृष्टि से संघ एक अधिनायकत्वमूलक ढाँचा बन चुका था। संगठन को प्रभावित करने वाले मसलों पर संगठन के अंतर्गत शायद ही कोई जनतांत्रिक विचार-विमर्श होता था।

ग्राम स्तर पर भूदान आंदोलन जनतांत्रिक मूल्यों का सन्निवेश नहीं कर पाया। इसके प्रतिकूल, इसने पुराने किस्म के संरक्षक आश्रित संबंधों को ही पुष्ट किया। भूमि समस्या पर समाज के निचले स्तरों से कोई जन-आंदोलन नहीं चलाया गया। भूमिदान के लिए उन्होंने भूस्वामियों की अंतरात्मा की ही दुहाई दी। इसके फलस्वरूप ऐसी स्थितियाँ भी बन गई जिनमें भूस्वामी अपनी भूमि वापस मांगने लगे।

फिर भी यह कहा जाना चाहिए कि भूदान आंदोलन भारत में शुरू किया गया एक अनूठा प्रयोग था। जन समुदाय के बीच इसने एक नई चेतना का संचार किया। इसका लक्ष्य था एक न्यायपूर्ण, समतामूलक समाज की रचना का। सामाजिक परिवर्तन संबंधी गाँधी के वैचारिक ढाँचे ने समस्या को सतह पर ला दिया। प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का बोध हो गया कि राजकीय विधि-विधानों से भूमि-वितरण संबंधी समस्या को सुलझाया नहीं जा सकता।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर की जाँच इकाई के अंत में दिए उत्तर के आधार पर करें।

1) भूदान आंदोलन का उदय कैसे हुआ?

....

....

....

....

2) ग्रामदान अवधारणा की संक्षेप में चर्चा कीजिए।

....

....

....

3) भूदान आंदोलन में जयप्रकाश नारायण का योगदान क्या था?

....

....

....

....

21.6 सारांश

भूदान आंदोलन गाँधीवादी दर्शन से प्रेरित था। इसके मुख्य प्रवर्तक थे विनोबा भावे और जयप्रकाश नारायण। विनोबा भावे ने गाँधी के अर्थनीतिक विचारों का एक अधिक व्यावहारिक अर्थ में विकास किया। इसका आशय था कि भूमि कुछ सीमित व्यक्तियों के अधीन केंद्रित नहीं होनी चाहिए।

ग्रामीण धनिक समुदाय को अपनी भूमि का कुछ हिस्सा भूमिहीनों को देने के लिए तैयार होना चाहिए। इस आंदोलन का आरंभ विनोबा ने भूस्वामियों के विरुद्ध किसानों के क्रोध को शांत करने के लिए किया था, जिसकी अभिव्यक्ति तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष में हुई थी। विनोबा भावे तथा जयप्रकाश नारायण के बीच विभेद के फलस्वरूप आंदोलन आठवें दशक के आरंभ में विभाजित हो गया। आंदोलन ग्रामीण क्षेत्रों में जनतांत्रिक मूल्यों का संचार नहीं कर सका। बल्कि पुराने किस्म के मूल्यों का ही इसने संवर्धन किया। इन सबके बावजूद, यह आंदोलन सामाजिक परिवर्तन संबंधी गाँधीवादी वैचारिक ढाँचे की चेतना जन समुदाय के बीच बनाने में सफल हुआ।

21.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

रामाश्रय राय, (सं) *कांटेम्पोरेरी क्राइसिस ऐंड गाँधी* (दिल्ली, 1986)।

पार्था. एम. मुखर्जी, *"सर्वोदय आफ्टर गाँधी : कंट्राडिक्शंस ऐंड चेंज"* रामाश्रय राय संपादित उपरोक्त पुस्तक में।

टी.के. ओमन, *करिशमा, स्टेबिलिटी ऐंड चेंज : ऐन एनोलिसिस ऑफ भूदान-ग्रामदान मूवमेंट इन इंडिया* नई दिल्ली, 1972।

21.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1
देखें अनुभाग 21.2

बोध प्रश्न 2
देखें अनुभाग 21.3 और इसके सभी उप-अनुभाग

बोध प्रश्न 1
देखें अनुभाग 21.4 और इसके सभी उप-अनुभाग

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

DCEPS-104

आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारधारा

खंड

4

राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति-I (समाजवाद)

इकाई 22 राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति-I (समाजवाद) : एक परिचय	99
इकाई 23 जवाहरलाल नेहरू	108
इकाई 24 सुभाषचंद्र बोस	115
इकाई 25 जयप्रकाश नारायण और आचार्य नरेंद्र देव	123
इकाई 26 राममनोहर लोहिया	131

विशेषज्ञ समिति

प्रो. इकबाल नारायण (अध्यक्ष)
उपकुलपति
उत्तर-पूर्वी हिल विश्वविद्यालय
शिलाँग

प्रो. के. मधुसूदन रेड्डी
राजनीतिशास्त्र विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

प्रो. मनोरंजन मोहन्ती
राजनीतिशास्त्र विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. ए. पी. राना
राजनीतिशास्त्र विभाग
एम. एस. विश्वविद्यालय
बड़ौदा

प्रो. रशीदुद्दीन खां
तृतीय विश्व अध्ययन केन्द्र
जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. शोभनलाल दत्त गुप्ता
रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता

प्रो. आर. एस. मोरखंडिकर (संयोजक)
सामाजिक विज्ञान संस्थान (भूतपूर्व निदेशक)
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

पाठ्यक्रम निर्माण दल

प्रो. के. पी. करुणाकरन (सेवानिवृत्त)
राजनीति विज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

डॉ. (श्रीमती) किरन सक्सेना
सी पी एस
जे. एन. यू.
नई दिल्ली

डॉ. राधाकांत बारिक
रीडर, आई. आई. पी. ए.
नई दिल्ली

डॉ. योगेन्द्र यादव
राजनीति विज्ञान विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चंडीगढ़

डॉ. जगपाल सिंह
परामर्शदाता (राजनीति विज्ञान)
इग्नू
नई दिल्ली

श्री आदित्य निगम
परामर्शदाता (राजनीति विज्ञान)
इग्नू
नई दिल्ली

प्रो. पांडव नायक
निदेशक, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इग्नू
नई दिल्ली

डॉ. दरवेश गोपाल
राजनीति विज्ञान विभाग
इग्नू
नई दिल्ली

श्री अनुराग जोशी
राजनीति विज्ञान विभाग
(पाठ्यक्रम समन्वयकर्ता)
इग्नू
नई दिल्ली

श्री एस. विजयशेखर रेड्डी
राजनीति विज्ञान विभाग
इग्नू
नई दिल्ली

पाठ्यक्रम संपादक

प्रो. के. एन. पन्निकर
ऐतिहासिक अध्ययन केन्द्र
जे. एन. यू.
नई दिल्ली

अनुवाद

सुश्री सुचेता मोहन्ती
नई दिल्ली

श्री रामन
जे. एन. यू.
नई दिल्ली

श्री शर्मा
नई दिल्ली

सामग्री निर्माण

श्री बालकृष्ण सेल्वराज
कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

दिसम्बर 1991

© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1991

ISBN-81-7263-025-5

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

खंड 7 प्रस्तावना

यह खंड आधुनिक भारतीय राजनीति चिंतन के ऐच्छिक पाठ्यक्रम का अंतिम से पूर्व खंड है। खंड का शीर्षक राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति-I (समाजवाद) है और यह मुख्यतः भारत में सामाजिक आंदोलन से सम्बन्ध रखता है।

यह खंड पांच इकाइयों में विभाजित है। इकाई 22 परिचयात्मक है। यह आपको समाजवाद की मूल बातों से अवगत करायेगी और इसके साथ ही भारत में समाजवादी आंदोलन की उत्पत्ति और विकास के बारे में भी। खंड की अगली चार इकाइयां (23-26) देश के कुछ प्रमुख समाजवादियों — जवाहरलाल नेहरू सुभाषचंद्र बोस, आचार्य नरेंद्र देव जयप्रकाश नारायण और राम मनोहर लोहिया — के विचारों की चर्चा की गयी है।

यह आशा की जाती है कि इस खंड के अध्ययन के बाद आप उन मसलों को बेहतर रूप से समझ सकेंगे जिन्होंने उपर्युक्त महानुभावों को भारत को एक समाजवादी राष्ट्र बनाने की दिशा में प्रेरित किया।

इकाई 22 राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति-I (समाजवाद) : एक परिचय

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 समाजवाद के प्रकार
  22.2.1 विकासात्मक समाजवाद
22.3 समाजवाद का दर्शनशास्त्र
  22.3.1 आदर्श समाजवाद
  22.3.2 आदर्श समाजवाद का प्रभाव
  22.3.3 जर्मनी का सामाजिक लोकतंत्र
22.4 भारत में समाजवादी आंदोलन के लिए व्यावहारिक परिस्थितियां
  22.4.1 समाजवादी विचारों का विकास
  22.4.2 कांग्रेस समाजवादी दल
22.5 जवाहरलाल नेहरू और समाजवाद
  22.5.1 नेहरू द्वारा मार्क्सवाद की आलोचना
  22.5.2 समाजवादियों पर नेहरू के विचार
  22.5.3 नेहरू का समाजवाद पर प्रभाव
  22.5.4 भूमि सुधार और अन्य मसलों पर नेहरू के विचार
22.6 सुभाषचन्द्र बोस और समाजवाद
  22.6.1 बोस के विभिन्न कार्यकलाप
  22.6.2 बोस का दर्शनशास्त्र
  22.6.3 बोस की कार्यसूची
22.7 आचार्य नरेन्द्रदेव और समाजवाद
  22.7.1 आचार्य का दर्शनशास्त्र और गतिविधियां
  22.7.2 नरेन्द्रदेव के कृषिक पुनर्निर्माण पर विचार
  22.7.3 आचार्य और नव-वामपंथी आंदोलन
22.8 जयप्रकाश नारायण के समाजवाद पर विचार
  22.8.1 समाजवाद और सामाजिक-आर्थिक रचना
22.9 राममनोहर लोहिया और समाजवाद
22.10 सारांश
22.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
22.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप निम्नलिखित बातों के बारे में जान जाएंगे :

- समाजवाद के विभिन्न प्रकार
- समाजवाद का मूल दर्शनशास्त्र
- भारत में समाजवादी आंदोलन के लिए वास्तविक परिस्थितियां, तथा
- भारत के विभिन्न समाजवादियों के विचार।

22.1 प्रस्तावना

समाजवाद मुख्यतः उन सिद्धांतों से संबंध रखता है जो एक ऐसे समाज को स्थापित करने पर महत्व देते हैं जिसमें मनुष्य

को जीवन के हर क्षेत्र में समानता मिले— आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक इत्यादि। जीवन में आर्थिक क्षेत्र में समानता का अर्थ है, एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था का होना जिसमें एक वर्ग अथवा सामाजिक गुट द्वारा दूसरे का शोषण न हो। यह कृषि और उद्योगों के उत्पादन के साधनों पर समाज या राज्य का नियंत्रण अथवा इनके समाजीकरण या राष्ट्रीयकरण, चल संपत्ति अथवा सेवाओं का समान बंटवारा और सहकारी समितियों को स्थापित करने पर महत्व देता है। राजनैतिक समानता का अर्थ है कि सभी को राजनैतिक प्रक्रिया में समान रूप से भाग लेने का अधिकार है, जैसे कि मताधिकार, चुनाव में खड़े होने का अधिकार, अपने विचारों को बिना किसी भेदभाव के भय से व्यक्त करना। सामाजिक समानता का अर्थ है कि जन्म, जाति, वर्ण अथवा धर्म इत्यादि के आधार पर किसी भी भेदभाव का न होना। लेकिन समाजवाद के सही अर्थ तथा इसको स्थापित करने के बारे में मतभेद है। इसी संदर्भ में जोएड ने कहा है, "संक्षेप में, समाजवाद एक ऐसी टोपी के समान है, जिसका आकार बिगड़ गया है, क्योंकि इसको सभी पहनते हैं।"

22.2 समाजवाद के प्रकार

22.2.1 विकासात्मक समाजवाद

समाजवाद मूलतः दो प्रकार के हैं— मार्क्सवादी अथवा क्रांतिकारी समाजवाद और विकासात्मक समाजवाद।

विकासात्मक समाजवाद के कई प्रकार हैं—आदर्श समाजवाद, लोकतांत्रिक समाजवाद, संसदात्मक समाजवाद, संशोधनवाद, फेबियनिज़्म, सामाजिक लोकतंत्र, कल्याणकारी समाजवाद तथा नव-साम्यवाद। मार्क्सवाद समाजवाद का मत है कि समाजवाद केवल हिंसक क्रांति के द्वारा ही लाया जा सकता है। निजी संपत्ति को समाप्त करके सर्वहारा वर्ग (मजदूर वर्ग) के तानाशाही को स्थापित करके तथा कम्युनिस्ट दल के एकाधिकार को लाकर ही, नए समाजवादी समाज की रचना की जा सकती है। विकासात्मक समाजवाद, जैसा कि इसके नाम से ही ज्ञात होता है, समाजवाद को स्थापित करने के लिए विकासवादी तरीकों पर विश्वास करता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि पूर्व विद्यमान प्रणाली (राज्य) को हटाने की आवश्यकता नहीं है। बल्कि, जो सामाजिक शक्तियां समाजवाद लाने की इच्छुक हैं, वे राज्य के अंगो द्वारा ही इसे स्थापित करें, यानी कि विधानमण्डल द्वारा। वे ऐसी नीतियों को बनाने में सहायता करें जो समाजवादी हों और उनको कार्यान्वित कराएं। यह सर्वहारा वर्ग की तानाशाही और एक दलीय एकाधिकार की अवधारणाओं के विरुद्ध है। वास्तव में, विकासात्मक समाजवाद लोकतंत्र के मार्क्सवादी और उदारवादी विचारों का एक सम्मिश्रण है। मार्क्सवाद के समान यह ऐसे समाज को स्थापित करने में विश्वास रखता है, जो शोषण और असमानता से मुक्त हो, और उदारवादी लोकतंत्र के समान, यह बहुदलीय प्रणाली, नियतकालिक चुनाव और उन्मुक्त रूप से विचारों को व्यक्त करने के पक्ष में है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान पर अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से मिलायें।

1) विकासात्मक समाजवाद से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

22.3 समाजवाद का दर्शनशास्त्र

हालांकि समाजवाद का दर्शनशास्त्र 19वीं शताब्दी में आरंभ हुआ लेकिन इसके विचार पहले से ही प्रस्तुत होने शुरू हो गये थे। जैसे कि रूसो, मोरेल्ले और बाबफ जैसे दार्शनिकों के विचार जो कि फ्रांसिसी क्रांति से पूर्व प्रस्तुत हुए, बाद में समाजवाद के महत्वपूर्ण लक्षणों के रूप में प्रकट हुए। इसमें निजी संपत्ति को समाप्त करना और समानता मे विश्वास, जैसे विचार मुख्य हैं।

22.3.1 आदर्श समाजवाद

औद्योगिक क्रांति के पश्चात् (1760-1830) यूरोपीय देशों में मजदूरों की हालत और बुरी हो गई। मजदूरों को पूंजीवाद के विभिन्न दुष्परिणामों को सहना पड़ा उनके रहने की दशा दयनीय थी, बेरोजगारी और महंगाई बढ़ गई आदि। अनेक मानववादी और समाज सुधारक इसके विरोध में खड़े हुए। संत साइमन (1760-1825), चार्ल्स फोरियर (1772-1873)

और रार्बन ओवेन (1771-1858) के गुट ने पूंजीवाद के सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था पर कड़ा आक्षेप किया। उन्होंने एक समाजवादी समाज की स्थापना का समर्थन किया। उन्होंने पूंजी के समान वितरण की आवश्यकता पर बल दिया और श्रमिक संघ (मजदूर संघ) के आंदोलन का समर्थन किया। वे मुख्यतः आदर्श समाजवादी थे। उनका यह विश्वास था कि अगर पूंजीवादी अपने व्यवहार को बदल लेते हैं, तो उसी पूंजीवादी पद्धति में ही मजदूरों की दशा सुधारी जा सकती है। लेकिन उन्होंने उत्पादन के पूंजीवादी तरीकों का विश्लेषण नहीं किया। वे पूंजीवादी समाज में शोषण को समाप्त करने के लिए भी कोई वैज्ञानिक सिद्धांत नहीं बता पाये।

22.3.2 आदर्श समाजवाद का प्रभाव

आदर्श समाजवाद ने फिर भी, एक तरफ फ्रांसीसी और जर्मनी समाजवादियों को और दूसरी तरफ, मार्क्स और एगेंल्स को प्रभावित किया। ब्लांक (1813-1882), एक सुधारक और विद्वान ने आर्थिक सिद्धांत बताया, "प्रत्येक को अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रत्येक को अपने कार्य के अनुसार।" ब्लांक कल्याणकारी समाज के मुख्य अग्रदूत माने जाते हैं। उन्होंने सामाजिक लोकतंत्रवादियों और संशोधनवादियों, दोनों को ही प्रभावित किया। प्राउधन (1805-1865) ने निजी संपत्ति पर कड़ा आक्षेप किया। उन्होंने आर्थिक पद्धति को राजनैतिक पद्धति से जोड़ा। उन्होंने पूंजीवादी पद्धति को हटाने का समर्थन किया। प्राउधन को छोड़कर, सभी पूर्व-मार्क्सवादी समाजवाद ने अपने आपको इस मानववादी आशा से जोड़ा कि उत्पादन बढ़ने से मानव के दूसरे के प्रति अच्छा व्यवहार करेंगे। लेकिन वे पूंजीवादी आर्थिक पद्धति की क्रियाओं और इसमें निहित शोषण का उचित विश्लेषण करने में असफल रहे।

22.3.3 जर्मन सामाजिक लोकतंत्र

1860 सदी में जर्मन सामाजिक लोकतंत्र ने बहुत महत्ता हासिल कर ली थी। लासले (1825-1864), अग्रणी जर्मन सामाजिक लोकतंत्रवादियों में से एक थे। उन्होंने इस बात पर महत्व दिया कि कामगारी वर्ग का एक अलग दल होना चाहिये, जो उनके हितों को विधानमण्डल में प्रस्तुत कर सके। वे उत्पादकों की सहकारिता के समर्थक थे। जर्मनी में, समाजवादी और मार्क्सवादी एक समझौते पर पहुंचे और उन्होंने विख्यात गोथा कार्यक्रम प्रस्तावित किया (1825)। यह कार्यक्रम मध्यमार्गी था और समाजवाद को स्थापित करने के लिए विकासवादी तरीकों का समर्थन करता था। मार्क्सवादी और स्वयं कार्ल मार्क्स ने इस कार्यक्रम की आलोचना की और मार्क्सवादी नीतियों पर आधारित एक अन्य कार्यक्रम बनाया-एरफर्ट कार्यक्रम। इस कार्यक्रम में इतिहास और क्रांतिकारी कार्यक्रमों के संबंधों के महत्व पर जोर दिया गया। एरफर्ट कार्यक्रम की प्रतिक्रिया के रूप में संशोधनवाद उत्पन्न हुआ। बर्नस्टीन (1850-1932) संशोधनवाद के मुख्य समर्थक थे। उनका कहना था कि मार्क्सवाद केवल आर्थिक कारकों पर ही महत्व देते हैं जबकि अन्य कारक भी समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। उनका मत है कि मूल्यों का मार्क्सवादी सिद्धांत हमेशा उपयुक्त नहीं है। इनके सिद्धांत ने विकासात्मक समाजवाद के संबंध में बड़ा योगदान दिया।

बर्नस्टीन के संशोधनवाद ने ब्रिटिश संसदात्मक समाजवाद और फेबियानिज्म पर गहरा प्रभाव डाला। इन विचारों का प्रचार करने के लिए 1906 में ब्रिटिश श्रमिक दल का गठन हुआ। इसने मजदूर संघ के आंदोलन को बढ़ावा दिया। यह कहा जाता है कि श्रम दलों द्वारा, सरकार की प्रक्रिया में भाग लेने से समाजवाद की स्थापना हो सकती है। दल का यह विश्वास था कि राज्य द्वारा कामगार वर्ग के पक्ष में नीतियां बनाने से समाजवाद का जन्म हो सकता है। इन्होंने समाजवाद के आर्थिक सिद्धांतों को संसदात्मक लोकतंत्र और कल्याणकारी उदारवाद के सिद्धांतों के साथ मिलाने की कोशिश की। रेमसे मैकडानल्ड, हैरोल्ड लास्की तथा कलमेन्ट एटली, ब्रिटिश श्रम दल के मुख्य नेता थे। ब्रिटिश संसदात्मक लोकतंत्र, क्रांतिकारी तरीकों द्वारा पूंजीवाद को हटाने के विरुद्ध था तथा योजनाबद्ध सुधार, श्रमिक बदलाव, कर प्रणाली और संसदात्मक तरीकों के पक्ष में थे। यह वर्ग संघर्ष, सर्वहारा वर्ग की तानाशाही राज्य द्वारा बदलाव लाने जैसे सिद्धांतों के विश्वास नहीं रखते थे।

नव-साम्यवाद भी, जो मुख्यतः फ्रांस, इटली और जर्मनी में विकसित हुआ, विकासात्मक समाजवाद में विश्वास रखता था। कुछ बुद्धिजीवियों द्वारा, जून 4, 1884, को इंग्लैंड में फेबियन समाज की स्थापना हुई। इनका उद्देश्य था, इंग्लैंड में लोकतांत्रिक शांति और क्रमिक तरीकों से समाजवादी समाज की स्थापना करना। इस समाज का नाम एक रोमन जनरल फेबियन के नाम पर रखा गया, जिन्होंने "प्रतिक्षा करो, और उचित समय पर कड़ा वार करो" युक्ति को अपनाया। सी.डी.एच. कोल और एच. लास्की इसके मुख्य समर्थकों में से हैं। फेबियन समाज का मत था कि समाजवाद और लोकतंत्र एक दूसरे के पूरक और कारक है। लोकतांत्रिक तरीकों द्वारा लाया जा सकती है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान पर अपने उत्तर लिखें।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर को मिलायें।

1) समाजवाद के मूल दर्शनशास्त्र पर टिप्पणी करें।

....

....

....

22.4 भारत में समाजवादी आंदोलन के लिए व्यावहारिक परिस्थितियां

भारत में समाजवाद का विकास मुख्यतः बीसवीं शताब्दी में हुआ, जबकि पश्चिम में यह उन्नीसवीं शताब्दी में ही फैल चुका था। पश्चिमी विचारों के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही, भारत में समाजवाद का सामाजिक और आर्थिक पुनर्रचना का दर्शन विकसित हुआ। समाजवादी विचारधारा का विकास तभी शुरू हुआ जब साम्राज्यवादी शोषण असहनीय हो गया। भूमि व्यवस्था में अनेक मध्यस्थ उपस्थित थे, अधिकतर जमींदार जो श्रेणीबद्ध थे। इन मध्यस्थ के नीचे गरीब किसान और भूमिहीन मजदूर थे। जमींदार इनका अनेक प्रकार से शोषण करते थे जैसे बहुत ज्यादा किराया मांगकर, जबरदस्ती भत्ता मांगकर, उन पर शारीरिक अत्याचार करके और कभी-कभी तो उनकी भूमि भी हथिया कर। किसान, साहूकारों के कर्ज के नीचे दबा हुआ था। साहूकार, जमींदार और ब्रिटिश सरकार ने मिलकर, भारतीय किसान पर अनेक अत्याचार किए। किसानों की अपेक्षाकृत कामगार वर्ग की संख्या कम थी। फिर भी, वह एक शोषित समाज का अंग थे। लोगों को ब्रिटिश राज के विरुद्ध संघटित करने में, बुद्धिजीवी वर्ग और मध्य वर्ग का बहुत बड़ा हाथ रहा। उन्होंने राष्ट्रवाद की भावना को उजागर किया। आमतौर पर, बिना किसी बुद्धिजीवी वर्ग के नेतृत्व के, किसानों ने जमींदारों और उपनिवेशवाद के विरोध में विद्रोह किया।

22.4.1 समाजवादी विचारों का विकास

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के नेता न सिर्फ ब्रिटिश राज के विरुद्ध थे, बल्कि वे भारत की स्वाधीनता के पश्चात् इसकी सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक पुनर्रचना भी करना चाहते थे। इस प्रस्तावित पुनर्रचना में समाजवादी विचारों की एक मुख्य विशेषता रही। हालांकि, व्यवस्थित ढंग से समाजवादी विचारों का विकास भारत में, 1920 से ही आरंभ हुआ, लेकिन इससे पहले कई नेताओं ने भारतीय समाज की सामाजिक, आर्थिक पुनर्रचना पर गहरा, महत्व दिया था। इस प्रकार, 1893 में अरबिन्दो ने "नई रोशनी, पुराने के लिए" शीर्षक के सात लेख, "इन्दु प्रकाश" को दिये। इन लेखों में उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मध्यवर्गीय दृष्टिकोण की आलोचना की और सर्वहारा वर्ग के उत्थान पर महत्व दिया। तिलक ने कुछ शुरू किये गए मराठी पत्र "केसरी" में लिखे गए लेखों में रूसी शून्यवाद का उल्लेख किया। लाला लाजपत राय शायद प्रथम भारतीय लेखक थे जिन्होंने समाजवाद तथा कामगारों पर लिखा। 1920 में उन्होंने प्रथम भारतीय मजदूर संघ की कांग्रेस की अध्यक्षता की। लेकिन एम.एन. राय ने लाला लाजपत राय पर यह टिप्पणी की कि वह "एक मध्यमवर्गी राजनीतिज्ञ हैं जिनके मन में समाजवाद के लिए कोई स्थान नहीं है।" एम.एन. राय ने 1921-23 तक कांग्रेस में मध्यमवर्गीय आधिपत्य की आलोचना की। यह इसलिए क्योंकि वह मुख्यतः भारत में साम्यवाद की स्थापना करने के इच्छुक थे।

1917 की रूस की क्रांति ने, भारत में समाजवादी और मार्क्सवादी विचारों को काफी हद तक प्रेरित किया। हालांकि सी.आर. दास की क्रांति से अधिक प्रभावित नहीं थे, फिर भी उन्होंने इसका उल्लेख गया कांग्रेस (1917) में किया। उन्होंने भारत में मजदूर संघ के आंदोलन के विकास में सहयोग दिया। 1926 में मोतीलाल नेहरू सोवियत संघ गए। जवाहरलाल नेहरू भी हिंदुस्तान समाजवादी गणतंत्र सेना और सोवियत संघ की गतिविधियों से प्रभावित हुए। जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, अच्युत पटवर्धन, युसुफ मेहेरल्ली और अशोक मेहता भारत में समाजवादी धारा के कुछ मुख्य विचारक हैं। हालांकि, समाजवादी रूस की क्रांति से वे प्रभावित थे, फिर भी मार्क्सवाद का मूल रूप में ही भारत में उपयोग के विषय पर उनका गहरा मतभेद था। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, जिसका गठन 1924 में हुआ, वर्ग संघर्ष और क्रांति द्वारा समाजवादी समाज की स्थापना में विश्वास रखती थी। लेकिन समाजवादी दल की स्थापना राज्य के हस्तक्षेप के द्वारा चाहते थे।

22.4.2 कांग्रेस समाजवादी दल

कांग्रेस समाजवादी दल के गठन से पूर्व, मजदूर गुटों का दमन हुआ था (1920)। कामगार वर्ग के नेताओं को फसांकर, पेशावर षड्यन्त्र काण्ड, (1922-23), कानपुर षड्यन्त्र काण्ड (1924) और मेरठ षड्यन्त्र काण्ड (1929) के विरुद्ध मुकदमा दायर कर दिया।

समाजवादी विचारों ने एक संगठित रूप मई 1934 को लिया। समाजवादियों ने कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना की। सविनय अवज्ञा आंदोलन के असफल होने से और इसके साथ उत्पन्न हुए तनाव के कारण, कांग्रेस के साथ ही कांग्रेस समाजवादी दल का गठन हुआ। कांग्रेस समाजवादी दल ने कांग्रेस के अंदर ही एक समाजवादी गुट का निर्माण किया। इसका उद्देश्य था, साम्राज्यवाद से भारत को पूर्ण स्वराज और एक समाजवादी समाज का निर्माण करना। एक अधिवेशन में अपनाए गये मुद्दों में, "गरीब जनता को अधिकार, मुख्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, बिना किसी मुआवजे के समतावाद और जमींदारी को समाप्त करना, भूमि का वितरण तथा सहकारी और सामूहिक कृषि।" पहला अखिल भारतीय समाजवादी अधिवेशन 17 मई 1934 को पटना में, आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में हुआ। जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन, युसूफ मेहेरल्ली तथा अशोक मेहता ने कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना में नरेन्द्रदेव की सहायता की। हालांकि, नेहरू समाजवादी थे, लेकिन वे कांग्रेस समाजवादी दल में शामिल नहीं हुए। समाजवादियों ने 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में एक मुख्य भूमिका निभाई। मार्च 1948 के नासिक अधिवेशन में समाजवादियों ने यह निश्चय किया कि वह कांग्रेस छोड़ देंगे। उन्होंने एक अलग दल का गठन किया जो भारतीय समाजवादी दल कहलाया। 1949 के पटना अधिवेशन

में समाजवादी दल ने लोकतांत्रिक तरीकों तथा रचनात्मक ढंग से सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को सुलझाने का पक्ष लिया। 1952 के आम चुनाव के पश्चात् समाजवादी दल ने अपने आपको जे.बी. कृपलानी के नेतृत्व वाली कृषक मजदूर प्रजा पार्टी से मिला लेने का निश्चय किया। यह गठबंधन बम्बई में 26 और 27 सितम्बर 1952 को हुआ।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान में उत्तर लिखें।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर को मिलायें।

1) भारत में समाजवादी आंदोलन की उन्नति के लिए विभिन्न परिस्थितियों का वर्णन करें।

....

....

....

....

22.5 जवाहरलाल नेहरू और समाजवाद

कांग्रेस के अंदर ही, स्वतंत्रता आंदोलन के उद्देश्यों और लक्ष्यों को लेकर तथा स्वतंत्रता के पश्चात् वैकल्पिक सामाजिक और आर्थिक पद्धति को लेकर विचारों में मतभेद था। इन विषयों पर गांधी और नेहरू में मतभेद थे। नेहरू चाहते थे कि स्वतंत्रता के पश्चात् देश समाजवाद को अपनाए। दिसम्बर 1929 के कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में उन्होंने स्वयं को एक "समाजवादी और गणतंत्रवादी" घोषित किया। इससे पूर्व नेहरू सोवियत संघ गये थे, 1926-27 में। नेहरू रूस में समाजवादी क्रांति और इसकी आर्थिक योजनाओं से बहुत प्रभावित हुए। अधिवेशन में नेहरू ने इस बात पर महत्व दिया कि समाजवाद की नीतियां समस्त विश्व में अपना प्रभाव डाल रही हैं अब केवल इसको स्थापित करने के तरीकों और इसकी गति पर ही मतभेद है। उन्होंने कहा, "भारत को भी इसी मार्ग पर चलना होगा ···· हालांकि इसका तरीका स्वयं भारत तैयार करेगा और इसको अपनी परिस्थितियों के अनुसार ही अपनाया जायेगा।" उन्होंने "भारत किधर" में कहा कि स्वतंत्रता के तुरन्त बाद भारत के लोगों का शोषण समाप्त करना होगा, राजनैतिक स्वतंत्रता को प्राप्त करना और निहित स्वार्थों को समाप्त करना होगा। उन्होंने जमींदारी को समाप्त करने का पक्ष लिया और खेत जोतने वालों को भूमि दिलाने पर महत्व दिया। 1930 में वे समाजवादी विचारों के केन्द्र बिन्दु थे और युवा वर्ग उनकी तरफ, प्रेरणा और मार्गदर्शन के लिए आता था।

22.5.1 नेहरू द्वारा मार्क्सवाद की आलोचना

हालांकि, सैद्धांतिक रूप से नेहरू ने मार्क्सवाद को अपनाया था, फिर भी वे मार्क्सवाद द्वारा अपनाये गये तरीकों के कटु आलोचक थे। उन्होंने साम्यवादियों की आलोचना की कि वे केवल शहर में रहने वाले मजदूरों के साथ ही संपर्क स्थापित करते हैं और गांव वालों के साथ नहीं। उन्होंने इस बात पर भी भारतीय साम्यवादियों की भर्त्सना की कि वह मार्क्सवादी सिद्धांतों को भारत की परिस्थितियों के अनुरूप नहीं ढाल रहे हैं। वह चाहते थे कि समाजवाद की नीतियों को भारतीय समाज की विशिष्टता के अनुरूप ढाला जाय।

22.5.2 समाजवादियों पर नेहरू के विचार

नेहरू, कांग्रेस समाजवादी दल कार्यप्रणाली से संतुष्ट नहीं थे। इसलिए, कांग्रेस के समाजवादी दल, मुख्य कांग्रेस दल के विरुद्ध हो गया और वह अपने कार्य में सफल नहीं हो पाए क्योंकि एक बड़ा साम्राज्यवादी विरोधी गुट इसके साथ नहीं था।" उनका यह विचार था कि समाजवादी, साम्यवादियों के समान ही समाजवाद को भारतीय परिस्थिति के अनुकूल अपनाने में असफल रहे हैं। समाजवादी नेताओं ने नेहरू के कांग्रेस समाजवादी दल के प्रति विचारों की आलोचना की। उनका कहना था कि नेहरू, उनके सैद्धांतिक रूप से समीप न होने की बात का पूरा फायदा उठाना चाहते हैं।

25.5.3 नेहरू का समाजवाद पर प्रभाव

नेहरू का समाजवाद, मार्क्सवाद और गांधीवाद दोनों से ही प्रेरित हैं। सैद्धांतिक रूप से कांग्रेस समाजवादी दल के समीप होने के पश्चात् भी उन्होंने कांग्रेस को छोड़कर इसे नहीं अपनाया, क्योंकि वह कांग्रेस को समाजवादी मूल्यों पर बदलना चाहते थे। वह चाहते थे कि कांग्रेस समाजवादी नीतियों को कार्यान्वित करे। ऐसा वह भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् ही करना चाहते थे।

22.5.4 भूमि सुधार और अन्य मसलों पर नेहरू के विचार

जमींदारी प्रथा की समाप्ति, खेत जोतने वालों को भूमि, उद्योगों और सेवाओं का राष्ट्रीयकरण, नेहरू के समाजवादी

विचारों के मुख्य तत्व हैं। 1936 में जब वे कांग्रेस के अध्यक्ष बने, तब 7 दक्षिणपंथी नेताओं ने, जिसमें राजेन्द्र प्रसाद भी थे, अपना इस्तीफा दे दिया, उनकी समाजवादी विचारधारा के कारण। लेकिन यह इस्तीफे बाद में वापस ले लिये गये। पूंजीवादियों ने भी उनकी आलोचना की। प्रधान मंत्री बनने के पश्चात् नेहरू ने अपने ढंग के समाजवाद को प्रस्तुत किया। उन्होंने औद्योगीकरण पर गहरा महत्व दिया जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम अग्रणी रहेंगे, लेकिन निजी क्षेत्र के उद्योग भी होंगे। उनका यह विश्वास था कि इस प्रकार गरीबी हटाई जा सकती है। उन्होंने भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था की शुरुआत की। उन्होंने जमींदारी प्रथा को समाप्त कराया, समुदाय विकास कार्यक्रम और अन्य शैक्षिक तथा कल्याणकारी योजनाओं की शुरुआत की। उन्होंने भारत में योजनाबद्ध कार्यक्रमों की नींव रखी। लेकिन उनकी "मिश्रित अर्थव्यवस्था" की अवधारणा ने पूंजीवाद को बढ़ावा दिया। नेहरू ने संपत्ति के संबंधों में कोई विशेष बदलाव नहीं किया। उन्होंने इस बात पर भी महत्व नहीं दिया कि वितरण की प्रणाली किस पर प्रभाव डालेगी। उन्होंने बैंकों के राष्ट्रीयकरण और संपत्ति का उच्चक मूल्यांकन जैसे विचारों को अस्वीकार कर दिया। उनका मत था कि वितरण से उत्पादन अधिक महत्वपूर्ण है।

22.6 सुभाषचन्द्र बोस और समाजवाद

सुभाषचन्द्र बोस भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के ही वामपंथी गुटों में से थे, जो गांधीवादी और दक्षिणपंथियों के विरुद्ध था। वे लेनिन, कमाल पाशा, मुसोलिन, अरविन्दो तथा विवेकानंद से बहुत प्रभावित थे।

22.6.1 बोस के विभिन्न कार्यकलाप

उनके वामपंथ में तीन पहलू थे। 1920 में वे स्वतंत्र उपनिवेशवाद के विरुद्ध थी। 1930 में वे समाजवाद का अंत चाहते थे और स्वतंत्रता के पश्चात् वे समाजवादी आंदोलन की शुरुआत चाहते थे। उन्होंने कहा, "मैं एक उग्रवादी हूं, पूर्ण रूप से या कुछ भी नहीं।" उन्होंने अपना सार्वजनिक जीवन काल 1921 में, एक असहयोगी के रूप में आरंभ किया। वे गांधीवादी तरीकों से असंतुष्ट थे। गांधी के साथ सहमत न होने के कारण 1923 में उन्होंने एक स्वराजवादी से वे स्वतंत्रता संघ के सदस्य बन गए। 1929 में, लाहौर कांग्रेस में श्रीनिवास अयंगर के साथ मिलकर उन्होंने कांग्रेस लोकतांत्रिक दल का गठन किया। उन्होंने वाइसराय इरविन के घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। 1938 और 1939 में वे कांग्रेस के अध्यक्ष बने। अध्यक्ष के रूप में वे सरकार को पूर्ण स्वराज के लिए एक अंतिम निर्णय लेने के लिए बाध्य करना चाहते थे, लेकिन गांधी के दबाव के कारण उन्हें अध्यक्ष पद से भी इस्तीफा देना पड़ा। वे वामपंथी शक्तियों का गठन करना चाहते थे, इसलिए 1939 में प्रगतिशील गुट बनाया। इससे पूर्व कुछ महत्वपूर्ण गतिविधियां हुईं। 1930 में, स्वामी सरहजानन्द सरस्वती, प्रो. रंगा और इंदुलाल यागनिक के नेतृत्व में, कृषक वर्ग और कामगार वर्ग उत्तेजित हो रहे थे। कृषक संस्थाएं, जमींदारों का अंत, भूमि करों और कर्ज में छूट की मांग कर रहे थे। सुभाषचन्द्र के विचारों में, कांग्रेस के नेतागण इन मुद्दों को ठीक ढंग से नहीं उठा पाए। बोस पूर्ण स्वराज और ब्रिटिश राज की समाप्ति के पश्चात् भारत में समाजवाद की स्थापना चाहते थे। लेकिन वे एक शक्तिशाली वामपंथी गुट को बनाने में असफल रहे।

22.6.2 बोस का दर्शनशास्त्र

उन्होंने समाजवादी समाज की स्थापना अथवा भारतीय समाज की समाजवादी तरीकों द्वारा पुनर्रचना पर महत्व दिया। उन्होंने अपना राजनैतिक जीवन एक आध्यात्मिक नेता के रूप में शुरू किया, लेकिन समय के साथ-साथ वह राजनैतिक वास्तविकता पर उतर आए। वह रणनीति में, नैतिकता को लाने के पक्ष में नहीं थे। इस विषय पर वे गांधी के भी विरुद्ध थे। बोस एक व्यावहारिक व्यक्ति थे। उनका कहना था कि किसी भी राजनैतिक दौर का रहस्य यह है कि तुम जितने बलवान हो उससे कहीं अधिक नजर आओ।" जहां तक ब्रिटिश राज के विरुद्ध संघर्ष का सवाल है, वह व्यावहारिक थे। लेकिन उन्होंने आत्म-त्याग और दुःख सहने पर महत्व दिया। वे केवल राजनैतिक स्वतंत्रता से संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने जमींदार और किसान, पूंजीवादी और कामगार, गरीब और अमीर के बीच एक "भीतरी और सामाजिक तनाव" को समझा। जिनके पास संपत्ति है, वह ब्रिटिश राज के साथ मिल जाएंगे। उन्होंने कहा, "राजनैतिक संग्राम और सामाजिक संग्राम एक साथ ही होने चाहिए।" 1938 के कांग्रेस के अधिवेशन में, अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा, "मेरे विचार में, इस बात पर कोई संदेह नहीं है कि हमारी मुख्य राष्ट्रीय समस्याएं जैसे गरबों को हटाना, अज्ञानता और बीमारी को हटाने के लिए, और वैज्ञानिक तरीकों द्वारा उत्पादन और वितरण केवल समाजवादी तरीकों द्वारा ही लाया जा सकता है।"

22.6.3 बोस की कार्यसूची

बोस ने गरीबी को हटाने, जमींदारी को समाप्त करने, कृषक कर्जों को हटाने, कृषि के क्षेत्र में वैज्ञानिक तरीकों को अपनाने, सहकारी आंदोलन को बढ़ाने, राज्य के अन्तर्गत और नियंत्रण में औद्योगिक विकास, योजना आयोग और उद्योग तथा कृषि के उत्पादन के नियंत्रण तथा वितरण का समाजीकरण करने पर महत्व दिया। वे मार्क्सवाद के आलोचक थे। उन्होंने मार्क्सवाद की आलोचना इसलिए की क्योंकि इसने केवल आर्थिक कारकों पर ही महत्व दिया है, और इसलिए कि मार्क्सवाद ने राष्ट्रवाद को एक मध्यवर्गी तथ्य बताया। उन्होंने इस बात पर महत्व दिया कि यह राज्य की साझेदारी है कि वह भारत में समाजवाद लाए। वह भारत में वर्ग संघर्ष द्वारा समाजवाद लाने के पक्ष में नहीं थे। ऐसा इसलिए था, क्योंकि उनका यह विश्वास था कि भारत में समाजवाद, हिंसक क्रांति द्वारा असफल रहेगा। उनका कहना था कि

समाजवाद भारत में तब लाया जा सकता है, जब कोई अन्य दल (कांग्रेस नहीं) सरकार बनाएगी। वास्तव में, प्रगतिशील गुट का निर्माण उन्होंने इसलिए ही किया। भारतीय समाज की समाजवादी पुनर्रचना के कार्यक्रम बनाते समय प्रगतिशील गुट ने एक शक्तिशाली केन्द्र के महत्व पर जोर दिया लेकिन यह राजनैतिक स्वतंत्रता के प्रश्न पर शांत था। कुछ लोगों का यह अनुमान था कि शक्तिशाली केन्द्र के महत्व और राजनैतिक स्वतंत्रता के सवाल पर चुप होने के कारण, प्रगतिशील गुट फासिज्म के काफी करीब आ गया।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए स्थान में अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिए गये उत्तर से मिलायें।

1) समाजवाद पर नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस के विचारों की तुलना कीजिए।

....

....

....

....

22.7 आचार्य नरेन्द्रदेव और समाजवाद

आचार्य नरेन्द्रदेव, भारत में समाजवादी आंदोलन के संस्थापकों में से एक थे। वे पहले अखिल भारतीय समाजवादी अधिवेशन (1934 में पटना में) के अध्यक्ष थे। वे अखिल भारतीय किसान सभा के संस्थापक थे। वे अरविन्दो और तिलक द्वारा बताए गए उग्र राष्ट्रवाद के पक्ष में थे।

22.7.1 आचार्य का दर्शनशास्त्र और गतिविधियां

उन्होंने अपना राजनैतिक जीवन मार्क्सवाद में विश्वास जाहिर करते हुए किया। वे द्वंद्वात्मक की नीतियों में विश्वास रखते थे। वे आदर्श समाजवाद के पक्ष में नहीं थे। उनका यह मत था कि वैज्ञानिक समाजवाद से भारत की समस्याएं हल हो जाएंगी। उनका कहना था कि मार्क्स मानववादी थे। वे राज्य के नौकरशाही हस्तक्षेप के विरुद्ध थे। वे लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रतिनिधि थे। वे, निम्न मध्यम वर्ग, कामगार वर्ग तथा कृषकों के गुट बंधन के पक्ष में थे। उनका कहना था कि कामगार वर्ग का उद्योगों के प्रबंध में नियंत्रण होना चाहिए। उन्होंने यह महसूस किया कि जनता को "वर्ग" की धारणा के बारे में जानकर, आर्थिक विषयों पर चर्चा करके बनाया जा सकता है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान उन्होंने कहा कि भारत एक मध्यमवर्गी लोकतंत्रीय क्रांति के दौर से गुजर रहा है। उन्होंने समाजवादियों से धर्मसैद्धांतिक . ..कर इस आंदोलन में भाग लेने के लिए कहा। उनका यह विश्वास था कि यूरोप में जो आर्थिक और सामाजिक मुक्ति पूंजीवादियों द्वारा आई है, वह भारत में शोषित वर्ग के सहयोग से होगी।

22.7.2 नरेन्द्रदेव के कृषिक पुनर्निर्माण पर विचार

आचार्य नरेन्द्रदेव कृषिक पुनर्निर्माण के पक्ष में थे। उन्होंने लोगों को साक्षर बनाने के महत्व पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि कृषकों की समस्या को लेकर कृषि संबंधी ही नहीं समझना चाहिए वरन् इसे समस्त आर्थिक व्यवस्था से जोड़ना चाहिए। आचार्य नरेन्द्रदेव ने जमींदारी को समाप्त करने, भूमिहारों को भूमि दिलाने, कर्जों को माफ करने, सहकारी राष्ट्रमंडल नामक एक ग्रामीण सरकार बनाने पर महत्व दिया।

22.7.3 आचार्य और नव-वामपंथी आंदोलन

उन्होंने गांवों में एक "नवीन वामपंथी आंदोलन" के विषय में कहा। उनका मानना था कि मार्क्स मानवतावादी हैं। उन्होंने समाजवाद के मानववादी विषयों पर महत्व दिया। आचार्य नरेन्द्रदेव ने नैतिकता या आध्यात्मिकता को मार्क्सवाद से मिलाया। उनका नैतिक मूल्यों में विश्वास था। लेकिन उन्होंने सत्य की गांधीवादी अवधारणा को अस्वीकार कर दिया। हालांकि, वे गांधी के बहुत करीब आ गये, लेकिन उन्होंने वर्ग संघर्ष की अवधारणा को नहीं छोड़ा।

22.8 जयप्रकाश नारायण के समाजवाद पर विचार

जयप्रकाश नारायण (1902-1979) कांग्रेस समाजवादी दल (1934) के मुख्य संस्थापक थे। उन्होंने अपना राजनैतिक जीवन असहयोग आंदोलन में भाग लेकर आरंभ किया। अमरीका में एक विद्यार्थी के रूप में, पूर्वी यूरोपीय बुद्धिजीवियों

के सम्पर्क में आकर वे मार्क्सवाद से बहुत प्रभावित हुए। वे एम. एन. राय से भी प्रभावित हुए। लेकिन वे रूसी समाजवाद के पक्ष में नहीं थे। वे 1930 में साम्यवाद के साथ एक लोकप्रिय गुट के पक्ष में थे, लेकिन 1940 में उन्होंने इससे इन्कार किया और सोवियत संघ के आलोचक बन गए। उन्होंने केबिनेट मिशन प्रस्ताव का भी विरोध किया। कांग्रेस समाजवादी दल के सदस्य के रूप में उन्होंने एक लोक क्रांति का विचार सामने रखा। गांधी के निधन के पश्चात् जयप्रकाश नारायण के व्यक्तित्व में बहुत बदलाव आया। वे भारत में किसी भी प्रकार के व्यावहारिक और संस्थागत बदलाव के विरुद्ध हो गये। वे गांधी द्वारा बताए गए भीतरी बदलाव के पक्ष में आ गए। उन्होंने प्रजा समाजवादी दल के राष्ट्रीय कार्यकारिणी से इस्तीफा दे दिया और किसी भी राजनैतिक दल के सदस्य नहीं रहे।

22.8.1 समाजवाद और सामाजिक-आर्थिक रचना

जयप्रकाश नारायण ने समाजवाद को सामाजिक-आर्थिक रचना का पूर्ण सिद्धांत माना। वह इस बात से असहमत थे कि मानव वैज्ञानिक कारणों के कारण असमान हैं। उनका मत था कि समाज में असमानता, उत्पादन के साधनों के असमान नियंत्रण के कारण है। उन्होंने खर्च में कटौती करने तथा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने पर महत्व दिया। 1940 के रामगढ़ के कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने बड़े उत्पादनों के सामूहिक स्वामित्व, यातायात, पतन और खनन के राष्ट्रीयकरण पर महत्व दिया। उन्होंने गांधीवाद को अपने समाजवाद का मूल बनाया। उनका कहना था कि भारत में लोकतंत्र को निम्न स्तर से ही लाना चाहिए। गांव को एक स्वयं नियंत्रित और स्वालम्बी इकाई बनाना चाहिए। उन्होंने भूमिहारों को जमीन देने, सहकारी कृषि कर्जों में माफी आदि का समर्थन किया।

22.9 राममनोहर लोहिया और समाजवाद

भारत की स्वाधीनता के पश्चात् राममनोहर लोहिया एक मुख्य समाजवादी नेता के रूप में सामने आए। एशियाई समाजवादी अधिवेशन (1953) को कार्यान्वित करने में वे बहुत सक्रिय रहे। वे समाजवाद और गांधीवाद के सिद्धांतों को मिलाने के पक्ष में थे। उन्होंने इस बात पर महत्व दिया कि समाजवाद को भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप ही लाना चाहिए। 1952 में उन्होंने समाजवादी विचारधारा में गांधीवादी विचारों के अधिकाधिक उपयोग पर बल दिया। उन्होंने आर्थिक व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण करने और कुटीर उद्योगों के पुनर्रुत्थान पर बल दिया। उन्होंने देश की अर्थव्यवस्था में लघु मशीनों पर बल दिया। वह कांग्रेस के साथ किसी भी गठबंधन के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने भारत में, कांग्रेस विरोधी विचारों की नींव रखी। वे साम्यवादी के भी समान रूप से विरोधी थे। उन्होंने कांग्रेस और साम्यवाद से समान दूरी रखने के सिद्धांत पर बल दिया। कांग्रेस को समर्थन देने के विषय में, 1955 में उन्होंने स्वयं को प्रजा समाजवादी दल से हटा लिया। लोहिया ने पिछड़े वर्ग के संगठन पर महत्व दिया। उन्होंने कहा कि समाजवादी पिछड़े वर्ग को संगठित करके, सत्ता में आ सकते है। उनका मत था कि भारत में जाति एक बहुत बड़ा शोषण का साधन है। उनका कहना था कि पिछड़े वर्ग को सरकार बनानी चाहिए और समाजवाद पर आधारित नीतियों को लागू करना चाहिए। उनका विश्वास था कि इतिहास में हमेशा से ही सुगठित जाति और अव्यवस्थित जाति में संघर्ष रहा है। उनका कहना था कि जाति, समाज में एक रूढ़िवादी मत का प्रतिनिधित्व करती है।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : i) नीचे दिए गये रिक्त स्थान पर अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से मिलायें।

1) समाजवाद पर आचार्य नरेन्द्रदेव और जयप्रकाश के विचारों की तुलना करें।

....

....

....

....

2) संक्षेप में, राममनोहर लोहिया के भारत में समाजवाद पर योगदान के विषय में लिखें।

....

....

....

....

22.10 सारांश

भारतीय समाजवादियों में, आचार्य नरेन्द्रदेव मार्क्सवाद से प्रभावित थे, जयप्रकाश नारायण मार्क्सवाद और गांधीवादी विचारधारा से, तथा राममनोहर लोहिया, गांधीवादी विचारधारा से अधिक प्रभावित थे।

समाजवादियों ने, भारत में कोई विशेष योगदान नहीं दिया। लेकिन भारत : समाजवादी विचारधारा की विशेषता, समाजवाद को विभिन्न संदर्भों में रखकर है। जबकि जर्मन समाजवादियों ने कामगार वर्ग पर महत्व दिया, भारतीय समाजवादियों ने गांव, कृषि जाति तथा कृषकों पर महत्व दिया। विकेन्द्रीकरण पर महत्व, समाजवादियों पर गांधीवादी के प्रभाव को दर्शाता है।

22.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बारिक, राधाकांत, *पालिटिक्स ऑफ द जे पी मूवमेंट,* नई दिल्ली, रेडियन्ट प्रेस, 1977.

भाम्बरी, सी. पी., *पालिटिक्स इन इण्डिया* (पाठ 1, 2, 3) नई दिल्ली, विकास पब्लि., 1988.

ब्रास, पाल, आर, *कास्ट फैक्शन एण्ड पार्टी इन इण्डियन पालिटिक्स,* (भाग 1 पाठ 5) दिल्ली, चाणक्य प्रेस, 1983.

बोस सुभाषचन्द्र, *दी इण्डियन स्ट्रगल (1920-1934)* कलकत्ता, थैक्कर स्पींक 8 कं., 1948.

चन्द्रा, विपन, अन्य, *इण्डियाज़ स्ट्रगल फॉर इण्डीपेनडेंस* नई दिल्ली, वाइकिंग, 1988.

चैग, एस.एच.एम., *मार्क्सियन थ्योरी ऑफ द स्टेट,* दिल्ली, लो प्राइस प. 1990.

लोहिया, राममनोहर, *ऐपेक्टस ऑफ सोशिलिस्ट पालिटिक्स* बम्बई, तिलक रोड, 1952.

नारायण, जे. पी., *टुवर्डस स्ट्रगल, (संक) युसुफ मेहेरल्ले* बम्बई, पद्मा प्रेस, 1946.

22.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

विभाग 22.2 तथा 22.2.1 देखिए।

बोध प्रश्न 2

विभाग 22.3 देखिए।

बोध प्रश्न 3

विभाग 22.4 देखिएं।

बोध प्रश्न 4

विभाग 22.5 तथा 22.6 देखिए।

बोध प्रश्न 5

विभाग 22.7, 22.8 एवं 22.9 देखिए।

इकाई 23 जवाहरलाल नेहरू

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य
23.1 प्रस्तावना
23.2 नेहरू के राजनैतिक विचारों की प्रमुख विशेषताएं
23.3 भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति नेहरू का रवैया
23.4 1947 के बाद राष्ट्र-निर्माण
23.5 समाजवाद और सामाजिक क्रांति के बारे में नेहरू के विचार
23.6 राष्ट्रवाद के आधार के रूप में राष्ट्रीय अर्थतंत्र
23.7 नेहरू का वैज्ञानिक दृष्टिकोण
23.8 स्वतंत्र विदेश नीति एवं राष्ट्रीय स्वतंत्रता
23.9 अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण
23.10 सारांश
23.11 शब्दावली
23.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
23.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

23.0 उद्देश्य

राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति के संबंध में नेहरू के विचारों की मुख्य विशेषताओं का इस इकाई में विश्लेषण किया गया है। समाजवादी चिंतन के क्षेत्र में उनके योगदान को भी रेखांकित किया गया है। इन सबकी व्याख्या आधुनिक भारतीय राजनैतिक विचार की पृष्ठभूमि में की गई है।

23.1 प्रस्तावना

जवाहरलाल नेहरू (1889-1964) एक राजनैतिक कार्यकर्ता के रूप में विख्यात हैं। लेकिन राजनैतिक गतिविधियों की तरह ही आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन में भी उनका योगदान उतना ही महत्वपूर्ण है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के अंतिम दौर में उनकी नेता के रूप में ख्याति सिर्फ महात्मा गांधी से ही कम थी। 1947 में जब भारत आज़ाद हुआ तब नेहरू इसके प्रधानमंत्री बने और 1964 में अपनी मृत्यु तक वे इस पद पर बने रहे। वे एक लम्बे अरसे तक देश के विदेश मंत्री भी रहे। वे एक इतिहासकार भी थे। उन्होंने एक बेजोड़ आत्मकथा भी लिखी है, जो अन्य बातों के अलावा भारत में अंग्रेज़ी राज का इतिहास एवं भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का सर्वेक्षण भी प्रस्तुत करती है। भारत को आज़ादी मिलने के पहले से ही उन्होंने भारत और विश्व की समस्याओं पर विस्तार से विचार करना आरम्भ किया था और जब वे प्रधानमंत्री बने, तब भी वे इन समस्याओं पर लगातार अपना मत व्यक्त करते रहे। देश-विदेश के विख्यात लेखकों एवं राजनीतिज्ञों से भी उनका पत्राचार था। इन पत्रों में उन्होंने जिन विचारों की पुष्टि की है, जिन विचारों को समर्थन किया है, उससे सामान्य रूप से राजनैतिक चिंतन के क्षेत्र में एवं विशेष रूप से सामाजिक क्रांति के सन्दर्भ में उनके विचारों का पता चलता है।

नेहरू मार्क्सवादी चिंतन से प्रभावित थे। मार्क्सवादी साहित्य को उन्होंने गहराई से पढ़ा था। मार्क्सवादी दर्शन ने उनके चिंतन को एक नई दृष्टि दी थी, जिससे भारतीय समाज को सहायता मिली। उनका कहना था : "वृहत् रूप से मार्क्सवादी दर्शन मुझे प्रभावित करता है। इससे मुझे इतिहास की प्रक्रिया को समझने में मदद मिलती है।" नेहरू के समाजवादी चिंतन का एक दूसरा पहलू भी था। रूस की यात्रा के दौरान उन्होंने समाजवादी अर्थतंत्र की गति (डायनामिक्स) को समझा। अब वे पश्चिमी पूंजीवाद एवं सोवियत समाज को तुलनात्मक रूप से देख सकते थे। रूसी क्रांति में लेनिन के योगदान का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। रूस जैसे पिछड़े समाज में लेनिन ने जिस तरह मार्क्सवाद को लागू कर उसका आमूलचूल परिवर्तन किया था — इन सब के लिए नेहरू के मन में लेनिन के प्रति गहरा आदर का भाव था। अब भारत की समस्याओं को नेहरू दूसरे कोण से देखने की कोशिश करने लगे। नेहरू लिखते हैं : "भारत की समस्याएं वैसी ही हैं जैसे कुछ वर्ष पहले रूस की थीं। इन समस्याओं का समाधान भी वैसे ही हो सकता है, जैसे कि रूसियों

ने अपनी समस्याओं को सुलझाया था। औद्योगीकरण एवं जनता को शिक्षित करने के मामले में भी हमें रूसियों से सीख लेनी चाहिए।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से करें।

1) नेहरू पर पड़े प्रभावो का संक्षेप में उल्लेख करें।

....

....

....

....

23.2 नेहरू के राजनैतिक विचारों की प्रमुख विशेषताएं

नेहरू भारतीय परम्परा और उसकी प्रकृति के अनुकूल प्रजातांत्रिक समाजवाद के ढांचे को अपनाना चाहते थे। वे ब्रिटेन के "फेबियन समाजवाद" से प्रभावित थे। फेबियन समाजवाद के कई सक्रिय कार्यकर्ता उनके निजी मित्र थे। नेहरू मानते थे कि संसदीय राजनीति के द्वारा समाजवाद प्राप्त किया जा सकता है। उनका मानना था कि विविध सामाजिक और विचारधारात्मक समूह भारतीय प्रजातंत्र के विचारधारात्मक समूह के भारतीय आधार को मज़बूत बनायेगा। व्यक्तिगत और सामाजिक अपेक्षाओं के बीच एक ख़ूबसूरत संधि की आवश्यकता है।

23.3 भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति नेहरू का रवैया

राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तिम चरण के सबसे बड़े नेता महात्मा गांधी थे, लेकिन इसके बाद दूसरा स्थान जवाहरलाल नेहरू का ही था। राष्ट्रीय आन्दोलन में नेहरू का एक विशिष्ट योगदान है।

पहला योगदान तो यह है कि नेहरू के निर्देश में भारतीयों का एक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित हुआ। कांग्रेस कार्य समिति द्वारा विश्व घटनाओं पर जितने भी प्रस्ताव पास हुए, वे सभी नेहरू के द्वारा तैयार किये गये थे।

साम्राज्यवाद-विरोधी ब्रसेल्स कांफ्रेंस में नेहरू ने भाग लिया था। नेहरू का मानना था कि भारत का स्वतंत्रता संग्राम साम्राज्यवाद के विरुद्ध चल रहे अन्य संघर्षों का एक हिस्सा है।

नेहरू ने साम्राज्यवादियों, कम्युनिस्टों एवं ट्रेड यूनियनों के प्रतिनिधियों, राष्ट्रीय आन्दोलन में किसानों को भी आकर्षित किया क्योंकि वे खुले रूप से कहते थे कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम का उद्देश्य सिर्फ विदेशी शासन से राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना भर नहीं है, बल्कि सामाजिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता भी हासिल करना है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने आर्थिक अन्तर्वस्तु को भी स्वतंत्रता संग्राम में जोड़ा।

23.4 1947 के बाद राष्ट्र-निर्माण

एक राष्ट्र प्रमुख के रूप में एक नेता का कार्य राष्ट्रवादी आन्दोलन के नेता के कार्य से अलग होता है, क्योंकि राष्ट्रवादी आन्दोलन के नेता का उद्देश्य सिर्फ देश की आज़ादी दिलाना होता है। आज़ादी प्राप्ति के पहले भिन्न-भिन्न राजनैतिक ताकतें भी एक ही उद्देश्य की प्राप्ति को लक्ष्य से एकजुट रहती हैं। 1947 के पहले भारत में भिन्न-भिन्न राजनैतिक ताकतें थी— उदारपंथी, हिन्दू उग्रपंथी, कम्युनिस्ट, मुस्लिम, गांधीवादी, कांग्रेसी समाजवादी एवं भाषागत आधार पर कई क्षेत्रीय राजनैतिक शक्तियां।

इन विभिन्न ताकतों को एकजुट करने एवं विघटनकारी शक्तियों से सघर्ष करते हुए भारतीय राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने में नेहरू का ऐतिहासिक योगदान है। पाकिस्तान बनने के बाद मुस्लिम विघटनकारी कोई बड़ी शक्ति नहीं रहे। एक हिन्दू धर्मांध के द्वारा गांधी की शहादत ने 1948 के बाद हिन्दू धर्मांधता को काफी कमज़ोर किया। लेकिन इन शक्तियों के ख़िलाफ नेहरू के लगातार विचारधारात्मक संघर्ष ने राजनैतिक एवं शासकीय रूप से इन्हें दुर्बल कर दिया। अगर भारत आज एक आधुनिक राज्य एवं सभ्य समाज है और पाकिस्तान के मुकाबले अधिक संख्या में यहां मुस्लिम सुरक्षित एवं स्वतंत्र हैं, तो इसकी वजह धर्मनिरपेक्षता के पक्ष में नेहरू का दिया गया निरन्तर उपदेश है।

नेहरू ने यह स्पष्ट कर दिया था कि सार्वजनिक जीवन में और विशेषकर राजनीति में धर्म का कोई स्थान नहीं है। पश्चिमी उदारवादी शिक्षा के प्रभाव में नेहरू के धर्मनिरपेक्ष विचारों ने आकार ग्रहण किया था। एक उदारवादी (लिबरल) के रूप में उन्होंने धर्म और राजनीति को अलगाया। राजनीति में धर्म का कोई स्थान नहीं है। जब राजनीति में धर्म सक्रिय होता है, तब यह साम्प्रदायिक बन जाता है। नेहरू ने बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता एवं अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता में भेद किया था। उनका सोचना था कि बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता का विकास होने पर यह 'फासिज़्म' का रूप अख्तियार कर सकती है। भारतीय संविधान को धर्मनिरपेक्ष बनाने एवं सभी धार्मिक समुदायों को बराबरी का हक दिलाने में नेहरू का महत्वपूर्ण योगदान है। भारत कोई भी धर्म को बिना अपनाये ही एक धर्मनिरपेक्ष एवं प्रजातांत्रिक राज्य है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से करें।

1) नेहरू के विचारों की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें।

....
....
....
....

2 राष्ट्रीय आन्दोलन में नेहरू की भूमिका का संक्षेप में उल्लेख करें।

....
....
....
....

23.5 समाजवाद और सामाजिक क्रांति के बारे में नेहरू के विचार

स्रोतों के अधिकतम उपयोगिता के लिए नेहरू आयोजित अर्थतंत्र (प्लान्ड इकॉनामी) में विश्वास रखते थे। वे निजी पूंजी के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में नहीं थे। आर्थिक विकास की उनकी योजना में मिश्रित अर्थव्यवस्था (मिक्सड इकॉनामी) का महत्वपूर्ण स्थान था। भारतीय समाज की मूलभूत समस्याओं एवं गरीबी हटाने में निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र, दोनों मिलकर काम करेंगे, ऐसा नेहरू का मानना था।

नेहरू का यह विचार समाजवादी मूल्यों पर आधारित था जिसके अनुसार मुनाफे पर आधारित अनियंत्रित पूंजीवाद एवं बाज़ार केन्द्रित अर्थतंत्र (मार्केट इकॉनामी) देश के अर्थतंत्र की प्रकृति को निर्धारित न करने पाये। नेहरू चाहते थे कि सार्वजनिक क्षेत्र (पब्लिक सेक्टर) ही अर्थतंत्र को नियंत्रित करने वाला कारक बने। यही कारण है कि इस्पात एवं भारत में तेल का पता लगाने वाले बड़े-बड़े उद्योगों को उन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत रखना उचित समझा।

औद्योगीकरण का उद्देश्य समतावादी समाज की रचना होनी चाहिए। नेहरू की योजना में उन्नत तकनीक वाले बड़े उद्योगों की एक महत्वपूर्ण भूमिका है। जैसा कि नेहरू का कहना था : "मैं ट्रैक्टर और बड़ी मशीनों के पक्ष में हूं। मैं इस बात से सहमत हूं कि देश में ज़मीन पर पड़े दबावों को घटाने, गरीबी का निर्मूल करने, जीवन-स्तर को ऊपर उठाने, प्रतिरक्षा एवं अन्य कई कामों के लिए भारत का तेजी से औद्योगीकरण करना ज़रूरी है। लेकिन मैं इस बात से भी उतना ही सहमत हूं कि औद्योगीकरण का पूरा-पूरा फायदा उठाने एवं इसके कुछ खतरों से बचने के लिए बहुत ही समुचित योजना की ज़रूरत है।"

23.6 राष्ट्रवाद के आधार के रूप में राष्ट्रीय अर्थतंत्र

नेहरू चाहते थे कि राष्ट्रीय अर्थतंत्र राष्ट्रवाद की शक्ति बने। कोई भी भारतीय नेता चाहे वह उदारवादी हो या गांधीवादी, इस विषय को पूरी तौर से नहीं समझा था और न इस पर ध्यान दिया था। कम्युनिस्ट पश्चिमी पूंजीवादी आर्थिक शक्तियों से भारत का संबंध तोड़ देना चाहते थे। लेकिन उन्होंने यह कभी नहीं महसूस किया कि भारत अगर योजना की कम्युनिस्ट शैली अपनाता है, और सोवियत यूनियन पर बहुत ज्यादा आश्रित रहता है, तो उसके क्या नतीजे होंगे। लेकिन नेहरू ने कई कदम उठाए। उन्होंने अपने व्याख्यानों एवं रचनाओं के विकास पर बहुत ज़ोर दिया है। वे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विरोधी नहीं थे, लेकिन वे चाहते थे कि भारत स्वनिर्भरता के साथ अपने अर्थतंत्र का विकास खुद करे।

नेहरू इस बात से पूरी तौर से सचेत थे कि 1947 में प्राप्त की गई भारत की राजनैतिक आज़ादी को विदेशी ताकतें अपने आर्थिक घुसपैठ से खत्म कर सकती हैं और शनैः-शनैः भारत को एक अर्द्ध-उपनिवेश में बदला जा सकता है। भारतीय राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में नेहरू की राजनीतिक सोच का यह आर्थिक आधार था। राष्ट्रीय अर्थतंत्र का विकास तभी संभव है जब निम्नांकित कदम उठाये जायेंगे :

1) आर्थिक विकास के लिए राष्ट्रीय योजना एवं जनता में सम्पत्ति का बंटवारा।

2) पश्चिम से सीमित सहायता प्राप्त कर "हरित क्रांति" के द्वारा भारतीय कृषि का विकास।

3) सोवियत संघ की सहायता से इस्पात एवं तेल का पता लगाने वाले बड़े-बड़े उद्योगों का विकास।

23.7 नेहरू का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

नेहरू के विचारों का एक महत्वपूर्ण पक्ष है, उनका वैज्ञानिक दृष्टिकोण। भारत अपने विज्ञान एवं तकनीक का विकास करके आर्थिक क्षेत्र में उसका बड़े पैमाने पर प्रयोग करके ही आर्थिक रूप से "स्व-निर्भर" बन सकता था। कांग्रेसी नेताओं में अकेले नेहरू ही थे जिन्होंने इस सन्दर्भ में गांधी के विचारों से अपना भिन्न मत प्रकट किया था।

नेहरू का विश्वास था कि विज्ञान ने इतिहास की लम्बी अवधि में मानव जीवन को सबसे अधिक क्रांतिकारी सम्भावनाओं से सम्भव बनाया है। वे लिखते है : "वैज्ञानिक प्रविधि, विज्ञान का आलोचनात्मक रवैया, सत्य एवं ज्ञान का अन्वेषण, बिना परीक्षण किए हर चीज़ का अस्वीकार, नये अनुसंधानों से पुराने निष्कर्षों को बदल सकने की क्षमता, पूर्वाग्रहित सिद्धांतों के बदले अवलोकित तथ्यों पर भरोसा, मन का कठोर अनुशासन — ये सभी सिर्फ विज्ञान के प्रयोग के लिए ही ज़रूरी नहीं हैं, बल्कि जीवन और जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए भी उतने आवश्यक हैं।"

भारत में विज्ञान और तकनीक का वृहत् पैमाने पर प्रयोग किये जाने के पीछे नेहरू का तर्क यह था कि यह देश को आर्थिक शक्ति एवं स्वतंत्रता प्रदान करेगा।

विज्ञान एवं तकनीक का बड़े पैमाने पर प्रयोग एवं देश में वैज्ञानिक दृष्टिकोण को नेहरू इसलिए बढ़ावा देना चाहते थे क्योंकि उनका मानना था इन सबसे आर्थिक विकास होगा जो सामाजिक क्रांति का मार्ग प्रशस्त करेगा। इन सब उपायों से भारत की अविवेकी परम्परा (इर्रैशनल ट्रेडिशन) कमज़ोर हुई। अविवेकी परम्परा यो पदवी पर आधारित थी, का धीरे-धीरे बुर्जुआ दृष्टिकोण ने स्थान ग्रहण कर लिया।

विज्ञान और तकनीक के वृहत् पैमाने पर प्रयोग से यह सम्भव था कि भारत एक स्वतंत्र, स्वनिर्भर आर्थिक राजनैतिक एवं सैनिक शक्ति के रूप में उभरे। 1945 में नेहरू ने गांधी को लिखा था, "मुझे ऐसा लगता है कि जब तक भारत तकनीकी रूप से विकसित नहीं होगा तब तक वह सही मायने में स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर पायेगा। मैं ऐसा सिर्फ वैज्ञानिक विकास के सन्दर्भ में नहीं सोचता हूं। विश्व के वर्तमान सन्दर्भ में हम लोग हर विभाग में वैज्ञानिक अनुसंधान के बगैर सांस्कृतिक रूप से भी विकास नहीं कर सकते। आजकल व्यक्ति, समूह एवं राष्ट्र में अजीब लोभी प्रवृत्ति का उदय हुआ है, जो संघर्ष एवं युद्ध का कारण बनता है।"

नेहरू के अनुसार भारत को विदेशी ताकतों को प्रतिरोध देने के लिए यह आवश्यक है कि भारत खुद विज्ञान एवं तकनीक का विकास करे। 'न्युक्लियर नॉन प्रोलिफेरेशन संधि' पर भारत ने हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया था, उसका अन्य कारणों के अलावा एक कारण यह भी था। आरम्भ में भारत ने सिर्फ शांतिपूर्ण कामों के लिए नाभिकीय ऊर्जा (न्युक्लियर इनर्जी) का विकास करना चाहा, लेकिन अपनी रक्षा के लिए हथियार बनाने का विकल्प भी वह नहीं छोड़ना चाहता था। इस वजह से भारत में स्वतंत्र विदेश नीति को बहाल किया गया।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए नीचे दिये गये रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से करें।

1) समाजवाद के बारे में नेहरू के विचारों को संक्षेप में लिखें।

....

....

....

....

2) राष्ट्रीय अर्थतंत्र के विकास के लिए नेहरू ने किन-किन उपायों पर विचार किया?

....

....

....

....

3) नेहरू के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के बारे में संक्षेप में विश्लेषण करें।

....

....

....

....

23.8 स्वतंत्र विदेश नीति एवं राष्ट्रीय स्वतंत्रता

भारत की विदेश नीति के सन्दर्भ में नेहरू ने अपने आरम्भिक वक्तव्यों में यह दावा किया था कि यह सर्वथा स्वतंत्र विदेश नीति थी। नेहरू ने विदेश नीति के क्षेत्र में अपने स्वतंत्र चिंतन का विकास किया था। वे विश्व-राजनीति की गतिशीलता (डायनामिक्स) को समझते थे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मुख्यतः दो शक्ति केन्द्र थे — पश्चिमी साम्राज्यवादी केन्द्र एवं सोवियत समाजवादी केन्द्र। नेहरू का सोचना था कि भारत और भारत जैसे नये-नये स्वतंत्र हुए राष्ट्रों को इन शक्ति केन्द्रों में शामिल न होकर अपनी स्वतंत्र नीति अपनानी चाहिए। उन्होंने लिखा : "हम लोगों को गृह या अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान अपने तरीके से खोजना चाहिए। अगर किसी विशेष अवसर पर इन शक्ति केन्द्रों से अपना संबंध पड़े, तो हो सकता है किसी एक दृष्टिकोण से लाभप्रद मालूम पड़े, लेकिन वृहत् दृष्टिकोण से यह न सिर्फ भारत के लिए बल्कि विश्व-शांति के लिए नुकसानदेह ही साबित होगा, इसमें मुझे थोड़ा भी संदेह नहीं।" नेहरू चाहते थे कि गुट निरपेक्ष देश एक शक्ति केन्द्र के रूप में कार्य करें। वे अपने स्रोतों का अपनी सम्पन्नता के लिए हिस्सेदारी करें।

नेहरू ऐसे भारत की कल्पना नहीं करते थे जो बाकी दुनिया से कटा हुआ हो। उनकी स्वतंत्र विदेश नीति ऋणात्मक नहीं थी। उनका मानना था कि विज्ञान, संस्कृति, अर्थतंत्र एवं राजनीति के सन्दर्भ में भारत दुनिया का एक हिस्सा है। इस सन्दर्भ में उनका यह स्पष्टीकरण महत्वपूर्ण है : "हमारा पूरा समाज कमोबेश इसी पर आधारित है। यह आधार सहयोग का होना चाहिए न कि अलगाव का जो कि प्रायः असम्भव है। अगर यह स्वीकार कर लिया जाय और इसे उपयुक्त पाने पर यह महसूस करने के लिए प्रयास किया जाना चाहिए कि अर्थतंत्र के सन्दर्भ में पूरी दुनिया से विछिन्न होने के बदले आपसी सहयोग ज्यादा अनिवार्य है। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से विछिन्न भारत दूसरे देशों की लोभी प्रवृत्ति को उकसाने का काम करेगा जिसकी स्वाभाविक परिणति संघर्ष होगी।"

23.9 अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण

भारत के आज़ाद होने पर नेहरू के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण ने ही उनके विचारों एवं कार्यों को आकार दिया। वे शीत युद्ध एवं शक्तिशाली शक्तियों के दो शक्ति केन्द्रों में विभाजन के विरोधी थे। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को कम करने की कोशिश की और कुछ अवसरों पर संघर्ष कर रहे राष्ट्रों के बीच मध्यस्था की भूमिका निभाई।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से करें।

1) नेहरू की विदेश नीति की मुख्य अवधारणाओं का उल्लेख करें।

....

....

....

....

23.10 सारांश

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जब पूंजीवाद और कम्युनिज़्म के बीच संघर्ष तेज था और नेहरू ने भारत की गुटनिरपेक्ष नीति की घोशणा की, तब लोगों ने उन्हें अयथार्थवादी कहना आरम्भ किया। अब जब दो गुटों का विखंडन

हो गया है, तब पता चलता है कि नेहरू का दृष्टिकोण कितना प्रासंगिक और यथार्थवादी था। अब तो दोनों महाशक्तियों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता।

देश के भीतर नेहरू की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उन्होंने विभिन्न राजनीतिक दलों, समूहों के बीच संधि एवं सहयोग की धारणा विकसित की जिससे राजनैतिक स्थिरता एवं सामंजस्य धीरे-धीरे विकसित हुये।

वे समाज में बहुत बड़ी क्रांति लाने में सफल नहीं हुए, लेकिन उन्होंने निश्चित रूप से अर्थतंत्र एवं समाज को आधुनिक बनाने में एक हद तक सफलता प्राप्त की। हिन्दू-संहिता विधेयक विधि निर्माण का एक बेहतरीन नमूना था, जिसने हिन्दू समाज को सामंती समाज से एक आधुनिक समाज बनाने में मदद की। यह एक सही दिशा में उठाया गया कदम था। संक्षेप में कहा जा सकता है कि नेहरू ने भारत में राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिरता कायम करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जिससे देश राजनैतिक रूप से स्वतंत्र रह सका। उनके समय में राष्ट्रीय मतैक्य को बढ़ावा मिला। भिन्न-भिन्न राजनैतिक दलों के बीच आपसी सहयोग की भावना का विकास हुआ। लेकिन यह किसी प्रजातांत्रिक समाजवादी क्रांति को जन्म नहीं दे सका। सिर्फ इतना हुआ कि देश में राजनैतिक रूप से स्थिरता आई जिससे धीरे-धीरे सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक क्रांति के लिए ज़मीन तैयार हुई। इसी राजनैतिक स्थिरता की वजह से भारत दक्षिण एशिया में एक बड़ी शक्ति के रूप में एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक मध्य शक्ति के रूप में उभरा।

23.11 शब्दावली

राष्ट्रवाद : मानव-समूह की वह पहचान जो उसके सामान्य भाषा एवं सांस्कृतिक रूप के अत्यधिक विकसित एवं आधुनिक स्वरूप से उभरती है।

सामाजिक क्रांति : समाज के आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक मूल्यों का आमूल एवं सम्पूर्ण परिवर्तन।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण : ऐसा दृष्टिकोण जो विज्ञान को ही एकमात्र सत्य स्वीकार करता है और जो पारम्परिक अवधारणाओं में जकड़ी सभी तरह के विवेकहीन अंधविश्वासों को खारिज करता है।

धर्मनिरपेक्षता : एक ऐसी अवधारणा जो रणनीति और राजनैतिक जीवन में धर्म की किसी भी तरह की भूमिका को खारिज करती है।

समाजवाद : एक ऐसा सामाजिक सिद्धांत जो पूंजीवादी व्यवस्था को बदलकर उत्पादन के साधनों पर सामाजिक मल्कियत कायम कर शोषण रहित व्यवस्था स्थापित करने पर विश्वास रखता है।

23.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आधार ग्रंथ

जवाहरलाल नेहरू

पिता के पत्र पुत्री के नाम (इलाहाबाद 1920)

विश्व इतिहास की झांकी (इलाहाबाद 1934)

मेरी जीवनी (1962)

भारत की एक खोज (कलकत्ता 1946)

इंडियाज़ फॉरेन पौलिसी, सलेक्टेड स्पीचेज़, 1961, पृ. 70

नेहरू ऑन सोशलिज़्म, व्ही. सिंह (संपादित) दिल्ली, 1988

सन्दर्भ ग्रंथ

डी. नौरमन, *नेहरू द फस्ट सिक्सलीन इयरर्स,* लंदन, 1965

एस. गोपाल, *जवाहरलाल नेहरू : ए बायोग्राफी, थ्री वोल्युम्स,* आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984

थे. गौरव एवं व्ही. थूमानिया, *जवाहरलाल नेहरू,* मास्को, 1982

मायकेल ब्रेकर, *नेहरू : ए पॉलिटिकल बायोग्राफी,* लंदन 1950

23.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

खंड 23.1 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) खंड 23.2 देखें।
2) खंड 23.3 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) खंड 23.5 देखें।
2) खंड 23.6 देखें।
3) खंड 23.7 देखें।

बोध प्रश्न 4

1) खंड 23.8 देखें।

इकाई 24 सुभाषचन्द्र बोस

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.1.1 प्रारंभिक जीवन

24.1.2 उनकी गतिविधियाँ

24.2 सुभाष के राजनैतिक दर्शनशास्त्र की मूल अवधारणा

24.2.1 इतिहास के विषय में उनके विचार

24.3 उग्रवादी राष्ट्रवाद तथा देशभक्ति

24.4 राष्ट्र-निर्माण पर बोस के विचार

24.5 स्वदेशी और राष्ट्रवाद

24.6 स्वतंत्रता की अवधारणा

24.7 समाजवाद की अवधारणा

24.8 सामाजिक परिवर्तन

24.9 राष्ट्रीय सामाजिक क्रांति के साधन : गुरिल्ला (छापामार) संग्राम

24.10 बोस और फासिज्म

24.11 प्रगतिशील गुट (दल) के उद्देश्य

24.12 सारांश

24.13 मुख्य शब्द

24.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

24.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

24.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित बातें जान पायेंगे :

- राष्ट्र निर्माण में बोस की भूमिका
- बोस के राजनैतिक जीवन तथा उनके दर्शनशास्त्र के बीच संबंध
- उनका समाजवाद का सिद्धांत
- समाजवाद पर उनके विचारों तथा समाजवाद की अन्य विचारधाराओं में असमानता
- राष्ट्रवाद पर उनके विचार

24.1 प्रस्तावना

सुभाषचन्द्र बोस, पारंपरिक ढंग से, एक राजनैतिक दार्शनिक नहीं थे। वह उपनिवेशी भारत की, राष्ट्रीय राजनीति से बहुत प्रभावित थे, तथा इस देश से ब्रिटिश राज को हटाने के लिए उन्होंने अपनी शक्ति को लगा दिया। इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति उनका मुख्य उद्देश्य था और इसलिए, उनके राजनैतिक विचार राष्ट्रीय स्वतंत्रता तथा ऐसे विचारों से ओत-प्रोत हैं, जो भारत के भविष्य को महान बनाने में सहायक होंगे। उनके राजनैतिक विचारधारा में एक स्वाभाविकता है, जिसे उनके उत्तेजनापूर्ण राजनैतिक जीवन से अलग नहीं किया जा सकता।

24.1.1 प्रारंभिक जीवन

उनका जन्म 23, जनवरी 1887, को कटक में हुआ। एक भावुक बालक के रूप में, उन्होंने अंग्रेज़ों द्वारा भारतीयों पर हो रहे भेदभाव को महसूस किया। विद्यार्थी के रूप में, उड़ीसा में, अपने संपर्क में आए हुए अंग्रेजों के प्रति उनके मन में रोष पैदा हुआ। इस अशांति ने किशोरावस्था में सुभाष को उत्पीड़ित किया और वह एक गुरू की तलाश में घर से भाग ही जाते, जो उन्हें सांत्वना दे सके। इसी बीच, उन्होंने स्वामी विवेकानंद के दर्शनशास्त्र को पढ़ा और प्रभावित हुए सामाजिक सेवा को आध्यात्मिकता के साथ जोड़ने के लिये वह राष्ट्र की रचना आधुनिक तरीकों से करना चाहते थे। प्रारंभिक शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्होंने रेवेनशॉ कॉलिजिएट स्कूल में प्रवेश लिया। तत्पश्चात् वह कलकत्ता गए और प्रेसीडेन्सी कॉलेज में प्रवेश लिया जहां भारतीय विद्यार्थी, अपने इतिहास के अध्यापक इ.एफ. ओटन के उद्दत व्यवहार से बहुत क्रोधित थे। ओटन को कॉलिज परिसर में पीटा गया और थप्पड़ मारा गया। इस बात के लिए सुभाष को कालेज से निलंबित कर दिया गया। बाद में उन्होंने स्कॉटिश चर्च कॉलेज से दर्शन शास्त्र में स्नातकी उत्तीर्ण की। इंग्लैंड में, अत्यंत गौरवपूर्ण प्रतियोगिता परीक्षा, आई.सी.एस. में बैठे और सफल हुए। लेकिन मातृभूमि के प्रति प्रेम होने के कारण उन्होंने 22 अप्रैल 1921 को यह गौरवपूर्ण और सुखद नौकरी छोड़ दी तथा पूरी तरह से स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े।

24.1.2 उनकी गतिविधियां

1921 में, भारत लौटने पर वह गांधीजी से मिले, और असहयोग आंदोलन में भाग लिया। इसी बीच, वह सी.आर. दास के संपर्क में आए और उनके शिष्य बन गए। उन्होंने अपने आपको दास की राजनैतिक कोशिशों से जोड़ा और उनके साथ जेल भी गए। सी.आर. दास की स्वराज पार्टी द्वारा शुरू किए गए समाचार दैनिक प्रगतिशील के संपादन का कार्यभार उन्होंने संभाला। जब दास, कलकत्ता नगरपालिका के महापौर निर्वाचित हुए, उन्होंने सुभाष बोस को मुख्य कार्यकारी के रूप में चुना। अपनी राजनैतिक गतिविधियों के कारण 1924 में वे गिरफ्तार कर लिए गये। 1930 मे वे कलकत्ता के महापौर निर्वाचित हुए और उसी वर्ष वे अखिल भारतीय मजदूर संघ कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 1930 के दशक में जवाहरलाल नेहरू, कांग्रेस समाजवादी, कम्युनिस्ट तथा एम.एन. रॉय के साथ वे कांग्रेस की वामपंथी राजनीति के संपर्क में आए। वामपंथी गुट की कोशिशों के कारण कांग्रेस ने बहुत ही प्रगतिशील निर्णय लिये। 1931 में कराची में कांग्रेस ने उत्पादन के साधनों के समाजीकरण के साथ-साथ, मूल अधिकारों को लागू करना अपना मुख्य उद्देश्य बनाया। 1938 में, हरिपुरा में वामपंथी समर्थन के साथ सुभाष कांग्रेस अध्यक्ष चुनाव में विजयी हुए। अगले वर्ष त्रिपुरा में गांधीजी के उम्मीदवार पट्टाभी सीतारम्मया के विरुद्ध पुनः उन्होंने अध्यक्ष का चुनाव जीता। लेकिन गांधीजी के साथ उनके मतभेद बढ़ गए और अंततः कांग्रेस को छोड़ दिया। उन्होंने प्रगतिशील गुट (Forward Block) नामक एक नए दल को बनाया। 1939 में विश्व युद्ध छिड़ गया। सुभाष ने महसूस किया कि इस समय भारत के मुख्य शत्रु ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध उनके ही दुश्मन (नाजी जर्मनी, फासिस्ट इटली तथा जापान) को जहां तक संभव हो सके, इस्तेमाल किया जाना चाहिए। इसलिए वे स्वतंत्रता के लिए इस अंतिम युद्ध में पूरे जोश के साथ कूद पड़े। उनको गिरफ्तार कर लिया गया और नज़रबंद रखा गया। लेकिन ब्रिटिश अधिकारियों को चकमा देकर वे भाग खड़े हुए, और अन्य स्थानों से होकर अंततः जर्मनी पहुंचे। घटनाएं शीघ्र घटती चली गई, वे जापान और वहां से बर्मा पहुंचे और अंग्रेजों से लड़ने के लिए जापान की सहायता से भारत को आज़ाद करने के लिए, आज़ाद हिन्द फौज का गठन किया। उन्होंने "जय हिन्द" और "दिल्ली चलो" जैसे प्रसिद्ध नारों को दिया। अपने सपनों को साकार होने से पहले ही हवाई दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गई। लेकिन, कुछ लोगों का यह विश्वास है कि वह अभी भी जीवित हैं।

अपने व्यस्त जीवन काल में, सुभाष ने अपनी ही राजनैतिक विचारधारा बनाई, जिसके विषय में आप अगले विभागों में पढ़ेंगे।

24.2 सुभाष के राजनैतिक दर्शन शास्त्र की मूल अवधारणा

24.2.1 इतिहास के विषय में उनके विचार

सुभाष ने भारतीय इतिहास की व्याख्या की और कहा कि इसको दशकों अथवा शताब्दियों में नहीं वरन् हजारों मे विवरण देना चाहिये। भारत, भाग्य के विभिन्न अस्थिर स्थितियों से गुजरा है। न तो एक व्यक्ति और न ही एक राष्ट्र, लगातार प्रगति और समृद्धि के दौर में रह सकता है। यह कथन भारत के लिए भी सत्य है जो हमेशा से ही एक उच्च स्तरीय संस्कृति तथा सभ्यता से संबंधित रहा है। बोस ने अपने भारतीय इतिहास पर विचारों को संक्षेप में निम्नलिखित वाक्यों में कहा है :

1) उत्थान के समय के बाद पतन और उसके बाद फिर से नया उत्थान शुरू होता है।

2) पतन का मुख्य कारण शारीरिक और मानसिक थकावट है।

3) नए विचारों को लाकर तथा कभी-कभी नए व्यक्तियों को लाकर, प्रगति और पुनः दृढ़ीभवन किया गया गया है।

4) हर नया युग उन व्यक्तियों द्वारा लाया गया है, जिनके पास अधिक बौधिक शक्ति तथा उच्च सैन्य कौशल है।

5) भारत के इतिहास काल में सभी विदेशी तत्व, भारतीय समाज द्वारा अपने अन्दर समा लिए गए हैं। अंग्रेज ही केवल एक अपवाद है।

6) केन्द्रीय सरकार में बदलाव आते रहने के बावजूद भी, लोग हमेशा से ही वास्तविक स्वच्छंदता के आदी हैं।

अपने खोए हुए गौरव को प्राप्त करने के लिए सुभाष विभिन्न शक्तियों का पुनरुद्धार चाहते थे।

24.3 उग्रवादी राष्ट्रवाद तथा देशभक्ति

सुभाष का मत था कि भारतीयों को स्वाधीनता प्राप्ति के प्रति उत्साहित करने के लिए उग्रवादी राष्ट्रवाद की भावना आवश्यक है। सुभाष स्वाधीनता के लिए अहिंसा के मार्ग तथा लोगों के संगठन में विश्वास रखते थे, इसलिए उन्होंने असहयोग आंदोलन तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन का समर्थन किया, लेकिन एक निर्णायक समय पर इसको हिंसा के नाम पर वापस ले लेने पर तथा एक अवसरवादी समझौता करने पर, सुभाष ने इसकी कड़ी आलोचना की। उन्होंने लिखा, "अगर हमारी नीतियां बिना समझौते के युद्ध संलग्न होती, तो 1922 का बारडोली समर्पण न हुआ होता—और न ही मार्च 1931 का दिल्ली समझौता, जब परिस्थिति उपयुक्त थी।" उन्होंने महसूस किया कि "स्वाधीनता के नशे में चूर धर्मदूत जो नैतिक रूप से तैयार हैं" ज्यादा से ज्यादा बलिदान करने तथा सहने के लिये, उन सब का लक्ष्य प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान पर अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से मिलायें।

1) सुभाष के राजनैतिक दर्शनशास्त्र के ऐतिहासिक बुनियाद के विषय में संक्षेप में लिखे।

....

....

....

....

2) बोस के विचार में भारतीय इतिहास को कितनी अवस्थाएं हैं?

....

....

....

....

24.4 राष्ट्र-निर्माण पर बोस के विचार

बोस के विचार में राष्ट्र केवल संकीर्ण स्वार्थों को पूरा करने के लिए नहीं है। केन्द्रीय प्रान्तों तथा बेरार के विद्यार्थियों को अमरावती में सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा, "मैं यह पहले भी कह चुका हूं कि अच्छे और बुरे के विचार में हमें मूल्यों को बदलना होगा।" उन्होंने जीविकोपार्जन तथा जीवनयापन के प्रचलित ढंगों को पूरी तरह से बदलने तथा पुनर्गठित करने का समर्थन किया जो एक वास्तविक राष्ट्रीय एकता की तरफ ले जाएंगे और भारत को गौरवपूर्ण स्थान दिलाएंगे। उनके विचार में, वही जीवन महत्वपूर्ण है जो आम बातों से उठकर कुछ ऊंचे तथा नेक आदर्शों से प्रेरित हो। बोस ने इस बात पर महत्व दिया कि राष्ट्र का कोई अस्तित्व नहीं है अथवा उसको रहने का अधिकार नहीं, अगर उसके कोई उद्देश्य नहीं है। लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि राष्ट्र की प्रगति केवल संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति के लिए नहीं करनी चाहिए वरन् इसको आगे बढ़ाना चाहिए जिससे वह एक मानवीय समाज के गठन में अपना योगदान दे सकें। राष्ट्र के निर्माण के लिए बोस ने स्वदेशी की आवश्यकता पर महत्व दिया।

24.5 स्वदेशी और राष्ट्रवाद

बोस के विचार में, राष्ट्रवाद केवल एक राजनैतिक आंदोलन नहीं वरन् एक नैतिक आंदोलन भी है। स्वदेशी को अपनाना एक नैतिक कदम था क्योंकि यह एक समान कार्य था जिसे लोग नित्य अपनाते थे। अगर एक व्यक्ति एक घटिया स्वदेशी वस्तु उच्च दामों पर खरीदता है, तो वह राष्ट्र की सहायता करता है। स्वदेशी अपने उद्योगों को बचाने से बेहतर है। इस प्रकार स्वदेशी राष्ट्र के लिए बलिदान भारतीय उद्योगों के सुधार को मिलाती है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान पर अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से जांच कर लें।

1) बोस के राष्ट्रवाद पर विचारों की चर्चा करें। उन्होंने स्वदेशी के समर्थन में क्या कहा है?

....

....

2) बोस के विचारों में राष्ट्रीय स्वतंत्रता का क्या उद्देश्य है?

....

....

....

....

24.6 स्वतंत्रता की अवधारणा

अक्तूबर 1929 में, लाहौर में विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए बोस ने इस बात को दोहराया कि स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए विदेशी राज को हटाना सर्वप्रथम कार्य है। उन्होंने कहा कि जिस आदर्श को हमें पूरा करना है, वह हमें जीवन भर प्रेरित करेगा। वह आदर्श है, स्वाधीनता। लेकिन स्वाधीनता एक ऐसा शब्द है जिसके विभिन्न अर्थ हैं। बोस के विचार में स्वाधीनता, हर क्षेत्र में आवश्यक है जैसे देश/समाज के साथ-साथ गरीबों के लिए, स्वाधीनता पुरुष के साथ-साथ स्त्रियों के लिये स्वाधीनता, प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक वर्ग के लिये स्वाधीनता। इस स्वाधीनता का अर्थ केवल राजनैतिक दासता से मुक्ति नहीं बल्कि इसके साथ-साथ संपत्ति का समान वितरण, जातिवाद तथा सामाजिक असमानता को हटाना तथा साम्प्रदायिकता तथा धार्मिक भेदभाव को समाप्त करना। इस प्रकार, बोस के विचार में, स्वाधीनता के उतने ही पहलू हैं जितने कि इसके अंग हैं। उनका मत था कि स्वाधीनता के लिए समाजवाद आवश्यक है।

24.7 समाजवाद की अवधारणा

सुभाष चन्द्र बोस समाजवाद में विश्वास रखते थे। उन्होंने कहा कि वह "भारत को समाजवादी गणतंत्र" बनाना चाहते हैं। लेकिन उनकी समाजवाद की अवधारणा अन्यों से भिन्न थीं, और इन्होंने इसे भारतीय समाजवाद कहा। 1931 में, भारतीय नौजवान सभा को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा, "अगर हम उन विभिन्न सामाजिक तथा राजनैतिक आदर्शों का जिन्होंने मनुष्य को आरंभ से ही प्रेरित किया है, तुलनात्मक विश्लेषण करें तो, हम कुछ सामूहिक सिद्धांतों को पाएंगे जो हमारे जीवन का मूल तत्व है। यह हैं—न्याय, समानता, स्वाधीनता, अनुशासन तथा प्रेम।" न्यायी और तटस्थ होने के लिए उन्होंने सभी मनुष्यों के साथ समान व्यवहार करने पर महत्व दिया। किसी भी प्रकार का बंधन आर्थिक अथवा राजनैतिक, मनुष्य से उसकी आज़ादी छीन लेता है और कई प्रकार की असमानताओं को जन्म देता है। इसलिए, समानता लाने के लिए, किसी भी प्रकार के बंधन को हटाना आवश्यक है। लेकिन, उन्होंने यह भी कहा कि स्वाधीनता का अर्थ अनुशासनहीनता अथवा कानून का उल्लंघन नहीं है। इसका अर्थ अनुशासन तथा कानून का समावेश करना है, जो स्वाधीनता संग्राम के लिए आवश्यक है। इन मूल सिद्धांतों के अलावा, बोस ने प्रेम को सर्वोपरि माना है। मानव के प्रति प्रेम की भावना के बिना, न तो व्यक्ति न्यायी हो सकता है, न मनुष्यों के साथ समान रूप से व्यवहार कर सकता है, न कोई त्याग कर सकता है, और इन सबके बिना एक उचित समाजवाद नहीं बन सकता। इस प्रकार, बोस के विचार में समाजवाद के मूल सिद्धांत हैं—न्याय, समानता, स्वाधीनता, अनुशासन तथा प्रेम। उन्होंने कहा कि पश्चिमी देशों में, सभी प्रकार के सक्रिय राष्ट्र निर्माण के कार्यक्रम तथा सामाजिक-राजनैतिक आदर्श हैं जैसे— समाजवाद, राष्ट्र-समाजवाद,

फासिज़्म, संसदात्मक लोकतंत्र, अभिज्ञात तंत्र, निरंकुश शासन, तानाशाही आदि। उन्होंने इन सभी में कुछ अच्छाइया देखी। लेकिन, उन्होंने कहा कि हमारे जैसे प्रगतिशील राष्ट्र में, किसी एक को भी अंतिम आदर्श या विधान अपनी सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं के लिए मानना अनुचित होगा। ऐसा इसलिए क्योंकि किसी भी विचार अथवा ढांचे को पूरी तरह से एक देश से दूसरे देश में लाना न तो आवश्यक है, या न ही सबको मान्य तथा न ही सफल होगा। एक राष्ट्रीय ढांचा एक प्राकृतिक निष्कर्ष है, लोगों के विचारों, उनके सिद्धांतों तथा उनके दैनिक कार्यों का। इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है। बोस का कहना है कि सामाजिक तथा राजनैतिक ढांचे देशवासियों के इतिहास और परंपरा की अवहेलना करके नहीं बनाए जा सकते और साथ ही उनको वर्तमान परिस्थिति और जीवन के वातावरण को ध्यान में रखना आवश्यक है।

उपरोक्त कारणों के कारण, वह भारत में कम्युनिस्टों के समर्थन में नहीं थे। उन्होंने महसूस किया कि बौलशेविज्म समाजवाद (सोवियत संघ), भारत के लिए उचित नहीं है। इन्हीं समाजवादी सिद्धांतों का समावेश होना चाहिये, जो भारतीय आवश्यकताओं के अनुसार हो। उन्होंने कहा कि बोलशेविक सिद्धांत एक प्रयोगात्मक दौर से गुज़र रहा है तथा कम्युनिस्ट लेनिन और बोलशेविक से दूर होते जा रहे हैं। यह दूरी रूस की असाधारण परिस्थितियों के कारण है, जिसने मूल सिद्धांत को बदलने पर विवश किया है। उन्होंने मार्क्सवादी विचारों की अयोग्यता के विरुद्ध भी आगाह किया जो मार्क्सवाद को पूरी तरह से भारत के लिए अपनाना चाहते थे, जिससे भारत एक खुशहाल देश बन जाएगा, बोस के विचार में गलत थे क्योंकि रूस में प्रचलित बोलशेविज्म आदर्श मार्क्सवादी समाजवाद से भिन्न है।

कम्युनिस्टों को नकारने का दूसरा कारण था, अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपनाए गए तरीके और साधन। उनका विचार था कि यह तरीके भारत के लिए अनुचित हैं, और इसलिए कम्युनिज्म भारत में पनप नहीं पाया।

इसलिए भारतीय समाजवाद भिन्न होगा। उन्होंने कहा कि पूर्व परिस्थितियों में, समाजवादी राष्ट्र के विवरण को तैयार करना कठिन था। वह केवल एक समाजवादी राष्ट्र के लिए विशेषताएं और आदर्श ही बता पाया। उन्होंने कहा, "हम राजनैतिक स्वाधीनता चाहते हैं, जिसका अर्थ है, स्वतंत्र भारत का संविधान, ब्रिटिश साम्राज्यवाद से पूरी तरह मुक्त। सबको यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि स्वतंत्रता का अर्थ है ब्रिटिश साम्राज्यवाद से पूरी तरह अलग और इस बात पर किसी को कोई मतभेद नहीं होना चाहिए। दूसरी बात, हम आर्थिक उत्थान चाहते हैं।" बोस ने अपने आर्थिक उत्थान के विचार को विस्तार से बताया कि प्रत्येक व्यक्ति को काम करने का अधिकार तथा अपनी जीविका कमाने का अधिकार होना चाहिए। सबको समान अधिकार मिलने चाहिए और संपत्ति का उचित, न्यायी और समान वितरण होना चाहिए। इसके लिए राष्ट्र को, उत्पादन के साधनों तथा संपत्ति के वितरण को अपने नियंत्रण में लेना पड़ेगा।

आर्थिक समानता के अलावा, बोस के विचारों में, सामाजिक समानता भी आवश्यक है, एक वास्तविक समाजवाद के लिए। सामाजिक समानता का अर्थ है कि कोई जाति अथवा पिछड़ा वर्ग नहीं होगा। प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार तथा समाज में समान स्थान मिलना चाहिए। बोस न केवल जाति भेद को हटाने के समर्थक थे, बल्कि समाज तथा कानून में स्त्रियों के समान स्थान के भी समर्थक थे। बोस का विश्वास था कि स्त्रियां, पुरुष के समान हैं।

लेकिन, समाजवाद, सामाजिक परिवर्तन के बिना नहीं हो सकता। बोस के सामाजिक परिवर्तन के विषय में कुछ मूल विचार थे।

24.8 सामाजिक परिवर्तन

बोस के विचार में भारत में सामाजिक सुधार तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन आपस में संबंधित है। जुलाई 1929 को हुगली जिले के विद्यार्थी अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा कि जो यह सोचते हैं कि वे अपने देश को राजनैतिक स्वतंत्रता दिला सकते हैं, बिना सामाजिक परिवर्तन के तथा जो यह सोचते हैं कि सामाजिक परिवर्तन, बिना राजनैतिक स्वतंत्रता के संभव है, दोनों ही गलत हैं। उन्होंने कहा कि पहला कथन इसलिए गलत है क्योंकि अगर एक बार स्वतंत्रता प्राप्ति की भावना लोगों के मन में जागृत हो गई तो उन्हें इस बात से नहीं रोका जा सकता कि समाज बदला नहीं सकते। इसी प्रकार, दूसरा कथन गलत था क्योंकि हमारे "बिगड़े हुए" समाज में जहां सामाजिक तनाव है, आर्थिक असमानता है, वहां लोगों को राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए प्रेरित नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार, बोस ने एक सामाजिक क्रांति का समर्थन किया है। उन्होंने कहा कि विकास तथा क्रांति में कोई मूल अंतर नहीं है। क्रांति एक विकास की क्रिया है जो कम समय में होती है और विकास एक प्रकार की क्रांति है जो लम्बे समय तक चलती है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान पर उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से जांच कर ले।

1) बोस के विचार में समाजवाद का क्या अर्थ है?

....

....

....

....

2) बोस ने बोलशेविज्म तथा अन्य पश्चिमी आदर्शों को क्यों अस्वीकार कर दिया?

....

....

....

....

24.9 राष्ट्रीय सामाजिक क्रांति के साधन : गुरिल्ला (छापामार) संग्राम

आज़ाद हिन्द के आकाशवाणी भाषण में, सुभाष ने राष्ट्रीय संग्राम के तरीकों को बताया। उन्होंने कहा कि भारत में जो प्रचार चल रहा है वह अहिंसक छापामार युद्ध संग्राम है। उन्होंने कहा कि इस छापामार युद्ध के दो उद्देश्य हैं : एक तो युद्ध उत्पादक को समाप्त करना तथा ब्रिटिश प्रशासन को ठप्प करना तथा सभी भारतीयों को इसमें भाग लेना चाहिए। उन्होंने लोगों के लिए एक विस्तार कार्यक्रम बनाया। उन्होंने कहा कि लोग कर देना बंद कर दें जो कि सरकार को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से धन देता है। उद्योगों में सभी मज़दूरों को हड़ताल कर देनी चाहिए अथवा उत्पादन में कमी लाकर सरकार का विरोध उद्योगों के अंदर से करना चाहिए। उत्पादन में कमी लाने के लिए लोगों को तोड़-फोड़ की नीतियों को अपनाना चाहिए। विद्यार्थियों को भी देश के विभिन्न भागों से गुप्त रूप से छापामार गुटों का गठन करना चाहिये। उन्होंने ब्रिटिश अधिकारियों को तंग करने के लिए विद्यार्थियों को नए तरीके ढूंढने के लिए कहा जैसे डाकघरों में डाक टिकटों को जलाना, ब्रिटिश स्मारकों को नष्ट करना इत्यादि। स्त्रियां, विशेषकर लड़कियों को भी छिपकर कार्य करने का आह्वान किया, जैसे गुप्त रूप से संदेश ले जाना या पुरुषों को, जो संघर्ष कर रहे हैं छिपा कर रखना। जो सरकारी व्यक्ति, जो इस संघर्ष में शामिल हैं, उन्हें अपनी नौकरियों से इस्तीफा नहीं देना चाहिए, बल्कि बाहर वाले संघर्षकर्ताओं को सरकार की नीतियों की खबर देनी चाहिए तथा अकुशल कार्य करके उत्पादन में कमी लानी चाहिए। जो नौकर अंग्रेज़ों के घर में काम करते हैं, उन्हे मिलकर अपने मालिकों को तंग करना चाहिए जैसे वेतन बढ़ाने की मांग, बुरा खाना बनाकर इत्यादि। भारतीयों को विदेशी बैंक तथा बीमा कम्पनियों से अपने सारे कार्य बंद कर लेने चाहिए। आम जनता के लिए उन्होंने निम्नलिखित बातें कहीं :

1) ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार, उद्योगों तथा ब्रिटिश दुकानों तथा सरकारी कार्यालयों को जलाना।
2) भारत में अंग्रेज़ों का तथा जो भारतीय, अंग्रेज़ों के समर्थक हैं, उनका पूर्ण बहिष्कार।
3) सरकारी रोक के बावजूद, जलूसों का आयोजन करना।
4) गुप्त रूप से पत्रों को छापना तथा एक गुप्त रेडियो स्टेशन को बनाना।
5) ब्रिटिश सरकारी लोगों के घर तक जाकर, उन्हें भारत छोड़ने के लिए कहना।
6) प्रशासन में विरोध लाने के लिए, सरकारी दफ्तरों, कार्यालयों, न्यायालयों में घुसकर घेराव करना।
7) उन पुलिसकर्मियों और कारागर के लोगों को सजा देना जो भारतीयों को तंग करते हैं।
8) सड़कों और रास्तों पर अवरोध बनाना जहां से ब्रिटिश पुलिस अथवा सेना के गुज़रने की संभावना हो।
9) युद्ध में लगे सरकारी कार्यालयों तथा उद्योगों में आग लगाना।
10) डाक-तार, टेलिफोन तथा अन्य साधनों में अधिक से अधिक रुकावट पैदा करना।
11) जिन रेलगाड़ियों और बसों में सैनिक तथा युद्ध सामग्री जा रही हो, उन्हें रोकना।
12) पुलिस कार्यालयों, रेलवे स्टेशन तथा कारागृहों को नष्ट करना।

24.10 बोस और फासिज़्म

बोस को फासिज्म का समर्थक माना गया है। ऐसा इसलिए, क्योंकि भारतीय स्वतंत्रता के लिए उन्होंने अपने आपको द्वितीय विश्व युद्ध की राजनीति से जोड़ा तथा फासिस्ट इटली और नाज़ी जर्मनी से सहायता ली। उनके मन में, मुसोलिनी के लिए प्रशंसा थी तथा अपनी पुस्तक भारतीय संग्राम के 'भविष्य की झलक' पाठ में उन्होंने लिखा, "कम्युनिज़्म तथा

फासिज़्म में अलगाववाद होने के बावजूद इनमें कुछ समानताएं हैं। दोनों ही व्यक्ति के ऊपर राष्ट्र को महत्वपूर्ण मनाते हैं। दोनों ही संसदात्मक लोकतंत्र को नहीं मानते। दोनों ही योजनाबद्ध ढंग से देश में उद्योगों के संगठन में विश्वास रखते है। यह समान बातें एक नए विचारधारा को जन्म देगीं—'साम्यवाद'। बोस ने कहा कि यह भारत का कार्य होगा कि वह इस सम्मिश्रण को तैयार करे। इन्होंने इस भारत में पहले बीस वर्ष के लिए एक तानाशाही राज का समर्थन किया जो इस देश से गद्दारों को निकाल फेंकेगा। इसलिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बाद, भारत में तानाशाही होनी चाहिए। और यह भारत के हित में है कि यह एक तानाशाह द्वारा चलाया जाए। एक तानाशाही ही गद्दारों को देश से निकाल सकता है। उनका विश्वास था कि भारत को अपनी समस्याओं के समाधान के लिए एक कमाल पाशा की आवश्यकता है।

लेकिन बोस ने तानाशाही केवल भारत की समस्याओं के समाधान के लिए ही उचित ठहरायी। उनको फासिस्ट नहीं कहा जा सकता। उन्होंने फासिज्मवाद के उपनिवेशी तथा उग्रवाद का समर्थन नहीं किया। वह शोषित वर्ग के अधिकारों का समर्थन करते थे। इस प्रकार, हालांकि उन्होंने देश को मुक्त करने के लिए फासिस्ट देशों की सहायता ली, तथापि उन्होंने फासीवाद के आदर्शों का समर्थन नहीं किया। प्रतिशील गुट जिसके वे सदस्य थे, ने अपने सिद्धांतों को 1 जनवरी 1941 में बताया।

24.11 प्रगतिशील गुट (दल) के उद्देश्य

1) भारत के पूर्ण स्वराज के लिए बिना समझौता किए, साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष।
2) एक आधुनिक समाजवादी समाज।
3) वैज्ञानिक ढंग से उत्पादन, जिससे देश का आर्थिक उत्थान हो।
4) उत्पादन तथा वितरण का समाजीकरण।
5) व्यक्ति के लिए धार्मिक स्वतंत्रता।
6) सब व्यक्तियों को समान अधिकार।
7) भारत के सभी समुदायों को भाषा तथा संस्कृति की स्वच्छंदता।
8) स्वतंत्र भारत में, एक नई व्यवस्था का गठन करने के लिए, समानता तथा सामाजिक न्याय के सिद्धांतों का इस्तेमाल।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान मे अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से जांच कर लें।

1) सुभाष बोस की दृष्टि में राष्ट्रीय क्रांति के क्या तरीके हैं।

....
....
....
....

2) क्या सुभाष ने फासिस्टवाद का समर्थन किया?

....
....
....
....

24.12 सारांश

बोस का राजनैतिक दर्शन शास्त्र उनके भारत की स्वाधीनता के संघर्ष से संबंधित था। बोस भारत की स्वाधीनता के लिए उग्र राष्ट्रवाद में विश्वास रखते थे। उनके विचार में स्वाधीनता तथा समानता आपस में संबंधित हैं। इसलिए स्वतंत्रता केवल समाजवाद से ही मिल सकती है। उनके विचार मे समाजवाद के चार अंग हैं— राष्ट्रीय स्वतंत्रता, आर्थिक समानता,

सामाजिक समानता, तथा स्त्री-पुरुष के समान अधिकार। बोस का विचार था कि भारत को अपना ही समाजवाद बनाकर अपनाना चाहिए, तथा दूसरों का नहीं अपनाना चाहिए। राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए उन्होंने फासीस्टवाद की सहायता ली। राष्ट्रीय मुक्ति तथा राष्ट्रीय संरचना उनके राजनैतिक दर्शन के दो मुख्य अंग हैं।

24.13 मुख्य शब्द

वामपंथी : जो प्रगतिशील, उग्रवाद सुधारकों का समर्थन करते हैं।

स्वदेशी : राष्ट्रीय वस्तुओं का प्रयोग।

बोलशेविज्म : रूस की 1917 की क्रांति के पश्चात् कम्युनिस्टों द्वारा अपनाए गए, कार्ल मार्क्स का दर्शन शास्त्र।

फासिज्म : इटली में मुसोलिनी तथा जर्मनी में हिटलर द्वारा अपनाए गए राजनैतिक विश्वास का जो अपने देशों के स्वामित्व विश्व के अन्य देशों के ऊपर समझते थे।

24.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सुभाष बोस, *इण्डियन स्ट्रगल,* नेताजी रिसर्च ब्यूरो, कलकत्ता, 1964.

हीरेन मुखर्जी, *बा ऑफ बर्निंग गाल्ड : ए स्टडी ऑफ सुभाष चन्द्र बोस*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1977

हरिहर दास, *सुभाष चन्द्र बोस एण्ड द इण्डियन स्ट्रगल,* स्ट्रलिंग पब्लिशर्स : नई दिल्ली, 1983.

सुबोध मार्कण्डय, *सुभाष चन्द्र बोस, नेताजी पैसेज टू इममोरटेलेटी,* आरनल्ड पब्लिशर्स, दिल्ली।

24.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

24.2 तथा 24.2.1 विभाग देखें।

बोध प्रश्न 2

24.4 तथा 24.5 देखें।

बोध प्रश्न 3

24.7 विभाग देखें।

बोध प्रश्न 4

24.9 तथा 24.10 विभाग देखें।

इकाई 25 जयप्रकाश नारायण और आचार्य नरेन्द्र देव

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 जयप्रकाश एवं नरेन्द्र देव

25.2.1 जयप्रकाश और नरेन्द्र देव के आधारभूत दर्शन

25.3 जयप्रकाश और कांग्रेस समाजवादी दल (सी.एस.पी.) की स्थापना

25.3.1 जयप्रकाश एवं भारत में मार्क्सवाद का अनुपालन

25.4 समाजवादी कार्यक्रम एवं नरेन्द्र देव

25.4.1 समाजवाद एवं लोकतंत्र

25.4.2 तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का विरोध

25.4.3 समाजवाद उधार लिया हुआ सिद्धांत नहीं है

25.4.4 पूर्वी एवं पश्चिमी विचारों के विद्यार्थी के रूप में

25.4.5 सांस्कृतिक मार्क्सवादी

25.4.6 धर्म एवं राजनीति के मेल के विरोधी

25.5 जयप्रकाश और आचार्य : कुछ विस्तृत जानकारी

25.6 समाजवादी एवं द्वितीय विश्वयुद्ध

25.6.1 गांधी एवं कांग्रेस नेतृत्व पर समाजवादी दबाव

25.7 स्वतंत्रता के बाद के काल में समाजवादी

25.7.1 स्वतंत्रता के बाद जे.पी.

25.7.2 जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा

25.8 सारांश

25.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

25.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

25.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- जयप्रकाश नारायण और आचार्य नरेन्द्र देव के आधारभूत सिद्धांतों को जान सकें,
- नरेन्द्र देव के सामाजिक कार्यक्रम पर अपने विचार प्रस्तुत कर सकें, और
- स्वतंत्रता के बाद के काल में समाजवादी गतिविधियों की चर्चा कर सकें।

25.1 प्रस्तावना

समाजवादियों ने हमारे देश के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक अहम भूमिका निभायी है। सन् 1930 और 1940 के दशकों के दौरान वे ही ऐसे लोग थे, जिनका सम्बन्ध नेतृत्व तथा नीचे स्तर, दोनों से सम्बन्धित था। भारतीय राजनीति के तर्क ने गांधी के नेतृत्व में इन ताकतों को स्वतंत्र कर दिया। जन राजनीति का प्रारम्भ गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन का आह्वान देकर शुरू किया। छोटे समूह ग्रामीण एवं शहरी राजनीति में सामाजिक समूहों को गतिमान करने में पूरी तरह से सक्रिय हो गए। उनका मत था कि राष्ट्रीय राजनीति में सर्वप्रिय वर्गों को सम्मिलित करना एक उग्रवादी झुकाव होगा। अब नेतृत्व केवल मध्यमवर्ग के हाथों में ही न रहा जो कि वैसे राजनीतिक गतिविधियों में पूर्ण रूप से सम्मिलित था। जनतंत्र वर्ग राजनीति के इस रूप ने 1920 के अन्त के दशकों में ठोस परिणाम को जन्म दिया। इसके परिणामस्वरूप ही राष्ट्रीय नेतृत्व को 1929 में प्रसिद्ध लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य की घोषणा करने पर बाध्य होना पड़ा। निम्नलिखित पंक्तियों में आपको भारत में हुए सामाजिक आन्दोलन के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होगी।

25.2 जयप्रकाश एवं नरेन्द्र देव

मध्यवर्गीय नेताओं का एक वर्ग उग्रवादी हो गया और वर्गों की भाषा में बात करने लगा। नेहरू एवं आचार्य नरेन्द्र देव राष्ट्रवादी राजनीति के मुख्य नेताओं में से थे और उन्हें उग्रवादी प्रगतिशील नेताओं के रूप में मान्यता मिली थी। इस धारा में 1930 के दशकों में तीव्र गति से वृद्धि हुई। जयप्रकाश अमेरिका में अध्ययन करने के समय मार्क्सवादी सिद्धांतों की तरफ आकृष्ट हुए और वापस आने पर इस श्रेणी में सम्मिलित हो गये। वे नेहरू एवं आचार्य नरेन्द्र देव के घनिष्ठ सम्पर्क में आये और उनके साथ इलाहाबाद में कांग्रेस संगठन में कार्य किया। जयप्रकाश की उग्रवादी जागृति ने उन्हें नेहरू का घनिष्ठ विश्वास वाला बनाने में सहयोग दिया। मज़े की बात यह है कि जयप्रकाश के गांधी जी के साथ अच्छे सम्बन्ध थे क्योंकि जब वे विदेश में थे तो उनकी पत्नी प्रभावती गांधीजी के आश्रम में कार्य करती थीं। जयप्रकाश का व्यक्तित्व मज़ेदार एवं उलझा हुआ था। उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक विशेष स्थिति प्राप्त है।

25.2.1 जयप्रकाश एवं नरेन्द्रदेव के आधारभूत दर्शन

जयप्रकाश एवं नरेन्द्रदेव दोनों राष्ट्रीय कांग्रेस के अन्तर्गत कार्य करना चाहते थे और इसके लिये उन्होंने समाजवादियों एवं वामपंथियों के लिये एक राजनैतिक मंच की स्थापना की। उन्होंने अनुभव किया कि कांग्रेस एक ऐसा मंच है जिसमें नये परिवर्तन की आवश्यकता है तथा किसी दूसरे राजनीतिक दल की स्थापना की आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार कांग्रेस दल के भीतर विस्तृत जगह है जो दूसरे विभिन्न सैद्धांतिक समूहों को अपने अन्दर समायोजित कर सकती है। यह भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का एक चरित्र भी था जिसने एक उलझावपूर्ण सैद्धांतिक संरचना के निर्माण में सहायता प्रदान की। आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार, "एक विषय औपनिवेशिक राज्य के लिये राजनीतिक स्वतंत्रता समाजवादी मार्ग का प्रथम कदम है। मध्यम वर्गीय क्रान्तिकारी आन्दोलन के राष्ट्रवादी आन्दोलन से दूर हटना समाजवाद के लिए मूल्यजनक होगा। राष्ट्रीय आन्दोलन की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि इसको मध्यम वर्ग के साथ आम जनता का समर्थन प्राप्त हो। आन्दोलन के कार्यक्रमों में आम जनता के आर्थिक कल्याण के लिये मुख्य स्थान होना चाहिये। कांग्रेस समाजवादी दल को राष्ट्रीय आन्दोलन में मज़दूरों, किसानों एवं मध्य वर्गों की क्रांतिकारी अभिलाषा से दूर नहीं रखना चाहिए।" यह प्रसिद्ध भाषण आचार्य नरेन्द्रदेव ने 1934 में कांग्रेस समाजवादी दल के प्रथम सम्मेलन में दिया था। जे.पी. और नरेन्द्रदेव दोनों ने कांग्रेस पार्टी की महत्ता को साम्राज्य विरोधी संघर्ष के नेता के रूप में स्वीकार किया।

दूसरा, उन्होंने कांग्रेस में वर्ग राजनीति की महत्ता को मान्यता दी। तृतीय—राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवाद का सिद्धांत एक अहम भूमिका अदा करेगा। चतुर्थ—कांग्रेस समाजवादी दल कांग्रेस में एक दबाव समूह के रूप में कार्य करेगा। यह न तो एक राजनीतिक दल होगा और न ही कांग्रेस का मात्र अंग होगा। जे.पी. ने इन चीज़ों को अपने भाषण में बड़े स्पष्ट रूप से कहा है जो नीचे दिये जा रहे हैं।

"कांग्रेस के अन्दर हमारा कार्य इसको एक वास्तविक साम्राज्य विरोधी संकाय के रूप में विकसित करने की नीति से शासित होता है। कांग्रेस को एक पूर्ण रूपेण समाजवादी दल में परिवर्तित करना हमारा उद्देश्य नहीं है जैसा कि कभी-कभी गलत समझ लिया जाता है। हम लोग इस संगठन की नीतियों एवं सार में परिवर्तित लाना चाहते हैं। तात्पर्य यह कि यह जनता का सही प्रतिनिधित्व कर सके तथा विदेशी शक्तियों एवं शोषण की देशी व्यवस्था दोनों से मुक्ति दिला सके। इससे अधिक जे.पी. ने कांग्रेस नेतृत्व के वर्ग सन्दर्भ में तथा नेतृत्व के संकीर्ण झुकाव जो समाजवाद के नारे से डरते थे, उनके भी सन्दर्भ मे समझा। जैसा कि जे.पी ने अपने वक्तव्य में कहा है, "वर्तमान समय में कांग्रेस उच्च वर्गीय हितों से शोषित होती है और इसके नेता अपने किसी भी कार्यक्रम में जनता की आर्थिक उन्नति से सम्बन्धित प्रश्नों को अपने उद्देश्य में सम्मिलित करने के कट्टर विरोधी थे।"

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से जांच कर लें।

1) जे.पी. और नरेन्द्र देव के आधारभूत दर्शन क्या हैं?

....

....

....

....

....

....

25.3 जयप्रकाश एवं कांग्रेस समाजवादी दल (सी.एस.पी.) की स्थापना

कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना नासिक जेल में हुई जब जे.पी., लोहिया अशोक मेहता, अच्युत पटवर्धन और मीनू मसानी ने एक संगठन स्थापित करने का निश्चय किया। वामपंथी बुद्धिजीवियों ने अपने राजनीतिक प्रतिबद्धता के कारण एक मंच की स्थापना की। इसी समय नागरिक अवज्ञा आन्दोलन में जन राजनीति उग्रवादी हो गयी। किसान सभा और अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस को शक्तिशाली वर्ग मोर्चा के रूप में उभरी सामाजिक शक्तियों के साथ बुद्धिजीवियों के सम्मेलन में भारत के एक शक्तिशाली समाजवादी आन्दोलन को जन्म दिया। जे.पी. ने मार्क्सवादी बुद्धिजीवी के रूप में एक पुस्तक लिखे जिसका शीर्षक था समाजवाद क्यों? इसने सम्पूर्ण भारत के वामोन्पुख जनता को समाजवाद की अवधारणा के भ्रान्तियों को स्पष्ट करने में सहायता प्रदान की। यह पुस्तक कांग्रेस समाजवादी दल की ओर से प्रकाशित हुई। इस कार्य पुस्तक में उन्होंने चार महत्वपूर्ण परिकल्पनाओं को विकसित किया :

1) समाजवाद की आधारशिला

2) समाजवादी कांग्रेस का क्या तात्पर्य है?

3) विकल्प

4) तरीके विधि एवं तकनीक

केवल 32 वर्ष की आयु में ही उन्होंने अपने क्रांतिकारी लेखन के द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त की।

25.3.1 जयप्रकाश एवं भारत में मार्क्सवाद का अनुपालन

जयप्रकाश ने अपनी पुस्तक में प्रदर्शित किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी सम्मेलन एवं भारतीय साम्यवादियों से अलग हुआ जन समूह किसी भी विधि से मार्क्सवाद से निराश नहीं है जैसा कि जे.पी. ने कहा है, "समाजवाद का एक ही रूप और एक ही सिद्धांत है और वह है मार्क्सवाद। उन्होंने भारतीय प्रसंग में मार्क्सवाद को लागू करने का प्रयास किया जैसा कि उन्होंने कहा है "यह प्रायः कहा जाता है कि भारत की स्थिति विशिष्ट है। इसका तात्पर्य यह है कि समाजवाद के आधारभूत सिद्धांत का भारत में कोई उपयोग नहीं है। महान भ्रान्तियों को सोचना कठिन होगा। हालांकि धन संचय की विधि भारत में भी उतनी ही सत्य है जितना की दूसरे स्थानों पर तथा इस संचय को रोकने की विधि भी वही है जो कि दूसरे जगहों पर।' उन्होंने भारतीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था की प्रकृति को मार्क्सवादी ढंग से व्याख्या की है। सम्पत्ति के मालिकों द्वारा सामाजिक अधिशेष के स्वायत्तीकरण की वही प्रक्रिया अपनायी जाती है, जो कि पूंजीवादी देशों में है। सम्पत्ति का असमान वितरण प्रणाली ही वर्ग निर्माण की जननी है। केवल सरकार की सम्पत्ति के सम्बन्धों में आमूल चूल परिवर्तन ला सकती है। भारतीय समाजवादियों का सार्थक संरचना में बहुत अधिक विश्वास है। वे राज्य का विनाश नहीं चाहते। राज्य की आमूल चूल परिवर्तन लाने के पक्ष में हैं। जे.पी. ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि कोई भी दल समाजवाद की स्थापना तब तक नहीं कर सकता जब तक की यह राज्य की मशीनरी को अपने हाथ में न ले ले चाहे वह इसे जनता की इच्छा से प्राप्त करे या सरकार को गिराकर लेकिन यह व्यर्थ है। समाजवादी राज्य की दमनकारी शक्तियों का यदि कहीं भी अस्तित्व है तो उन्हें जन समर्थन से ही प्राप्त करना चाहिये।" समाजवाद की प्राप्ति के साधनों पर जे.पी. और नरेन्द्र देव का एक ही मत है। यद्यपि नरेन्द्र देव ने प्रारम्भ से यह स्पष्ट किया था कि जनतांत्रिक साधन ही केवल समाजवाद की प्राप्ति का साधन है। राज्य की संरचना के परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से जांच कर ले।

1) जे.पी. ने मार्क्सवाद की व्याख्या कैसे की है?

....

....

....

25.4 समाजवादी कार्यक्रम एवं नरेन्द्र देव

समाजवादी दल द्वारा दिये गये समाजवादी कार्यक्रमों से उनके दृष्टिकोण का स्पष्ट अनुमान होता है :

प्रथम — राष्ट्रीयकरण के लिए बड़ी पूंजी का होना आवश्यक है लेकिन निजी सम्पत्ति की समाप्ति नहीं।

द्वितीय — उन्होंने ग्रामीण भारत में जमींदारी प्रथा के उन्मूलन पर अधिक जोर दिया भूमि सुधार होना चाहिए जिससे छोटे ग्रामीण किसानों को भूमि मिलेगी। दूसरे शब्दों में, उन्होंने छोटे किसानों के स्वामित्व एवं लघु औद्योगिक पूंजी के विकास पर भी जोर दिया। नरेन्द्र देव लोकतांत्रिक समाजवाद की अवधारणा में बहुत स्पष्ट थे। लोकतंत्र समाजवाद के बिना जीवित नहीं रह सकता है तथा समाजवाद लोकतंत्र के बिना अधूरा है। मानव स्वतंत्रता समाजवाद ढांचे वाले समाज को प्राप्त करने का एक आधार है।

25.4.1 समाजवाद एवं लोकतंत्र

नरेन्द्र देव ने कहा कि उनके समाजवाद का तात्पर्य लोकतांत्रिक है क्योंकि :

i) यह सोपानात्मक समाज की अवधारणा का विरोधी है।

ii) यह किसी एक व्यक्ति या विशेष वर्ग द्वारा सामाजिक राजनीतिक या आर्थिक शक्तियों पर नियंत्रण का विरोधी है तथा निरंकुशता तानाशाही सामन्तवाद या पूंजीवाद के किसी भी रूप का खंडन करता है।

iii) ये साम्राज्यवाद एवं विदेशी शासन के हर रूप का विरोधी है तथा लोकतांत्रिक स्वतंत्रता के अधिकारों को पूरी तरह मान्यता देता है।

iv) ये सामाजिक सम्बन्धों तथा व्यवहार के लोकतांत्रिकरण का समर्थन करता है।

v) ये सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियों पर मजदूर वर्ग के शासन का समर्थन करता है।

vi) यह सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक मामलों मे स्वायत्तता सरकार का समर्थन करता है।

vii) यह स्वतंत्रता के आधार पर व्यवस्था को विकसित करना चाहता है।

viii) यह शक्ति तथा उत्तरदायित्व का लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण करना चाहता है।

ix) यह आवश्यकता को वरीयता देकर सामाजिक समानता एवं न्याय का विश्वास दिलाता है तथा सभी के पूर्ण सामाजिक, मानसिक एवं नैतिक विकास का दावा करता है।

x) यह सामाजक प्रसन्नता प्रदान करता है। जिसका व्यक्तित्व प्रसन्नता एक भाग है।

xi) यह व्यक्ति को प्राधिकरण का एक साधन मानता है और एक व्यक्ति के मामले या अल्पसंख्यक समूह या एक वर्ग के सत्ता छीनने या सरकार संस्था या सामाजिक शक्ति पर अपनी सत्ता स्थापित करने में उनके विद्रोह के अधिकार को मान्यता देता है।

xii) यह शक्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में लोकतांत्रिक संगठन को समर्थन देता है।

25.4.2 तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का विरोध

नरेन्द्र देव ने तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की नीति का प्रबल विरोध किया जिसने और साम्राज्यवादी शक्तियों को विभाजित एवं दुर्बल बना दिया था। भारतीय राष्ट्रवाद एवं इसके नेताओं को कलंकित किया था। उन्होंने कहा कि राष्ट्रवाद एक [illegible] सामाजिक शक्ति थी और इसका मतलब राष्ट्रों एवं वर्ग संघर्षों के बीच विरोध उत्पन्न करना नहीं था।

25.4.3 समाजवाद उधार लिया हुआ सिद्धांत नहीं है

समाजवाद नरेन्द्र देव के लिए उधार ली हुई अवधारणा नहीं थी। उन्होंने गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों का कभी विरोध नहीं किया उन्होंने सिर्फ अनुभव किया कि विशिष्ट सम्पत्ति के अधिकार के उन्मूलन के लिए वर्ग संगठन आवश्यक है। वे भारत में सत्याग्रह को एक वर्ग संघर्ष के हथियार के रूप में स्वीकार करने को तैयार थे। उन्होंने अनुभव किया कि ये विश्वास करना अवास्तविक है कि सामन्ती जमींदार जो अपने काश्तकारों पर अवैधानिक कर लगाते हैं तथा पूंजीवादी जो सुरक्षा की अपेक्षा मुनाफे पर अधिक ध्यान देते हैं वे कभी राष्ट्रीय साधनों के निर्भर ट्रस्टी बन सकते हैं। नागरिक अवज्ञा आन्दोलन की असफलता को सत्याग्रहियों की नैतिक अयोग्यता के रूप में नहीं समझा जा सकता स्वतंत्रता आन्दोलन शिक्षित मध्य वर्ग का एक रूप था। यदि इसको शक्तिशाली बनाना था तो इसके खेतों एवं फैक्टिरियों में कार्यरत व्यक्तियों को सम्मिलित करना चाहिए था। राजनीतिक स्वतंत्रता के देर से रुकी हुई आर्थिक एवं सामाजिक नेतृत्व की सहायता में परिवर्तित करना चाहिए।

25.4.4 पूर्वी एवं पश्चिमी विचारों के विद्यार्थी के रूप में

नरेन्द्र देव पूर्वी एवं पश्चिमी दोनों विचारों के प्रखर विद्यार्थी थे। प्राचीन भारतीय संस्कृति पर उनका अध्ययन गहरा एवं विस्तृत था। वह आसानी से बौद्ध दर्शन के विद्वान होने का दावा कर सकते थे जबकि वे भारत के सांस्कृतिक विरासत को अत्यधिक सम्मान देते थे। पर साथ ही, उनमें यह भी जागरुकता थी कि "बहुत से पुराने विचार अप्रचलित हो गये

हैं समय के प्रवाह के साथ इन्हें त्याग देना चाहिए।" उनके विचार में "हमारा कर्तव्य हमारी संस्कृति का गहन एवं वैज्ञानिक विश्लेषण, इसके महत्वपूर्ण तत्वों की सुरक्षा तथा आधुनिक विचारों के साथ इसका संश्लेषण करना है।"

अपने विचारों में भारतीय धार्मिक परम्पराओं को समझने के लिए पर्याप्त स्थान रखा जैसे भारतीय धर्म के स्रोत एवं सार क्या है। उनकी रचना से ही उद्धरण देना उचित होगा : "विभिन्न जातियों एवं संस्कृति के लोगों ने भारत में प्रस्थान किया और इसको अपना घर समझा। वे भारतीय समुदाय में, इस धरती के धर्म, परम्परा और विचारों में घुल मिल गये। विभिन्न समुदायों के जीने के रास्ते विभिन्न हैं फिर भी मैत्रीपूर्ण ढंग से जीवन यापन करते हैं। भारतीय इतिहास में धार्मिक कलह एवं संघर्ष दुर्लभ है। भारतीय आत्मा युगों से विभिन्नता में एकता स्थापित करने का उपाय किया है। यह हिन्दू धर्म की उदार आत्मा थी जिसने इस चमत्कार को सम्भव बनाया। हिन्दुवाद एक धर्म नहीं है यह अपने जीने के ढंग दूसरों पर जबर्दस्ती नहीं थोपता। यह विश्वास नहीं करता कि जीने का वही रास्ता सही है जो इसके द्वारा बताया गया हो ··· सत्य अपने को विभिन्न ढंग से अभिव्यक्त करता है इसलिए किसी धर्म का सत्य पर एकाधिकार नहीं है। हिन्दुवाद ही शायद ऐसा धर्म है जिसका विश्वास है कि दूसरे धर्मों के अनुयायियों को भी मोक्ष की प्राप्ति मिल सकती है। यह वाह्य रूप को अधिक महत्ता नहीं देता बल्कि मनुष्य की आन्तरिक आत्मा पर जोर देता है। इसकी उदारता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि यह संकीर्णता में विश्वास नहीं करता। हिन्दू सन्तों ने इसलिए मुस्लिम इसाई अनुयायियों को आध्यात्मिक साधना में उनके विश्वास एवं अनुपालन को त्यागे बिना सम्मिलित किया। भारतीय धार्मिक परम्पराओं ने हर धर्मों के हिन्दू सन्तों, मुस्लिम फकीरों एवं सूफियों के सर्वश्रेष्ठ तत्वों को अपने में समायोजित किया जिन्होंने परमेश्वर की एकता और भक्ति को उस तक पहुंचाने का एक साधन बताया। जाति, समुदाय को पूजा के साधन के बाह्य रूप में मान्यता नहीं दी। वे शरमन संस्कृति के विस्तृत रूप थे जो बाह्य मूल्यों में विश्वास नहीं करते थे और शुभ कार्यों पर अधिक जोर देते हैं।

25.4.5 सांस्कृतिक मार्क्सवादी

आचार्य नरेन्द्र देव मुख्य रूप से एक सांस्कृतिक मार्क्सवादी थे। वह भारतीय परम्परा से अत्यधिक प्रभावित हुए। विशेष रूप से बुद्ध से। वह बुद्ध द्वारा दिए गए उपदेश प्रेम की अहिंसा है से बहुत अधिक प्रभावित हुए। उन्होंने एक दशक से अधिक समय बौद्धिक दर्शन पर बुद्ध द्वारा लिखित पुस्तक "बुद्ध धर्म दर्शन" पर व्यतीत किया यह पुस्तक ऐतिहासिक महत्व की है। मजे की बात यह है कि उनको धार्मिक परम्परा की गहरी समझ थी लेकिन दूसरी तरफ वह धर्म एवं राजनीति में मेल के घोर विरोधी थे। उनके लिए धार्मिक परम्परा हजारों वर्ष पुराना तथ्य है जिसमें लोगों की सामूहिक जागरूकता सम्मिलित है। मार्क्सवादियों को चाहिये कि मानव को नैतिक मानव बनाने के लिए धर्मों के लोकतांत्रिक तत्वों को लाएं।

25.4.6 धर्म एवं राजनीति के मेल के विरोधी

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि वह धर्म तथा राजनीति में मेल के घोर विरोधी थे। एक बार उन्होंने उप चुनाव लड़ा था जहां कांग्रेस पार्टी ने उनको हराने के लिए एक धार्मिक प्रत्याशी को चुनाव मैदान में उतारा था। नरेन्द्र देव बहुत दुःखी हुए और कांग्रेस के राजनीतिक अवसरवाद की कटु आलोचना की। उनके अनुसार कांग्रेस ने धर्म और राजनीति को मिला दिया है। उन्होंने सदैव ही राजनीतिक अवसरवाद का विरोध किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात उन्होंने कांग्रेस और समाजवादी दोनों ही दलों को छोड़ दिया। मृत्यु तक प्रजा समाजवादी पार्टी के साथ रहे।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से जांच कर लें।

1) आचार्य नरेन्द्र देव के समाजवाद पर दिये गये विचारों का उल्लेख करें।

....

....

....

....

25.5 जयप्रकाश और आचार्य : कुछ विस्तृत जानकारी

जे.पी. और आचार्य दोनों समाजवाद को एक राष्ट्रवादी दृष्टिकोण देना चाहते थे। वह सहमत नहीं थे कि समाजवादी आन्दोलन का अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन से कोई लेना-देना है। वह मुख्य रूप से सोवियत राज्य एवं स्टालिन के

आतंक के विरोधी थे। वह लेनिन के राज्य शान्ति पर कब्जा करने की विधि से सहमत नहीं थे। नरेन्द्र देव ने अपने एक लेख जिसका शीर्षक था "सोवियत एशिया की एशिया में नीति" में लिखा है कि एक बोल्शेवी के लिए सिर्फ बोल्शेविवाद के राजनीतिक सिद्धांतों का ही महत्व है और सब व्यर्थ है। सोवियत एशिया राष्ट्रवाद का विरोधी था इसने स्वतंत्रता आन्दोलन का समर्थन इसलिए किया था कि साम्राज्यवाद को एक जबरदस्त धक्का पहुंचेगा और बोल्शेविकों को अपने को विकसित करने का एक नया मार्ग मिलेगा। समाजवादी, सामान्य रूप से सोवियत राज्य और इसकी विदेश नीति के कटु आलोचक हैं। उनका मानना है कि सोवियत एशिया का अन्तर्राष्ट्रीयतावाद भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास को प्रभावित करेगा। इसी समय कांग्रेस समाजवादी दल ने विभिन्न वैचारिक समूहों के लिए एक मंच का कार्य किया। सन् 1936 में साम्यवादियों को संगठन के अंतर्गत कार्य करने की आज्ञा दी गयी राज्यवादी एवं पंजाब समाजवादियों को इस संगठन का हिस्सा बना दिया गया। कांग्रेस समाजवादी दल ने वामपंथी लोगों के लिएं एक मंच के रूप में कार्य किया। इसने 1939 तक अच्छी तरह से कार्य किया। दूसरे विश्व युद्ध की घोषणा के बाद यह मंच समाप्त हो गया। साम्यवादी दल से बाहर चले गये। साम्यवादी और समाजवादी एक दूसरे के कटु आलोचक हो गये।

25.6 समाजवादी एवं द्वितीय विश्वयुद्ध

राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य ने उनको द्वितीय विश्वयुद्ध और 1942 आन्दोलन पर सही लाइन लेने का अवसर प्रदान किया। इससे अधिक फासीवाद को एक संकीर्ण राजनीतिक विचार के रूप में निर्धारित करना ऐतिहासिक रूप से सत्य निकला। फासीवाद पर उनका अडिग दृष्टिकोण ने उन्हें भारतीय इतिहास में एक विशिष्ट स्थान प्रदान किया। जिस दिन विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ समाजवादियों ने नरेन्द्र देव के नेतृत्व में एक सभा बुलाई जहां जे.पी. ने कहा, "यह एक साम्राज्यवादी युद्ध है, हम इसका विरोध करेंगे। हम लोग इस युद्ध का अपनी स्वतंत्रता को जीतने के लिए लेने जा रहे हैं।"

25.6.1 गांधी एवं कांग्रेस नेतृत्व पर समाजवादी दबाव

समाजवादियों ने गांधी एवं कांग्रेस नेतृत्व पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ करने के लिए दबाव डाला। समाजवादी प्रस्ताव की स्वीकृति के लिए गांधी जी को मनाने में सफल रहे और भारत छोड़ो आन्दोलन की घोषणा की। समाजवादी सदैव ही कार्यरत रहे। उन्होंने उपनिवेशवादी राज्यों के विरुद्ध एक जन आन्दोलन संगठित किया। जनवरी 1943 में जे.पी. ने एक खुले पत्र में स्वतंत्रता के सभी सेनानियों को आह्वान किया। भारत छोड़ो एवं सरकारी नारों के बीच कोई समझौता नहीं है। अब जनता ने अपने अनुभव से सीखा है कि ब्रिटिश राज द्वारा प्रयोग किये गये पुलिस, मजिस्ट्रेट और विधि न्यायालयों जेल हथियार एक पत्ते के घर की तरह हैं जिस पर एक भी हमला सामूहिक हमला माना जाता रहा। इस पाठ को भूलने की सम्भावना नहीं है और यह अगले अपमान का प्रारम्भिक बिन्दु होगा। जे.पी. के आह्वान ने युवा समाजवादियों के मध्य एक उत्साह की लहर दौड़ा दी और बहुत राष्ट्रवादी इस क्षेत्र में कूद पड़े। समाजवादियों द्वारा गोरिल्ला दल की स्थापना, राज्य सम्पत्ति पर आक्रमण करने तथा ब्रिटिश राज की मशीनरी को अपंग बनाने के लिए किया गया था।

विनाश के लिए तीन व्यवस्थाओं का चुनाव किया गया :

1) संचार लाइनों जैसे दूर संचार, दूर धामि पत्रों बेतार का तार, रेलवे, रोड, पुल और शत्रुओं के वाहनों का नाश।

2) औद्योगिक फैक्ट्रियों, झीलों एवं विमान पत्तनों का विनाश।

3) आग लगाने का कार्य जिसमें सरकारी पत्र, भवन, पेट्रोल पम्प, हथियार युद्ध सामग्री सम्मिलित थी।

सन् 1942 का आन्दोलन ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सबसे हिंसक आन्दोलन था। उग्रवादियों के आक्रमण से राज्य संरचना पूरी तरह से नष्ट हो चुकी थी।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से जांच कर लें।

1) द्वितीय विश्वयुद्ध के समय भारतीय समाजवादियों की गतिविधियों का वर्णन करें।

....

....

....

....

25.7 स्वतंत्रता के बाद के काल में समाजवादी

समाजवादियों ने 1946 के चुनाव में भाग न लेकर बहुत बड़ी भूल की थी क्योंकि यह संवैधानिक सभा के निर्माण का आधार था। बाद में जे.पी. को इस विषय पर बहुत पश्चाताप हुआ। उन्होंने स्वीकार किया कि यह बहुत बड़ी भूल थी। स्वतंत्रता के बाद कांग्रेस हाई कमान ने आदेश दिया कि उनके संगठन में दूसरे सैद्धांतिक समूहों का कोई स्थान नहीं है। इसलिए समाजवादियों ने 1950 में कांग्रेस को छोड़ने का निश्चय किया तथा साथ ही इसका विरोध किया। उन्होंने मजबूत विरोधी दल बनकर लोकतांत्रिक व्यवस्था को दृढ़ बनाने का निश्चय किया। समाजवादी दल ने 1952 का आम चुनाव लड़ा लेकिन बुरी तरीके से हार गयी। सन् 1952 भारतीय समाजवादी राजनीति के इतिहास में ऐतिहासिक क्षण बन गया। जे.पी. एवं आचार्य नरेन्द्र देव दोनों चुनावी राजनीति से निराश हो चुके थे। नरेन्द्र देव अपनी मृत्यु तक प्रजा समाजवादी दल के नेता रहे जबकि जे.पी., विनोबा भावे के नेतृत्व में भूदान आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। जे.पी. भूदान आन्दोलन में विनोबा भावे के बहुत निकट रहे। जे.पी. ने भूदान आन्दोलन की सफलता के लिए अहम् भूमिका निभायी।

25.7.1 स्वतंत्रता के बाद जे:पी.

आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी ने जे.पी. को भारतीय राजनीति की पुनर्स्थापना पर लेख लिखने में बहुत संहायता प्रदान की। उन्होंने दल पर आधारित वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को एक विकल्प दिया। उन्होंने दल विहीन प्रजातंत्र के सिद्धांत को रखा। उनकी योजना में ग्राम पंचायत की अहम् भूमिका थी जिससे निर्णय निर्धारण की प्रक्रिया में सत्ता की भागीदारी हो। राजनीतिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण लोक शक्ति प्राप्त करने में सत्ता को सहायता प्रदान करती है। सर्वोदय का दलीय कार्यक्रम दलीय लगाव से ऊपर है। हम लोग न तो किसी दल के पक्ष में हैं न विपक्ष में। हम बिना दलों की राजनीति चाहते हैं सर्वोदय का आदर्श समाजवाद एवं साम्यवाद के निकट है यद्यपि हम आम जनता की शान्ति एवं स्वतंत्रता पर जोर देते हैं हम आर्थिक एवं राजनैतिक शक्तियों के विकेन्द्रीकरण पर जोर देते हैं ताकि, यह जनता के सामूहिक संगठनों में निवास कर सके।"

जे.पी. हृदय परिवर्तन पर जोर देते थे जो सच्चे अर्थों में अहिंसक सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करेगा। सन् 1974 में बिहार एवं गुजरात के विद्यार्थी आन्दोलन ने उन्हें आन्दोलन की बागडोर संभालने का अवसर प्रदान किया।

25.7.2 जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा

उन्होंने "सम्पूर्ण क्रांति" के सिद्धांत को विकसित किया। अपनी जेल डायरी में उन्होंने स्पष्ट किया कि सम्पूर्ण क्रांति सात क्रांतियों का मिश्रण है सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, सैद्धांतिक या वैचारिक, शैक्षिक एवं आध्यात्मिक। जे.पी. की सम्पूर्ण क्रांति सर्वोदय समाज एवं दल विहीन प्रजातंत्र सिद्धांत का एक विस्तार है। यहां पर उन्होंने सांस्कृतिक एवं नैतिक आयामों पर जोर दिया। विकेन्द्रीकृत राजनीति एवं अर्थव्यवस्था जनता को निर्णय निर्धारण प्रक्रिया में भागीदारी बनाएगी। स्वायत्त सरकार सर्वश्रेष्ठ सरकार है जहां जनता अपना शासन स्वयं संभालती है।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से जांच कर लें।

1) प्रश्न जे.पी. के सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा का विवरण दें।

....

....

....

....

....

25.8 सारांश

आचार्य नरेन्द्र देव एवं जे.पी. ने भारतीय समाजवादी चिंतन को पूर्ण रूप से योगदान दिया। यद्यपि जे.पी. ने अपने विचार को समाजवाद से सर्वोदय में परिवर्तित कर लिया तथा बाद में इसको सम्पूर्ण क्रांति में विस्तृत किया। लेकिन वह अपनी मृत्यु तक मार्क्सवादी रहे और मार्क्सवाद को काल्पनिक तरीके से भारतीय प्रसंग में लागू करने का प्रयास किया।

25.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 25.2 एवं उपभाग 25.2.1 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 25.2 एवं उपभाग 25.2.2 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 25.4 देखें।

बोध प्रश्न 4

1) भाग 25.6 देखें।

बोध प्रश्न 5

1) भाग 25.7.2 देखें।

25.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बारिक, आर. के. 1977, *पॉलिटिक्स आफ द जे. पी. मूवमेंट,* रेडियन्ट पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

पैन्थम थामस एण्ड ड्यूच के.एल., *मॉडर्न इण्डियन पॉलिटिकल थाट,* सेज पब्लिकेशन्स।

इकाई 26 राममनोहर लोहिया

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य
26.1 व्यक्ति और चिंतक : एक परिचय
26.1.1 लोहिया का जीवन
26.1.2 लोहिया—एक चिन्तक
26.2 बौद्धिक संदर्भ
26.3 वर्तमान व्यवस्था का विश्लेषण
26.3.1 लोहिया का इतिहास का सिद्धान्त
26.3.2 पूंजीवाद और साम्यवाद
26.4 भविष्य के लक्ष्य
26.5 परिवर्तन लाने के लिए व्यूह-रचना
26.6 एक समीक्षात्मक-मूल्यांकन
26.7 सारांश
26.8 मूल शब्द
26.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
26.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

कृपया ध्यान रखिए कि इस इकाई में हरेक भाग के अन्त में दो प्रकार के अभ्यास दिए गए है। बोध प्रश्न आपसे प्रश्न करते हैं जिनका आप सम्बन्धित भाग के आधार पर उत्तर दे सकते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर इकाई के अंत में दिए गए हैं। "अपने आप कीजिए" भाग कुछ प्रश्नों या कार्यों के सुझाव देते है, जो उस भाग से सम्बन्धित होंगे और जिन्हें आप विस्तृत अध्ययन के लिए अपने आप पूरा कर सकते हैं। ध्यान रखिए कि इस इकाई में कुछ प्रश्न मोटे टाइप में दिए गए हैं। आप आगे बढ़ने से पहले इन प्रश्नों पर ठहर-कर-उनका उत्तर सोचिए और फिर अपना अध्ययन आगे जारी कीजिए।

26.0 उद्देश्य

इस इकाई में एक और समाजवादी चिन्तक—राममनोहर लोहिया के बारे में चर्चा की गई है। इसका मुख्य उद्देश्य आपको उनके विचारों से परिचित कराना है। अतः इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको इस स्थिति में होना चाहिए कि आप :

- इतिहास के अनेक सिद्धान्त की रूपरेखा बता सकें,
- पूंजीवाद और साम्यवाद सम्बन्धी उनके विश्लेषण पर चर्चा कर सकें,
- भविष्य के लिए उनके लक्ष्यों और आदर्शों की जानकारी दे सकें, और
- बता सकें कि वे परिवर्तन कैसे लाना चाहते थे।

इसके अलावा आपको :

- उनके विचार के सभी पहलुओं में सामंजस्य स्थापित करने,
- भारतीय समाजवादी चिन्तन में उनके योगदान को परिभाषित करने, तथा
- उनके विचारों की समीक्षा कर सकने की स्थिति में भी होना चाहिए।

26.1 व्यक्ति और चिन्तक : एक परिचय

राममनोहर लोहिया एक प्रमुख नेता और सम्भवतः भारत में समाजवादी आन्दोलन के सबसे अधिक मौलिक चिन्तक थे। लेकिन इस पाठ्यक्रम में आप जिन अन्य अधिकांश चिन्तकों के बारे में पढ़ चुके हैं, उनकी तुलना में वे कम प्रसिद्ध

थे। हो सकता है कि आप में से अनेक पहली बार ही उनका नाम सुन रहे हों। तब आइए, हम उनके जीवन और कार्य के बारे में उनके संक्षिप्त परिचय से अपना अध्ययन आरम्भ करें।

26.1.1 लोहिया का जीवन

राममनोहर लोहिया का जन्म उत्तर प्रदेश के अकबरपुर में 1910 में एक मध्यवर्गीय व्यापारी परिवार में हुआ था। अपने पिता के प्रभाव के कारण राममनोहर अल्प आयु में ही राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ गए। अभी वे 15 वर्ष के ही थे कि उन्हें उच्चतर अध्ययन के लिए जर्मनी भेज दिया गया। वहां उन्होंने बर्लिन विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में पी.एच.डी. उपाधि प्राप्त की। यहां ही जर्मन समाजवादी प्रज्ञावानों और राजनीतिक कार्यकर्ताओं से उनका सम्पर्क हुआ था। डा. लोहिया 1933 में भारत लौटे और कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन से पूरी तरह जुड़ गए। कांग्रेस में वे समाजवादी समूह जिसकी चर्चा नरेन्द्रदेव से सम्बन्धित पूर्व इकाई में की जा चुकी है, के सदस्य थे। **क्या आपको उस पार्टी का नाम याद है?** वह थी कांग्रेस समाजवादी पार्टी। नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्द्धन, अशोक मेहता और मीनू मसानी जैसे अन्य नेताओं तथा लोहिया ने 1934 में इस पार्टी का गठन किया था। इस पार्टी ने कर्मचारियों और किसानों को संगठित कर राष्ट्रीय आन्दोलन में आमूल चूल परिवर्तन करने का प्रयास किया था। लोहिया ने स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लिया, भारत छोड़ो आन्दोलन के भूमिगत अभियान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा कई बार जेल गए।

स्वाधीनता के बाद कांग्रेस समाजवादी पार्टी कांग्रेस से अलग हो गई। अब समाजवादी पार्टी (1952 के बाद प्रजा समाजवादी पार्टी) स्वातंत्रोत्तर भारत की प्रमुख विरोधी पार्टी बन गई। इसी चरण में लोहिया इस पार्टी के प्रथम श्रेणी के नेता बने तथा लोहिया और उनके अनुयायी 1955 में प्रजा समाजवादी पार्टी से अलग हो गए और पुनः समाजवादी पार्टी का गठन किया। 1964 के बाद यह पार्टी संयुक्त समाजवादी पार्टी हो गई। लोहिया के नेतृत्व में उनकी पार्टी ने सरकार की विभिन्न नीतियों के विरुद्ध कई विरोध प्रदर्शन तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन आयोजित किए। फिर भी चुनावों में पार्टी को बहुत ही कम सफलता मिली। स्वयं लोहिया भी 1963 में ही लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हो सके। 1967 के आम चुनावों से पूर्व उन्होंने सभी विरोधी पार्टियों को कांग्रेस के विरुद्ध संगठित करने की कोशिश की थी। यह नई व्यूह रचना कुछ सफल रही, लेकिन लोहिया इस अभियान को सशक्त बनाने तक जीवित नहीं रहे। 1967 में उनका देहांत हो गया।

26.1.2 लोहिया—एक चिन्तक

लोहिया अनेक विचारों वाले व्यक्ति थे। यद्यपि उन्होंने काफी लेखन कार्य किया, तथापि कभी भी कोई पूरी पुस्तक नहीं लिखी। वह कोई पूरी पुस्तक क्यों नहीं लिख सके, इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने एक बार बताया था कि उनका यह विश्वास है कि आप एक ही दृष्टिकोण या पहलू से सत्य के दर्शन कर सकते हैं। सम्पूर्णता का दावा, जोकि सामान्यता एक पुस्तक करती है, सत्य को निश्चय ही विभृत करता है। इसलिए उनका रचना कार्य लेखों या लेखों की कुछ शृंखलाओं तक ही सीमित रहा। इनमें से अधिकांश लेख उन भाषणों के ही परिशोधित रूप है, जो उन्होंने विभिन्न स्थानों पर दिए थे। बाद में इन लेखों को संकलित कर पुस्तकों का रूप दे दिया गया। लोहिया के लेखों के इन संकलनों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं : 'मार्क्स, गांधी और समाजवाद' (1963)। उनकी ऐसी ही कुछ अन्य पुस्तकें हैं— **इतिहास का चक्र** (1955), **जाति प्रणाली** (1963), और **राजनीति में अन्तराल** (1965)। इन पुस्तकों और अन्य लेखों से पता चलता है कि लोहिया व्यापक विषयों के एक असमान्य चिन्तक थे। राजनीति के अतिरिक्त संस्कृति, अर्थ व्यवस्था, धर्म एवं विज्ञान और प्रौद्योगिकी से सम्बन्धित प्रश्नों में भी उनकी गहरी रुचि थी। उनकी रुचि मात्र वर्तमान में ही नहीं, वरन् सुदूर अतीत और भविष्य में भी थी। भौगोलिक रूप से उनका चिन्तन केवल भारत तक ही सीमित नहीं था, बल्कि, इसकी सीमाओं से परे तक फैला हुआ था। विश्व भर की घटनाओं पर उनका ध्यान रहता था। वे एक ओर जहां अत्यन्त [illegible] और [illegible] प्रश्नों में रुचि लेते थे, वहां दूसरी ओर बड़े और अत्यन्त अस्पष्ट प्रश्नों पर भी ध्यान देते थे।

लोहिया का राजनीतिक चिन्तन व्यापक विषयों से जुड़े प्रश्नों के उत्तर का एक महत्वकांक्षी प्रयास था यह प्रयास इस कारण महत्वकांक्षी था कि उन्होंने कभी भी निश्चित और स्थापित विचारधाराओं को समग्र रूप से स्वीकार नहीं किया था। उदाहरणार्थ, वे मार्क्सवाद और गांधीवाद दोनों से प्रभावित थे, फिर भी वे दोनों के आलोचक थे। किसी भी निष्कर्ष पर पहुंचने का उनका प्रिय मार्ग यह था कि वे किसी भी स्थापित विचारधारा या चिन्तन में वैचारिक विरोध या द्विधात्मकता खोजते थे और फिर उसे उच्चतर स्तर पर हल करते थे। इस प्रकार वे कई परस्पर विरोधी विचारों और प्रभावों में सामंजस्य या एकीकरण लाने का प्रयास करते थे। फिर भी उनका चिन्तन किसी भी विचार का एक ऐसा सामंजस्यपूर्ण रूप ग्रहण नहीं कर पाता है, जिसमें उनके सभी विचार स्पष्ट रूप से एक दूसरे सम्बन्धित हों। अगर इस तथ्य को एक चित्र का उदाहरण दे कर स्पष्ट किया जाए, तो लोहिया का चिन्तन एक बड़े किन्तु अनगढ़ स्केच जैसा है, न कि एक छोटा और सम्पूर्ण चित्र। चूंकि वे अपने विचार के विवरणों में नहीं जाते थे, इसलिए उनकी चिन्तन प्रणाली में कई कमियां थीं और वह मात्र अनुमानों पर आधारित थी।

आप पूछ सकते हैं : अगर लोहिया के विचार एक अनगढ़ स्केच जैसे हैं, तो हमें उनका अध्ययन क्यों करना चाहिए। इसका उत्तर है : क्योंकि वह कई अर्थों में अत्यन्त मौलिक हैं। इससे एक और प्रश्न सामने आता है। **मौलिकता का अर्थ क्या है? क्या इसका अर्थ यह है कि एक मौलिक चिन्तक जो कुछ कहता है यह पहले कभी नहीं कहा गया है?**

निश्चय ही नहीं। अगर यही बात होती तो कोई मौलिक चिन्तक ही न होता। जब हम विचारों के इतिहास में मौलिकता की बात करते हैं तब हम उस क्षमता की बात करते हैं जिसके सहारे कोई व्यक्ति पुराने विचारों को नए ढंग से एक दूसरे से जोड़ता या प्रस्तुत करता है। गांधी के सत्याग्रह की तकनीक को उदाहरण के तौर पर लीजिए। अहिंसा, सत्य और अन्याय के विरुद्ध प्रतिरोध के विचारों से लोग गांधी से पहले ही परिचित थे। लेकिन गांधी ने इन विचारों को पहली बार एक सूत्र में पिरोया और राजनीति के नए क्षेत्र में उनका उपयोग किया। यहीं उनकी मौलिकता थी। इसी अर्थ में हम लोहिया की मौलिकता की बात करते हैं। उन्होंने पुराने समाजवादी विचारों के बीच पूर्वधारणाओं पर प्रश्न चिन्ह लगाया और उन्हें पुनः व्यवस्थित कर अपने ढंग से एक नया रूप दिया। वे कौन से समाजवादी विचार थे जो लोहिया को प्राप्त हुए थे? इन विचारों की कौन सी पूर्व धारणाएं थीं जिन पर उन्हें संशय था? उन्होंने उन्हें किस प्रकार फिर से तरतीब दी थी और उनके स्थान पर नए विचार रखे थे? क्या इस प्रयास में वे सफल रहे थे? हो सकता है कि ये तमाम सवाल आप के मन में उठें। आगे हम एक-एक कर इन प्रश्नों पर विचार करेंगे।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान में अपना उत्तर लिखिए।
ii) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) उन राजनीतिक पार्टियों के नाम क्रमशः बताइए जिनके लोहिया सदस्य रहे थे?

....

....

....

2) लोहिया के चिन्तन के दो विशिष्ट गुणों की चर्चा कीजिए।

....

....

....

अपने आप हल कीजिए

1) राजनीतिक नेता और एक राजनीतिक चिन्तक के रूप में लोहिया की सफलताओं की तुलना कीजिए। इनमें से उनका कौन सा रूप अधिक प्रभावशाली है? सम्पूर्ण इकाई पूरी करने के बाद आप इस प्रश्न पर लौट सकते हैं।

26.2 बौद्धिक संदर्भ

आइए, इस प्रश्न के साथ हम अपनी बात आरम्भ करें, **लोहिया का बौद्धिक सन्दर्भ क्या था?**

आपके लिए इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं होना चाहिए। सम्भवतः आपमें से अनेक को इस पाठ्यक्रम के स्वरूप से ही कुछ संकेत मिल जाएं। लोहिया सम्बन्धी यह इकाई "भारतीय समाजवादी-विचार" नाम खंड का ही एक भाग है। यही लोहिया का सीधा-सादा बौद्धिक संदर्भ है। अगर इस प्रश्न का आपका उत्तर यह है कि आधुनिक राजनीतिक विचार ही लोहिया का बौद्धिक संदर्भ है, तब भी आपका उत्तर गलत नहीं होगा। यह वृहत्तर बौद्धिक पृष्ठभूमि ही है जिसमें लोहिया के विचार स्थित हैं। अन्य किसी चिन्तक की तरह इस संदर्भ में लोहिया के भी अपने कुछ केन्द्रीय विषय और प्रश्न थे। उनके विचार इन प्रश्नों और विषयों के ही उत्तर थे। हमें इस सन्दर्भ के इन विषयों के विवरण में यहां जाने की आवश्यकता नहीं है। इतनी अब आपको जानकारी हो ही गई है। हम आपको इनके पहलुओं में से केवल एक ही यहां याद दिलाना चाहेंगे जो लोहिया को समझने के लिए आवश्यक हैं।

आधुनिक भारतीय विचारों का विकास काफी हद तह योरोप के साथ भारत के सम्पर्क का परिणाम था। अतः आधुनिक भारत मे राजनीतिक चिन्तकों का एक प्रमुख कार्य पश्चिम को समझना और उसका मूल्यांकन करना रहा है। जहां सभी राष्ट्रीय चिन्तक औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध थे, वहां इनमें से अधिकांश पश्चिम को एक ऐसा आदर्श मानते थे जिसको पाने के लिए भारत को आगे बढ़ना चाहिए। परिणामस्वरूप एक ऐसा तनाव पैदा हुआ जिसने आधुनिक भारत में पश्चिम विषय को विवाद का एक मुख्य विषय बना दिया। भारतीय समाजवाद का अपने से पूर्व की बौद्धिक परम्पराओं से यह विवाद उत्तराधिकार में मिला था। कम से कम दो अर्थों में समाजवाद मूलतः योरोपीय सिद्धान्त था। योरोप ही इसका उक्त था और यह मुख्यतया : योरोप के लिए ही था। बाद में यह भारत सहित अनेक गैर योरोपीय समाजों में फैल गया। सभी भारतीय समाजवादी चिन्तकों को अपने सिद्धांतों में इस योरोपीय तत्व को महत्व देना पड़ा। इस प्रकार भारतीय राजनीतिक चिन्तन में पश्चिम का प्रश्न भारतीय समाजवादी विचारों में भी महत्वपूर्ण रहा। मूल पश्चिमी सिद्धान्त को चाहे वह साम्यवादी हो या लोकतंत्रीय समाजवादी, उसे उसके स्थापित एकरूप में ही भारतीय समाजवादियों ने समग्र

रूप से स्वीकार कर लिया। परिणामस्वरूप उनमें से अधिकांश योरोपीय सभ्यता की श्रेष्ठता से प्रभावित थे और उन्होंने इस समाजवादी सिद्धान्त को बिना किसी संशय के स्वीकार कर लिया था। पहली तीन इकाइयों ने निश्चय ही आपको इन विषयों की जानकारी दे दी होगी।

भारतीय समाजवादी चिन्तन में लोहिया के योगदान को इसी संदर्भ में समझा जा सकता है। वह भारत के पहले ऐसे चिन्तक थे जिसने पश्चिम पर समाजवादी सिद्धान्त की निर्भरता को चुनौती दी थी। उनके चिन्तन की सम्पूर्ण प्रणाली सही अर्थों में एक सार्वजनीन समाजवादी सिद्धान्त के निर्माण का प्रयास था जिसकी परिधि में गैर योरोपीय विश्व भी समाहित था। इस सम्बन्ध में लोहिया के मूल तर्क को इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है : समाजवाद एक मुक्तिदायी और क्रान्तिकारी विचारधारा है। बहरहाल, विविध ऐतिहासिक कारणों से यह विचारधारा अभी तक योरोप तक ही सीमित रही है। रूढ़िवादी मार्क्सवाद या साम्यवाद इस निर्भरता को व्यक्त करता है। वे समानवादी भी जो साम्यवाद को स्वीकार नहीं करते साम्यवाद और पूंजीवाद के कुछ स्वरूपों को एक दूसरे से मिला देते हैं। ये दोनों विचार भी योरोप की ही देन हैं। यही कारण है कि समाजवाद गैर योरोपीय परिवेश में अपनी क्रान्तिकारी भूमिका अदा करने में असफल रहा है। इस रूप में यह योरोपीय श्रेष्ठता स्थापित करने का एक माध्यम बना रहा। इस स्थिति से बाहर निकलने का समाजवाद की नई विचारधारा या सिद्धान्त ही एक रास्ता था। अतः हमारा काम इस नए सिद्धान्त की सैद्धान्तिक आधारशिला तलाश करना है। इसके लिए आवश्यक है कि नए सिरे से ऐतिहासिक विश्लेषण किया जाए, नए लक्ष्य निर्धारित किए जाएं और गैर पश्चिमी अनुभव को सामने रखकर अधिक उपयुक्त व्यूह रचना तय की जाय। यही वह काम है जिसे लोहिया ने अपने लिए तय किया और जिसे जीवन भर पूरा करने का प्रयास किया।

आइए, इस तिहरे काम पर गहराई से विचार करें। प्रत्येक राजनीतिक अभिनेता और चिन्तक को निम्नलिखित तीन प्रश्नों का सामना करना होता है :

1) वर्तमान स्थिति क्या है? इसमें यह आवश्यक है कि वर्तमान और अगर आवश्यक हो, तो अतीत और भावी प्रवृत्तियों का वास्तविक विश्लेषण भी किया जाए।
2) आपेक्षित व्यवस्था कैसी होनी चाहिए? इसके लिए आवश्यक है कि भविष्य के लिए लक्ष्य निर्धारित किए जाएं।
3) हम वर्तमान से आपेक्षित लक्ष्य की ओर कैसे जाएं? इसका उत्तर पहले दो प्रश्नों के उत्तरों पर निर्भर करता है तथा यह आवश्यक है कि आपेक्षित परिवर्तन लाने के लिए निर्धारित तरीके या व्यूह रचना पर विचार किया जाए। ये तीनों काम एक दूसरे से अलग नहीं है। कोई भी विश्लेषण तथ्यगत नहीं होता। वह हमेशा अच्छे या बुरे के विचार से प्रभावित होता है। लक्ष्य मात्र आदर्श नहीं होते। वे वर्तमान स्थिति की सम्भावनाओं से जुड़े होते हैं। इनको पाने का तरीका स्पष्ट ही इस बात पर निर्भर करता है कि हम कहां हैं, क्या हैं और हमारे स्थापित लक्ष्य किस प्रकार के हैं। उपरिलिखित विभाजन मात्र विचारों के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से किया गया है। आगामी तीन भागों में हम ऊपर दिए गए तीनों प्रश्नों की प्रति लोहिया की प्रतिक्रिया पर एक-एक कर के विचार करेंगे। आपको याद होगा कि इन सभी के बारे में लोहिया का प्रमुख कार्य योरोप केन्द्रित पूर्व धारणाओं को अर्थात् योरोप के आधारभूत विचारों को वर्तमान समाजवादी सिद्धान्त से पृथक कर उसके स्थान पर एक वैकल्पिक सिद्धान्त का निर्माण करना था।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए निम्न रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।
ii) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों को मिलाइए।

1) आधुनिक भारत के अन्य समाजवादी चिन्तकों में लोहिया की क्या विशिष्टताएं हैं? केवल प्रमुख बातें ही लिखिए।

....

....

....

2) रिक्त स्थानों को भरिए :

प्राप्त समाजवादी सिद्धान्त के बारे में लोहिया की मुख्य आलोचना यह थी कि वह .... निर्भर करता है। इसलिए उनका काम था कि सही मान में .... समाजवादी सिद्धान्त स्थापित किया जाए जो .... अनुभव को ध्यान में रख कर बनाया गया हो। इसके लिए आवश्यक था कि वर्तमान के लिए नया .... तथा वर्तमान से आपेक्षित भविष्य की ओर जाने के लिए .... तय किया जाए।

अपने आप हल कीजिए

1) अन्य चिन्तकों, विशेषकर अन्य समाजवादी चिन्तकों की, जिनके बारे में आपने इस पाठ्यक्रम में अध्ययन किया है, पश्चिम के प्रति क्या प्रतिक्रिया थी? क्या आप भारतीय राजनीतिक चिन्तन में पश्चिम के प्रति प्रतिक्रिया पर एक नोट लिख सकते हैं?

2) ऊपर लिखित राजनीतिक सिद्धान्त के तिहरे वर्गीकरण को क्या व्यापक तौर पर प्रयुक्त किया जा सकता है? हर उस

राजनीतिक चिन्तक के बारे में जिनका आपने अध्ययन किया है, इसका उपयोग करने का प्रयास कीजिए। शेष इकाई को बेहतर रूप मे समझने की दृष्टि से आप इन प्रश्नों के अपने उत्तर भी सोचिए।

26.3 वर्तमान व्यवस्था का विश्लेषण

किसी समाज को समझना नक्शा खींचने जैसा है। एक अच्छे नक्शे में सभी विवरणं नहीं होते या होने चाहिए। दूसरी. प्रकार समाज के विश्लेषण का अर्थ यह नहीं है कि उसकी असंख्य घटनाओं या उनके विवरणों का वर्णन करने का प्रयास किया जाए। नक्शे की तरह समाज के अच्छे विश्लेषण के लिए यह आवश्यक है कि कुछ महत्वपूर्ण तथ्य चुने जाएं और उनका परस्पर सम्बन्ध दिखाया जाए। यह काम कई तरीकों से किया जा सकता है। इनमें से एक है ऐतिहासिक विश्लेषण का तरीका। इस तरीके से हम महत्वपूर्ण तथ्यों और उनके परस्पर आन्तरिक सम्बन्धों को पहचान करते हैं। यह काम एक निश्चित समय तक समाज का निरीक्षण कर तथा वर्तमान को अतीत के साथ जोड़ कर ही किया जा सकता है। क्योंकि लोहिया का विश्लेषण इसी तरीके पर आधारित था। इसलिए आइए उसका गहराई से अध्ययन करें।

हम सभी मानते है कि ऐतिहासिक घटनाओं के कुछ कारण अवश्य होते हैं। लेकिन अगर आप से कोई यह पूछे समग्र रूप से इतिहास की प्रेरक शक्ति क्या है? तो हो सकता है कि यह आपको एक अनोखा प्रश्न लगे। इस प्रकार की जांच, जो ऐसा प्रश्न खड़ी करती है और उसका उत्तर देने का प्रयास करती है को इतिहास या दर्शन कहा जाता है। जो ऐतिहासिक तरीके को स्वीकार करते हैं उनके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे इतिहास के दर्शन को भी स्वीकार करें। इस प्रकार की जांच की प्रणाली ही गेल और मार्क्स जैसे 19वीं शताब्दी के योरोपीय चिन्तकों तथा टोयन्बी और स्पेंगलर जैसे 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध के कुछ इतिहास वेत्ताओं के बीच लोकप्रिय थी। इतिहास के दर्शन की मूलभूत धारणा यह है कि किसी भी अस्त-व्यस्त स्थिति के पीछे इतिहास की कुछ ऐसी घटनाएं होती हैं, जिनसे पता चलता है कुछ बुनियादी व्यवस्थित सिद्धांत भी काम कर रहे हैं जिनको खोजना चाहिए। उदाहरणार्थ—इतिहास के मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार मानवता का इतिहास व्यक्ति की उर्वर क्षमता और उसी के अनुसार ऐसे परिवर्तन लाने की सामर्थ्य जिसमें मनुष्य अपने सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करता है, की निरन्तर प्रगति का इतिहास है। उन्होंने इतिहास के मूलभूत सामाजिक परिवर्तनों के इस क्रम को भी खोजा था—प्रागैतिहासिक साम्यवाद, गुलामी जमींदारी, पूंजीवाद। उनका सिद्धान्त इतिहास की प्रगति में आगामी कदम के रूप में समाजवाद की भी चर्चा करता है।

26.3.1 लोहिया का इतिहास का सिद्धान्त

लोहिया मार्क्स के इतिहास के सिद्धान्त के आलोचक थे। उन्होंने इतिहास के अपने सिद्धान्त में इसकी आलोचना अपनी पुस्तक 'इतिहास का चक्र' (हील ऑफ हिस्ट्री) में की है। मार्क्स के सिद्धान्त के विरुद्ध उनका प्रमुख तर्क यह था कि मार्क्स का सिद्धान्त योरोपीय इतिहास को ही मानवता का इतिहास मानता है। इसके स्थान पर उन्होंने इतिहास के दर्शन का अपना ही वैकल्पिक सिद्धान्त विकसित किया। इस सिद्धान्त के अनुसार दो प्रमुख सिद्धान्त इतिहास की गति का संचालन करते हैं। पहले सिद्धान्त का सम्बन्ध शक्ति और समृद्धि में एक दूसरे की तुलना में श्रेष्ठता पाने के लिए विभिन्न समाजों के बीच सम्पर्क से है। तथापि लोहिया के अनुसार इस क्षेत्र में इतिहास चक्र के रूप में घूमता है; अर्थात् कोई भी समाज सदा एक ही बिंदु पर नहीं रह सकता। समूचे इतिहास में आप पाएंगे कि शक्ति और समृद्धि पर केन्द्र विश्व के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदलता रहा है। दूसरा सिद्धान्त किसी भी समाज के आन्तरिक सामाजिक गठन पर प्रकाश डालता है। प्रत्येक समाज में दो प्रकार के सामाजिक विभाजन बराबर बदलते रहते हैं—एक प्रकार सामाजिक गतिशीलता की इज़ाजत देता है, जबकि दूसरा नहीं देता। लोगों को उच्चतर या निम्नतर स्थिति में ले जाने वाला प्रकार है, "वर्ग"। दूसरा है "जाति" जो व्यक्ति को उसी अवस्था में रखता है, जिसमें वह पैदा होता है। इसलिए हर समाज वर्ग और जाति के बीच घूमता रहता है। आपने देखा होगा कि लोहिया के लिए इन दोनों शब्दों का अर्थ उन अर्थों से भिन्न था जिनमें इनका इस्तेमाल होता रहा है। इतिहास के लोहिया के सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु यह है कि ऊपर दिए गए दोनों सिद्धान्त एक दूसरे से जुड़े हुए हैं: बाह्य और आन्तरिक परिवर्तन एक साथ होते हैं। जो समाज विश्व के केन्द्र में है, उसमें वर्गगत विभाजन अवश्य आता है और जो समाज बाह्य संघर्ष में हार जाता है उसमें जाति प्रणाली पनपने लगती है। **क्या आप बता सकते हैं कि इन दोनों सिद्धान्तों को एक दूसरे से क्या जोड़ सकता है?** यह मात्र एक संयोग ही नहीं है। लोहिया के अनुसार इन दोनों को जोड़ने का सूत्र है। हर समाज द्वारा टैक्नोलोजीकल क्षमता की खोज। जब एक समाज अपनी क्षमता का उत्तरोतर बढ़ता स्तर प्राप्त करने में सफल हो जाता है, तो इस सफलता के आन्तरिक और बाह्य दोनों परिणाम होते हैं—बाह्य रूप में अन्य समाजों के बीच उसे समाज की शक्ति बंटती है, और आन्तरिक रूप में वह समाज अपनी गतिशीलता के सामाजिक संघर्ष को अपना लेता है। लेकिन यह विकास एक या दो आयामों में ही हो सकता है और वह भी अन्य सभी आयामों को हानि पहुंचा कर। परिणामस्वरूप कुछ समय बाद यह प्रक्रिया अपने अन्तिम पड़ाव पर पहुंच जाती है, जहां से फिर समाज का पतन आरम्भ हो जाता है। आन्तरिक तौर पर इस प्रक्रिया को कठोर जातिगत विभाजन को स्वीकार करना पड़ता है, क्योंकि समाज में वितरण के लिए पर्याप्त वस्तुएं नहीं होती। इस प्रकार अन्य समाजों की तुलना में यह समाज शक्ति का केन्द्र नहीं रह जाता। यह केन्द्र बदल कर किसी अन्य राष्ट्र में पहुंच जाता है। इतिहास का चक्र इसी प्रकार घूमता रहता है।

क्या इतिहास का चक्र इसी प्रकार अन्तहीन घूमता रहेगा? सौभाग्य से नहीं, लोहिया का कहना है। एक तीसरा भी सिद्धान्त है जो इतिहास की गति को प्रभावित करता है। पहले दो सिद्धान्तों से अलग यह सिद्धान्त मानव एकता या लोहिया के शब्दों में "मानवता की निकटता" के लिए काम करता है। आप पूरे इतिहास में पाएंगे कि कई शक्तियों ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, जैसे उत्पादन की टैक्नोलोजी, भाषा, विचार, धर्म आदि ने मानवता को परस्पर निकट लाने का काम किया है। यह सिद्धान्त विभिन्न राष्ट्रों और एक राष्ट्र के भीतर दोनों क्षेत्रों में काम करता है। अभी तक मानवता की यह निकटता बाह्य शक्तियों, मानव की स्वतंत्र इच्छा शक्ति के परिणामस्वरूप हुई है। लेकिन लोहिया के अनुसार आज हम "मानवजाति की सजग निकटता" के चरण में पहुंच गए हैं, जहां मानवता सजग प्रयासों के सहने एक हो सकती है। और यह मानवीय प्रगति का अगला चरण होना चाहिए। ऐसा चरण ही इतिहास के चक्र की गति को रोकने के लिए हमें समर्थ बना सकता है।

26.3.2 पूंजीवाद और साम्यवाद

लोहिया के इतिहास के सिद्धान्तों में नियम सामान्य सम्मिलित हैं। लेकिन प्रश्न यह हैं कि इन्हें समसामयिक स्थिति में कैसे लागू किया जाए? इसका उत्तर लोहिया ने आधुनिक सभ्यता के दो रूपों—पूंजीवाद और साम्यवाद के अपने विश्लेषण में दिया है। गत तीन से लेकर चार सौ वर्षों तक योरोप (अमरीका सहित) विश्व भर का केन्द्र रहा है। आधुनिक योरोपीय सभ्यता के विशिष्ठ स्वरूप हैं : उत्पादन के क्षेत्र में क्रांतिकारी टैक्नोलोजी का निरन्तर प्रयोग, रहन सहन का स्तर ऊंचा करने का प्रयास और अधिक से अधिक सामाजिक समानता पाने का "प्रयास"। "मार्क्सोत्तर अर्थव्यवस्था" नामक अपने लेख में लोहिया ने पूंजीवाद के उत्सर्ग की मार्क्सवादी सिद्धान्त की आलोचना करते हुए इस प्रणाली के ऐतिहासिक मूल को समझने का प्रयत्न किया है। मार्क्सवादी/सिद्धान्त की आलोचना में उनका मुख्य तर्क यह है कि यह सिद्धान्त पूंजीवाद के विकास का वर्णन केवल योरोपीय समाजों के विकास के संदर्भ में करता है। लोहिया का तर्क है कि वस्तुतः अपने आरम्भ से ही पूंजीवाद बाहरी साधनों पर निर्भर रहा है। यह बाहरी साधन उसे उपनिवेशों से प्राप्त हुए हैं। मार्क्स का यह कहना सही है कि पूंजीवाद का आधार पूंजीपत्तियों द्वारा कर्मचारियों का शोषण रहा है। लेकिन उसने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया कि ये दोनों ही उपनिवेशों के अधिक शोषण के साझेदार रहे हैं। इस रूप में पूंजीवाद और उपनिवेशवाद, दोनों का जन्म एक साथ हुआ था। "पूंजीवाद और उपनिवेशवाद का जुड़वा जन्म" लोहिया के सिद्धान्त का मुख्य विषय है।

इस मान्यता से लोहिया इस निष्कर्ष पर पहुचे थे कि गैर योरोपीय समाज पूंजीवाद का विकास नहीं कर सकते। **क्या आप जानते है कि इसका कारण क्या है?** इसका कारण बहुत सरल और साधारण है। अगर पूंजीवाद उपनिवेशवाद की मदद से ही पनप सकता है, और अगर भारत जैसे देश अब अपने लिए उपनिवेश नहीं पैदा कर सकते, तो इसका अर्थ यह हुआ कि भारत योरोप के पूंजीवादी विकास की भी नकल नहीं कर सकता। लोहिया गैर योरोपीय विश्व में ही पूंजीवाद के पनपने की सम्भावना से इन्कार नहीं करते, बल्कि योरोप और अमरीका भी इस प्रणाली के भविष्य पर प्रश्न चिह्न लगाते है। उनका तर्क है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उपनिवेशों की संख्या कम होती जा रही है और इस स्थिति ने पूंजीवादी प्रणाली के अस्तित्व के लिए गम्भीर चुनौतियां खड़ी कर दी हैं।

पूंजीवाद का विकल्प क्या है? क्या साम्यवाद इसका उत्तर है? लोहिया की राय में साम्यवाद ही इसका उत्तर दिखाई देता है। वस्तुतः यह पूंजीवाद से भिन्न नहीं है। ये दोनों ही आधुनिक सभ्यता के दो चेहरे हैं। दोनों ही भारी पूंजीकरण, केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था और बृहत् टैक्नोलोजी पर निर्भर करते है। साम्यवाद टैक्नोलोजी को स्वीकार करते हुए स्वामित्व के स्वरूप में ही परिवर्तन करता है। अतः पूंजीवाद और साम्यवाद, दोनों ही भारत जैसे गैर-पश्चिमी देशों के लिए समान रूप में असंगत हैं।

साम्यवाद और पूंजीवाद, दोनों ही आधुनिक सभ्यता के संकट से नहीं वच सकते। लोहिया के अनुसार यह संकट उभर चुका है, क्योंकि इसकी टैक्नोलोजी अब अपने अन्त पर पहुंच गई है। यह सभ्यता अब और अधिक क्रान्तिकारी टैक्नोलोजी पैदा नहीं कर सकती। परिणामस्वरूप भौगोलिक रूप से यह और अधिक नहीं फैल सकती। धीरे-धीरे यह विश्व में अपनी प्रमुखता खोती जाएगी। आधुनिक सभ्यता के संकट को इन समाजों में आए नैतिक और आत्मिक पतन में भी देखा जा सकता है। आज व्यक्ति एक यंत्र का पूर्जा मात्र बन कर रह गया है। दूसरा, इस स्थिति में स्वभावतः लोहिया को लगता था कि इतिहास के चक्र के लिए एक और मोड़ का मार्ग प्रशस्त हो गया है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग करें।
ii) अपने उत्तर को इस इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से मिलाइए।

1) लोहिया के इतिहास के सिद्धान्त के तीन मुख्य नियम लिखिए :

....

....

....

2) निम्नलिखित वक्तव्यों में से कौन-सा वक्तव्य लोहिया के सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करते हैं?

1) वर्ग गतिशीलता के अभाव का प्रतिनिधित्व करता है।	सही	गलत
2) बाहरी शक्ति के कारण आन्तरिक वर्ग विभाजन होता है।	सही	गलत
3) टैक्नोलोजीकल क्षमता में पतन के कारण जाति प्रणाली पनपती है।	सही	गलत
4) पूंजीवाद के उत्थान के बहुत बाद उपनिवेशवाद विकसित हुआ।	सही	गलत

3) लोहिया के अनुसार पूंजीवाद और साम्यवाद के सामान्य स्वरूप क्या है?

....

....

....

अपने आप हल कीजिए

) लोहिया ने ऐतिहासिक पद्धति क्यों अपनाई थी? क्या आप मानते है कि वर्तमान को समझने के लिए इतिहास को समझना आवश्यक है?

) इतिहास के दर्शन तथा पाठ्यक्रम में वर्जित अन्य चिन्तकों के बारे में और अधिक अध्ययन कीजिए। उन्होंने कैसे लोहिया को प्रभावित किया था? क्या इस प्रकार की जांच आज भी लोकप्रिय है?

26.4 भविष्य के लक्ष्य

समाजवादियों का लक्ष्य जैसा कि आप जानते हैं, अन्याय मुक्त विश्व की रचना करना है। वे मानते हैं कि विश्व में विभिन्न प्रकार के अन्याय विद्यमान हैं। लेकिन अधिकांश समाजवादियों की मान्यता है कि सभी प्रकार के अन्यायों का मूल एक प्रकार का अन्याय है और वह है—आर्थिक विषमता। इसलिए समाजवादी क्रान्ति का लक्ष्य आर्थिक असमानता को मिटाना है। जैसा कि अब आप अनुमान कर सकते हैं कि लोहिया का इस परम्परागत समाजवादी दृष्टिकोण से मतभेद था। उनकी दृष्टि में यह अत्यन्त संकीर्ण लक्ष्य है। इनके सामने ऐसे सात पहलू थे जिनमें से हरेक के लिए स्वतंत्र क्रान्ति आवश्यक थी, अर्थात् एक पहलू की सफलता से शेष सभी में स्वतः सफलता नहीं मिल सकती थी। ये "सात क्रान्ति हैं"—

1) आर्थिक अन्याय के विरुद्ध क्रान्ति
2) जाति प्रथा के विरुद्ध क्रान्ति
3) लिंग भेद के विरुद्ध क्रान्ति
4) साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रवादी क्रान्ति
5) रंगभेद के विरुद्ध क्रान्ति
6) समूहबद्धता के विरुद्ध व्यक्तिगत अधिकारों की क्रांति
7) अहिंसक अवज्ञा की कार्यविधि क्रान्ति,

पहली क्रान्ति के बारे में हम चर्चा कर चुके है। इसके लिए ज़रूरी है कि गरीबी का खात्मा हो और गरीब और धनवान के बीच की खाई को मिटा कर आर्थिक समानता लाई जाए। अगली दो क्रान्तियों का सम्बन्ध सामाजिक विषमता के दो और पहलुओं — जाति और लिंग भेद से है। जैसा कि हम जान चुके हैं कि लोहिया के लिए जाति का अर्थ है, किसी भी प्रकार की स्थिर श्रेणीबद्धता। इस अर्थ में भारत में जाति कोई अनोखी चीज़ नहीं है। भारत की जाति-प्रथा इसका सब से अधिक वीभत्स स्वरूप है। जाति प्रथा एक भीषण प्रकार का दुराचक्र है : जाति का अर्थ है, अनेक लोगों के लिए अवसरों की सीमितता जिस से उनकी क्षमता भी सीमित हो जाती है और इसी के कारण उनके लिए अवसर और अधिक सीमित हो जाते हैं। यह प्रक्रिया किसी भी सभ्यता के प्रबद्ध जीवन को नष्ट कर सकती है। यही कारण है कि लोहिया भारतीय जाति प्रथा के कट्टर विरोधी थे और इसे मिटाना चाहते थे। वे उन भारतीय राजनीतिक चिन्तकों में एक थे जो नारियों के प्रति अन्याय और उनके साथ असमान व्यवहार का खुलकर विरोध करते थे। उनका कहना था कि लिंग भेद और सभी प्रकार के अन्यायों का आधार है। यह प्रश्न नारियों को मात्र आर्थिक और रोजगार के अवसर प्रदान करने तक ही सीमित नहीं है। यह प्रश्न मूलतः सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों का प्रश्न है, जिसकी जड़ें हमारी सभ्यता में काफी गहरी जमी हुई हैं। ये मूल्य इस मान्यता को उचित ठहराते हैं कि नारियाँ नैसर्गिक रूप से पुरुषों की अपेक्षा हीन है और उनका क्षेत्र मात्र घरेलू कामकाज तक ही सीमित है। यहां तक कि हम एक ओर नारियों के आदर्शों को परिभाषित करते हैं और दूसरी ओर उन्हें विनम्रता और निर्भरता की सीख देते हैं। लोहिया नारियों के प्रति ऐसी सभी

मान्यताओं और दृष्टिकोणों में आमूलचूक परिवर्तन लाना चाहते थे। उनका मत था कि इन दोनों क्षेत्रों में जाति और लिंग भेद समाप्त कर उन्हें समान अवसर देना ही पर्याप्त नहीं होगा। इन भेदों के कारण जो अन्याय के शिकार हो रहे हैं, उन्हें कुछ समय तक अवसरों में प्रथमिकता देनी होगी ताकि वे समान स्तर पर आ सकें।

चौथी क्रान्ति के विषय से हम सभी भली भांति परिचित हैं : विदेशी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष। आप समझते होंगे कि भारत तथा तीसरे विश्व के अन्य देशों में यह क्रान्ति पहले ही हो गई है। लेकिन लोहिया का कहना था कि आज भी आर्थिक साम्राज्यवाद सक्रिय है तथा उसके विरुद्ध संघर्ष आवश्यक है। पांचवी क्रान्ति रंगभेद पर आधारित अन्याय को मिटाना चाहती है और श्वेत और अश्वेत जातियों के बीच समता लाना चाहती है। यह एक सौन्दर्य बोध सम्बन्धी क्रान्ति भी है, क्योंकि रंगभेद सौन्दर्य के समसामायिक मानदंडों में अश्वेत लोगों के विरुद्ध पूर्वाग्रह पैदा करता है।

छठी क्रान्ति का भी वही लक्ष्य है जो जे.एस. मिल जैसे उदारवादियों का लक्ष्य था : प्रत्येक व्यक्ति को अपने कुछ क्षेत्रों में गोपनीयता पाने का अधिकार है। राज्य, समाज या अन्य कोई समूह इन क्षेत्रों का उल्लंघन नहीं कर सकते। अन्तिम क्रान्ति अन्य सभी क्रान्तियों से इस मायने में भिन्न है कि किसी भी नए क्षेत्र के बारे में कोई नया लक्ष्य निर्धारित नहीं करती। यह इस बारे में लक्ष्य प्रस्तुत करती है कि शेष सभी अन्य लक्ष्यों को किस तरह प्राप्त किया जाए। अहिंसक अवज्ञा की इस पद्धति की चर्चा हम अगले भाग में करेंगे।

लेकिन सात क्रान्तियों का वक्तव्य इस बात पर प्रकाश नहीं डालता कि लोहिया के वैकल्पिक आदर्श का स्वरूप कैसा होगा। लोहिया ने इस विश्व का चित्र पूरा नहीं खींचा, बल्कि लोहिया ने इस बारे में कई विचार खड़े किए हैं : लेकिन हम उन विचारों को जोड़ कर इस चित्र को पूरा कर सकते हैं। आपको याद होगा कि पहले भाग में लोहिया का कहना था कि पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों ही गैर योरोपीय विश्व के लिए समान रूप से असंगत हैं। अतः वैकल्पिक सभ्यता को इन प्रणालियों के मूल स्वरूप अर्थात् भारी पूंजीकरण केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था, बृहत् स्तरीय टैक्नोलोजी, रहन-सहन का उत्तरोतर बढ़ता स्तर और सामाजिक समानता की खोज से भिन्न होना होगा। गैर योरोपीय विश्व के सामने केवल यही विकल्प है कि वह कम पूंजी विनियोजन और श्रम शक्ति के अधिक से अधिक उपयोग का मार्ग अपनाए। इस मार्ग की आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक ही टैक्नोलोजी उपयोगी होगी और वह है, लघु स्तरीय क्षेत्र। इस सम्भावित व्यूह रचना के अलावा इस विश्व के पास अर्थव्यवस्था के विकेन्द्रीकरण को विकसित करने का भी अवसर है, जो एक लोकतंत्र के लिए जरूरी है। स्वामित्व के स्वरूप सम्बन्धी लोहिया के दृष्टिकोण से इस विकल्प का मेल खाता है। वे उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व को स्वीकार करते हैं, लेकिन उसी सीमा तक जहां तक कि उत्पादन मालिक के अपने श्रम से पैदा हो। और सभी प्रकार का उत्पादन जिसके लिए वेतनभोगी श्रमिकों की आवश्यकता सहकारी समिति, प्रान्त और केन्द्र के हाथ में हो।

यह अर्थव्यवस्था समानता के आदर्श से संचालित होनी चाहिए, लेकिन इस आदर्श का यह संकीर्ण अर्थ नहीं होना चाहिए कि यह सामाजिक समानता केवल समाज के भीतर ही हो। इस आदर्श की विस्तृत परिधि में विभिन्न समाजों के बीच समानता के लक्ष्य को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। सामाजिक समानता के अलावा, आत्मिक समानता को भी इस अर्थ में विकसित करना होगा कि मानवता के बीच भाईचारे की भावना पैदा हो। स्वभावतः ऐसे समाज का लक्ष्य रहन-सहन के स्तर को उठाना नहीं हो सकता। उसका लक्ष्य हरेक के लिए रहन-सहन का एक शालीन स्तर प्रदान करना ही हो सकता है।

राजनीतिक क्षेत्र में भी विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त उपयुक्त है। किसी भी राज्य में राजनीतिक शक्ति का चार स्तरों पर विभाजन होना चाहिए गांव, जिला, प्रान्त और केन्द्र। कोशिश यह होनी चाहिए कि निम्नतर इकाइयों को उनसे सम्बन्धित क्षेत्रों में अधिक से अधिक शक्ति सौंपी जाए। लोहिया के चार स्तरीय राज्य का अर्थ यही था। लेकिन उनकी राजनीतिक दृष्टि राष्ट्रीय राज्य तक ही सीमित न थी। उनका अन्तिम आदर्श एक विश्व शासन की स्थापना थी, जो मानवता की एकता का प्रतीक हो। इस आदर्श की प्रगति की दिशा में वे निशस्त्रीकरण, एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में आने-जाने पर कम से कम प्रतिबन्ध तथा आर्थिक साधनों के अन्तर्राष्ट्रीय कोष की हिमायत करते थे। जिसमें हर राष्ट्र अपनी सामर्थ्य के अनुसार योगदान करेगा और अपनी आवश्यकता के अनुसार धन लेगा।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयुक्त कीजिए।
ii) इस इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) नीचे कुछ ऐसे स्वरूप दिए गए हैं जो पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों में समान रूप से पाए जाते हैं। इन स्वरूपों के सामने दिए गए रिक्त स्थान में हरेक के सामने लोहिया के आदर्शों से मेल खाते आदर्श लिखें।

भारी पूंजीकरण ....

केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था ....

बृहत् स्तरीय टैक्नोलोजी ....

आन्तरिक समाजिक समानता ....

रहन-सहन का उठता स्तर ....

2) उन समस्त अन्यायों की सूची दीजिए जिनके विरुद्ध लोहिया के अनुसार, क्रान्ति की आवश्यकता है।

....

....

....

....

....

स्वयं हल कीजिए

1) पूर्व इकाइयों को फिर से याद कीजिए और लोहिया के आदर्शों को उनके आदर्शों से तुलना कीजिए : नारियों के बारे में राममनोहर रॉय, जाति सम्बन्धी डॉ. अम्बेडकर, टैक्नोलोजी पर गांधी, आर्थिक वृद्धि के मॉडल पर नेहरू, विकेन्द्रित शासनतंत्र के सम्बन्ध में जयप्रकाश नारायण, सम्पत्ति पर भारतीय साम्यवादियों के। इनके आदर्शों में जो समानता या अन्तर पाते है, उनकी भी चर्चा कीजिए।

26.5 परिवर्तन लाने के लिए व्यूह-रचना

इसके साथ ही हम लोहिया के चिन्तन के अन्तिम पहलू पर आते हैं— वर्तमान अवस्था से ऊपर लिखित अपेक्षित व्यवस्था की ओर कैसे आया जाए? इस प्रश्न का उत्तर यह हो सकता है— इन आदर्शों को मूर्त रूप दिए जाने का तरीका इतिहास के इस तर्क में है कि समय के साथ-साथ ये आदर्श व्यावहारिक रूप में परिवर्तित हो जाएंगे। लोहिया इस दृष्टिकोण के कट्टर विरोधी थें, जिसे वे "स्वचालित दर्शन" कहते थे। क्योंकि इस दृष्टिकोण का अर्थ है कि जो कुछ वर्तमान में है, वह उस समय का आदर्श है। यह वर्तमान यथार्थ के नकारात्मक पहलुओं की अपेक्षा करता है। इससे सम्बन्धित एक अन्य खतरा यह है कि इसमें किसी भी राजनीतिक कार्यवाही को उस आशा के साथ न्यायोचित बताने की प्रवृति हो सकती है कि इसके अन्ततः अच्छे परिणाम होंगे। हिंसक और तानाशाही कार्यवाहियों को अक्सर यह कह कर न्यायोचित ठहराया जाता है कि अन्त में शान्ति और लोकतंत्र लाने के लिए यह कार्यवाही आवश्यक है। इस तर्क का एक खतरा यह है कि इसे किसी भी तरह की कार्यवाही को उचित ठहराने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है, चाहे उसके प्रत्याशित परिणाम सामने आएं या नहीं। इसके विरुद्ध लोहिया "तात्कालिकता" के सिद्धान्त का सुझाव देते हैं : हरेक कार्यवाही तत्काल न्यायोचित सिद्ध होनी चाहिए अर्थात् इसके तत्काल क्या परिणाम सामने आते हैं। उदाहरणार्थ, अगर कार्यवाही का अन्त शान्ति है, तो हरेक कार्य का परिणाम और अधिक शान्ति होना चाहिए। इस सिद्धान्त से यह निश्चित होगा कि व्यक्त लक्ष्य को पाने के लिए सतत् प्रयास किया जाएगा।

हो सकता है कि आप कहें कि ये अत्यन्त सामान्य और नकारात्मक वक्तव्य हैं। वास्तविक प्रश्न यह उठता है कि राजनीतिक कार्यवाही का उपयुक्त स्वरूप क्या है? कुछ वर्तमान विचारधाराएं इस प्रश्न का उत्तर कार्यवाही के एक ही रूप पर ध्यान केन्द्रित करके देती हैं, जैसे साम्यवादी संघर्ष पर, गांधीवादी रचनात्मक कार्य पर, लोकतंत्रीय समाजवादी संसदीय गतिविधियों पर। लोहिया का कहना है कि ये स्वरूप एक दूसरे के विरुद्ध नहीं है ; समाजवादियों को इन सभी स्वरूपों को अपने कार्यक्रम में सम्मिलित करना चाहिए। उनका नारा "वोट, जेल और फावड़ा" इस सामंजस्य का ही प्रतीक है। संघर्ष समाजवादियों की सदैव प्रमुख व्यूह रचना रही है। लेकिन प्रश्न यह है : किस प्रकार का संघर्ष? इस सम्बन्ध में लोहिया सत्याग्रह की गांधीवादी प्रक्रिया के औचित्य का तर्क देते हैं। अन्याय के विरुद्ध लोगों के पास अत्यन्त प्रभावशाली और नैतिक अस्त्र है, अहिंसक सविनय अवज्ञा अर्थात् शान्तिपूर्ण ढंग से आज्ञा पालन को अस्वीकार करना। यहां अहिंसा का अर्थ है, फलन को अस्वीकार करना। जहाँ अहिंसा का अर्थ है, हिंसा की हिमायत और आयोजन न करना, अहिंसक आन्दोलन में कभी-कभी हिंसक कार्यवाही की भी सम्भावना रहती है, अहिंसा एक तर्कसंगत सिद्धान्त है; हिंसा इस कारण गलत है कि इससे हमेशा हिंसा का ही जन्म होता है और यह अच्छे परिणाम की ओर ले जाने में असफल रहती है। संघर्ष के अतिरिक्त, ऊपर वर्णित, समाजवादी कार्यक्रम में लोहिया इन दो प्रकार की कार्यवाइयाँ करने का समर्थन करते हैं। चुनाव महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे लोगों की इच्छा का प्रदर्शन करते हैं। चुनावों और उनके परिणामों के द्वारा ही पार्टी लोगों को कुछ सिखा सकती है और उनसे कुछ सीख सकती है। रचनात्मक कार्य लोगों को संगठित और शिक्षित करने का प्रमुख माध्यम है जिसकी समाजवादियों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिए।
ii) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) तात्कालिकता के लोहिया के सिद्धान्त को अपने शब्दों में लिखिए।

....

....

....

....

....

2) निम्नलिखित प्रतीकों का क्या अर्थ है?

वोट ....

जेल ....

फावड़ा ....

स्वयं हल कीजिए

निम्नलिखित कथनों के समर्थन या विरोध में एक लेख लिखिए :

1) राजनीतिक हिंसा हमेशा हिंसा को जन्म देती है।

2) एक लोकतंत्रीय सरकार के विरुद्ध सविनय अवज्ञा न्यायोचित है। लेख के स्थान पर आप इन विषयों पर समूहगत विचार-विमर्श करने बारे में भी सोच सकते हैं।

26.6 एक समीक्षात्मक-मूल्यांकन

पहले भाग में हमने मोटे तौर पर किन्तु मौलिक ढंग से लोहिया के चिन्तन की तुलना की है। यह तुलना भी एक प्रकार से लोहिया के चिन्तन का हमारा मूल्यांकन है। यह मूल्यांकन इस कारण दिलचस्प है, क्योंकि यह कुछ नए विचार हमारे सामने लाता है। लेकिन नए विचार सदैव न तो सजगतापूर्वक सोचे गए होते हैं और न ही उसका पूरा विवरण सोंचा जाता है। बहरहाल, अब हम इस स्थिति में हैं कि इस मूल्यांकन की पुष्टि कर सकें।

आइए, हम पहले इसके सकारात्मक पहलू पर विचार करें। क्या आप लोहिया के उन कुछ विचारों के बारे में बता सकते हैं जो आपको नए लगे हैं? ऐसे कई विचार हैं जिन्हें आप सोच सकते हैं— इतिहास के चक्र के सिद्धान्त में तीन नियम, पूंजीवाद और साम्यवाद के जुड़वां जन्म का सिद्धान्त, यह विचार कि पूंजीवाद और साम्यवाद मूलतः एक ही हैं, परम्परागत समाजवादी लक्ष्यों का विस्तार, लघु उद्योग तंत्र और कम पूंजी विनियोजन का सिद्धान्त, तात्कालिकता का नियम, राजनीतिक कार्यवाही के क्रान्तिकारी पहलुओं के साथ संसदीय और रचनात्मक कार्यों तथा अहिंसा के साथ — संघर्ष का मिश्रण। आप इनमें से हरेक का विस्तार के साथ वर्णन कर सकते हैं और इन्हें इस सूची में जोड़ सकते हैं।

क्या आप लोहिया के इन सभी नए विचारों के बीच एक समान तथा तत्व खोज सकते हैं?

ये सभी नए विचार एक न एक अर्थों में उनकी इस अन्तर्दृष्टि पर आधारित हैं कि वर्तमान समाजवादी सिद्धान्त योरोप के संदर्भ में ही संगत हैं और यह आवश्यक है कि इस सिद्धान्त की इस कमज़ोरी से उबरने के लिए दूसरी मूल बातों पर फिर से विचार किया जाए। भारतीय समाजवादी चिन्तन में लोहिया का प्रमुख योगदान यही था कि उन्होंने ऐसे सैद्धांतिक कार्यक्रम पर विचार किया। उन्होंने केवल इस कार्यक्रम के बारे में सोचा ही नहीं, बल्कि इसे क्रियान्वित करने की भी कोशिश की। उन्होंने यह काम विभिन्न साधनों से विचार एकत्र कर तथा बंधे कसे सिद्धान्तों को तिलांजलि देकर किया। इसमें उन्होंने समकालीन परस्पर विरोधी विचारधाराओं और सबसे अधिक मार्क्सवादी और गांधीवादी को परस्पर जोड़ने की आवश्यकता पर सफलतापूर्वक बल दिया।

जहां तक उनके विचारों के नकारात्मक पहलुओं का प्रश्न है, आपने देखा होगा कि लोहिया के चिन्तन में कई कमज़ोरियां हैं। आपको याद होगा कि उनकी सब से बड़ी और पहली कमज़ोरी यह है कि उन्होंने अपने चिन्तन का मात्र एक उन्माद स्वरूप या स्केच ही प्रस्तुत किया था। उन्होंने अपने अधिकांश विचारों के विवरणों में जाने की आवश्यकता अनुभव नहीं की थी। **क्या आप इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण दे सकते हैं?**

आपको याद होगा लोहिया ने इतिहास के अपने सिद्धान्त के विभिन्न चरणों की चर्चा नहीं की, उन्होंने यह नहीं बताया

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पूंजीवाद और साम्यवाद का पतन क्यों नहीं हुआ, उन्होंने सतर्कतापूर्वक इस पर विचार किया कि आयोजन को विकेन्द्रीयकरण के साथ कैसे जोड़ा जाए, लघु उद्योग यंत्र को अपने समय में कैसे लागू किया जाए, इसका वर्णन नहीं किया, आय की अन्तर्राष्ट्रीय-व्यवस्था में विश्व सरकार के विचार की व्यावहारिकता पर कोई प्रकाश नहीं डाला, वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अहिंसा की संगतता को स्पष्ट करने में भी असफल रहे हैं। इस विषय की कुछ और कमज़ोरियों को भी आप आय की सूची में शामिल कर सकते हैं।

आइए, इस पर विचार करते हैं कि उनके सिद्धान्त में इतनी अधिक कमज़ोरियों और कमियों का क्या कारण था। यह प्रश्न हमें इनके चिन्तन की एक और अधिक मूल समस्या की ओर ले जाता है और वह है तर्क देने का उनका अनुमानगतः या अहकामकाजी भरा तरीका। अपने इस तरीके के कारण उन्होंने अपने विचारों के अनुभव मूलक-आधार की अपेक्षा की। उदाहरण के लिए, इतिहास के उनके सिद्धान्त को लीजिए। यह सिद्धान्त यह नहीं बताता कि एक विशेष समय पर **विश्व** में शक्ति का एक ही केन्द्र क्यों रहना चाहिए? क्या वर्ग और जाति हमेशा एक दूसरे में अदलते-बदलते रहते हैं? **इसका** तीसरा सिद्धान्त सबसे अधिक कमज़ोर लगता है। क्या यह उनके इच्छामूलक चिन्तन से अधिक कुछ और है? **इन** सभी प्रश्नों के लिए आवश्यक था कि वे ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत करते। लेकिन उन्होंने कभी यह आवश्यक नहीं **समझा**। दूसरे, उन्होंने इतिहास के सारभूत दर्शन की इस संशयपूर्ण धारणा को पूरी तरह स्वीकार कर लिया था कि समूचे इतिहास की घटनाओं के पीछे कोई "तर्क" या "सिद्धान्त" होता है। आज इतिहास के छात्र इस धारणा को सही नहीं मानते हैं। उनके सिद्धान्तों के और थोड़े गहरे अध्ययन से कुछ और बातें भी आपके सामने उजागर हो सकती हैं। उनके सिद्धान्त और धारणाएं, जो उनकी प्रभावशाली उपलब्धियां दिखाई पड़ती हैं, अधिकांशतः वर्तमान यूरोसेन्ट्रिक विचारों के साधारण उत्क्रमण मात्र है; जैसे, बड़ी मशीनों के स्थान पर छोटी मशीनों, केन्द्रीकरण के स्थान पर विकेन्द्रीकरण आदि के विचार। ऐसा सिद्धान्त अक्सर दर्पण की परछाई जैसा लगता है। अगर यह सही है तो क्या लोहिया का चिन्तन अभी भी बौद्धिकता का बन्दी नहीं लगता?

लोहिया के चिन्तन के अपने मूल्यांकन की बात को हम दो सैद्धान्तिक गतिविधियों को पृथक कर समाप्त कर सकते हैं। यह गतिविधियां हैं, प्रश्न को पैदा कर उसका उत्तर देना। यह सम्भव है कि एक व्यक्ति एक मामले में अच्छा हो, लेकिन **दूसरे** में नहीं। यही स्थिति लोहिया की लगती है। उनका मूल्यवान योगदान वर्तमान समाजवादी सिद्धान्त के विरुद्ध नए प्रश्न खड़े करने में अधिक हैं। लेकिन इन प्रश्नों के उनके उत्तर कमज़ोर हैं। इस अर्थ में लोहिया की सैद्धान्तिक विचारधारा सम्पूर्ण नहीं है।

स्वयं हल कीजिए

1) क्या आप लोहिया के इस मूल्यांकन से सहमते हैं? हमारी आलोचना के विरुद्ध लोहिया के समर्थ में कुछ तर्क सोच कर लिखिए।

2) पहले हम आप से पूछ चुके हैं कि आप राजनीतिक सिद्धान्त के तीन प्रश्नों के अपने उत्तर सोचिए। अब आप लोहिया के उत्तरों से उनकी तुलना कीजिए। क्या इस इकाई के अध्ययन से आपने कुछ सीखा है?

26.7 सारांश

लोहिया भारतीय समाजवादी चिन्तकों में सम्भवतः सबसे अधिक मौलिक थे। उनकी मौलिकता वर्तमान समाजवादी सिद्धान्त की यूरोसेन्ट्रिक धारणाओं को चुनौती और उनके स्थापन पर वैकल्पिक सिद्धान्त के निर्माण के प्रयास में झलकती है। यह नया सिद्धान्त उनके नए ऐतिहासिक विश्लेषण, भविष्य के लिए नए लक्ष्यों और व्यूह रचना के प्रश्न पर उनके नए चिन्तन में देखा जा सकता है। उनके अनुसार इतिहास चक्र के रूप में घूमता है, जो समाजों के बाह्य और आन्तरिक दोनों पहलुओं को छूता है। इस चक्र ने आज पूंजीवाद और साम्यवाद को मूलतः एक ही सभ्यता के दो चेहरों को विश्व के शिखर पर पहुंचा दिया है। लेकिन इस सभ्यता का गैर योरोपीय विश्व तक विस्तार न तो सम्भव है और न ही अपेक्षित। इन देशों को विकेन्द्रीकरण पर आधारित नई आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं का अवश्य निर्माण करवाना **चाहिए**। आज विश्व में कई आयामों में क्रान्ति की आवश्यकता है। यह क्रान्ति लाने के लिए राजनीतिक कार्यवाहियों को अहिंसक सविनय अवज्ञा के माध्यम से अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने में निर्वाचित संसदीय गतिविधियों और रचनात्मक कार्यों के साथ प्रभावशाली ढंग से जोड़ना होगा। इन सभी क्षेत्रों में लोहिया को नए विचार देने में तो सफलता मिली लेकिन स्वयं उन्हें असली रूप देने में नहीं।

26.8 मूल शब्द

सौन्दर्य बोध : सुन्दरता को सराहने का ज्ञान।

द्विभाजन : दो विरोधी भागों में विभाजन।

सिद्धान्त : विश्वास पर आधारित नियम, आस्था की प्रणाली।

बंधक से सिद्धान्त : निश्चित विश्वास या नियम को बिना सोचे समझे स्वीकार कर लेना।

श्रेणीबद्ध संगठन : ऐसा गठन जिसमें उच्चतर और निम्नतर स्तरों का अपना निश्चित स्थान हो।

घुमाव : दो घेरों के बीच घूमते रहना।

26.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

लोहिया पर लिखी उपलब्ध सामग्री से अधिक उपयोगी उनके अपनी लेख या रचनाएं हैं, जो उनके विचार और चिन्तन को अधिक स्पष्ट रूप से पेश करती है। उनमें सबसे अधिक उपयोगी और पठनीय रचना है — '*मार्क्स, गांधी और समाज*' (*मार्क्स, गांधी एण्ड सोसाइटीज़*) (हैदराबाद नवहिन्दी, 1963)', : इस रचना में आपको सिद्धान्तों का वक्तव्य (*स्टेटमेंट ऑफ प्रिंसिपल्स*), "*समाजवाद की सैद्धान्तिक आधारशिला*" (*दि डोक्ट्रीनल फांउण्डेशन ऑफ सोशलिज्म*), और "*भूमिका*" (प्रिफेस) लेख पढ़ने को मिलेंगे। उनके आर्थिक विचारों के बारे में भी इसी पुस्तक में सामग्री मिलेगी। मार्क्स के बाद अर्थव्यवस्था (*इकानोमिक्स आफ्टर मार्क्स*) : और इतिहास के उनके सिद्धान्त के लिए उनकी "*इतिहास का चक्र*" (*व्हील ऑफ हिस्ट्री*) (वम्बई, सिन्धु पब्लिकेशन्स, 1985) पढ़ी जा सकती है।

विभिन्न पहलुओं पर लोहिया के विचार जानने के लिए पढ़िए — एन.सी. मल्होत्रा लोहिया : *ए स्टडी* (दिल्ली, आत्म राम 1978), एम. अरूमुगम, *सोशिलस्ट थॉट इन इण्डिया : दि कन्ट्रीब्यूशन ऑ राम मनोहर लोहिया* (न्यू दिल्ली, स्टरीलिंग, 1978), उन्दूभति कंलवर, *लोहिया सिद्धान्त और कर्म* (हैदराबाद, नवहिन्द, 1963), वी.के. अरोड़ा, *राममनोहर लोहिया एण्ड सोशलिज्म इन इण्डिया* (न्यू दिल्ली, चीप एण्ड दीप, 1984) उनके व्यापक बौद्धिक संदर्भ को समझने के लिए पढ़िए थोमस पैंथम और कैनथ डयूश, सम्पादन *पोलिटिकल थॉट इन माडर्न इण्डिया* (नई दिल्ली, सेज, 1986) और पार्था चटर्जी, *नेशनलिस्ट थॉट एण्ड दि कोलोनियल वार्ड* (दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1986).

26.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) कांग्रेस, कांग्रेस समाजवादी पार्टी, समाजवादी पार्टी, प्रजा समाजवादी पार्टी, समाजवादी पार्टी, संयुक्त समाजवादी पार्टी।
2) निम्नलिखित में से कोई भी दो बातें उत्तर में कही जा सकती हैं : व्यापक रुचियां, मौलिकता, किसी भी विचारधारा को समग्र रूप से अस्वीकार, वैचारिक द्विधा का सामंजस्य, सम्पूर्ण सम्बद्धता की कमी।

बोध प्रश्न 2

1) अन्य समाजवादियों ने पश्चिमी सिद्धान्त को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया कर, लोहिया ने इस निर्भरता को चुनौती दी तथा एक ऐसा वैकल्पिक सिद्धान्त विकसित किया जिसमें गैर-योरोपीय अनुभव को भी सम्मिलित किया गया
2) योरोप / पश्चिमी, सार्वजनिक, गैर-योरोपीय / गैर-पश्चिमी विश्लेषण, लक्ष्य, व्यूह रचना।

बोध प्रश्न 3

1) i) एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में शक्ति के केन्द्र का आना-जाना,
   ii) वर्ग और जाति के बीच आन्तरिक घुमाव,
   iii) मानवता की उत्तरोत्तर निकटता।
2) i) गलत
   ii) सही
   iii) सही
   iv) गलत
3) भारी पूंजीकरण, केन्द्रीकृत आर्थिक यंत्र, बृहत् स्तरीय टैक्नोलोजी।

बोध प्रश्न 4

1) पूंजी विनियोजन, विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था, लघुस्तरीय टैक्नोलोजी, आन्तरिक और बाह्य, सामाजिक और आत्मिक समानता, रहन-सहन के शालीन स्तर।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

DCEPS-104

आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारधारा

खंड

5

राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति II (साम्यवादी) : परिचय

इकाई 27 — 146
राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति II (साम्यवादी) : प्रस्तावना

इकाई 28 — 155
कम्युनिस्ट (वामपंथ) और राष्ट्रीय आंदोलन

इकाई 29 — 169
एम. एन. रॉय : मार्क्सवाद और क्रांतिकारी मानवतावाद

इकाई 30 — 177
समकालीन मार्क्सवादी चिंतन (भारत)

इकाई 31 — 185
राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति : एक अवलोकन

विशेषज्ञ समिति

प्रो. इकबाल नारायण (अध्यक्ष)
कुलपति
'नेहू' (NEHU), शिलाँग

प्रो. मनोरंजन मोहंती
राजनीति विज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. ए.पी. राना
राजनीति विज्ञान विभाग
एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा
बड़ोदरा

प्रो. के.एम. रेड्डी
राजनीति विज्ञान विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

प्रो. रशीदुद्दीन खान
राजनीतिक अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. शोभनलाल दत्ता गुप्ता
रीडर, राजनीतिशास्त्र
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता

प्रो. आर.एस. मोरखंडीकर (संयोजक भूतपूर्व)
निदेशक, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

पाठ्यक्रम निर्माण दल

प्रो. थॉमस पंथम
राजनीति विज्ञान विभाग
एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा
बड़ोदरा

डॉ. राधाकांत बारीक
रीडर, आइ.आइ.पी.ए.
नई दिल्ली

श्री आदित्य निगम
परामर्शदाता (राजनीति विज्ञान)
इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. जगपाल सिंह
परामर्शदाता (राजनीति विज्ञान)
इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. पांडव नायक
निदेशक, सामाजिक विज्ञान संकाय
इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. डी. गोपाल
व्याख्याता, राजनीति विज्ञान
इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

श्री अनुराग जोशी
व्याख्याता, राजनीति विज्ञान
(पाठ्यक्रम समन्वयकर्ता)
इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

श्री एस. विजयशेखर रेड्डी
व्याख्याता, राजनीति विज्ञान
इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

पाठ्यक्रम संपादक

प्रो. के.एन. पन्निकर
ऐतिहासिक अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

अनुवाद

श्री रमन
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

सुश्री सुचेता मोहंती
नई दिल्ली

श्री आनंद कुशवाहा
नई दिल्ली

सामग्री निर्माण

श्री बालकृष्ण सेल्वराज
कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

सितम्बर 1992 (पुर्नमुद्रित)
© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1991.
ISBN-81-7263-003-4

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

खंड 8 राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति II (साम्यवादी) : परिचय

हम आशा करते हैं कि आपने आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन से संबंधित ऐच्छिक पाठ्यक्रम III लगभग पूरा कर लिया होगा। हम अब इस विचार यात्रा के अंत पर आ चुके हैं। इस मंज़िल पर हम आरंभिक प्रवर्तकों तथा विविध राजनीतिक चिंतनधाराओं द्वारा किए गए योगदान के संदर्भ में आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन के इतिहास में नवीनतम विकास का मूल्यांकन करेंगे।

खंड 8 इस तथ्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन के अतिसामान्य पहलुओं को यह उठाता है। यह खंड पाँच इकाईयों में विभाजित है। प्रत्येक इकाई से संबंधित संक्षिप्त प्रस्तावना नीचे दी गई है।

इकाई 27 राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति II (साम्यवादी) प्रस्तावना

इस इकाई के अंतर्गत भारत में आधुनिक इतिहास के सर्वाधिक महत्वपूर्ण काल खंड में (1914-1947), विद्यमान राजनीतिक स्थिति की चर्चा की गई है। एक नये सैद्धांतिक अभिकरण के साथ भारतीय मार्क्सवादियों और कम्युनिस्टों की उपरोक्त स्थिति की ओर प्रतिक्रिया का अध्ययन हम करेंगे। स्वातंत्र्यपूर्व और स्वातंत्र्योत्तर दोनों ही अवधियों में मार्क्सवादी राजनीतिक चिंतन की सामान्य विशेषताओं के बारे में भी आप पढ़ेंगे।

इकाई 28 कम्युनिस्ट (वामपंथ) और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन

यहां हम भारतीय साम्यवादियों के सामाजिक और विचारधारात्मक रुझान, राष्ट्रवादी सामाजिक और वामपंथी राजनीतिज्ञों के साथ उनके संबंध और भारतीय स्वातंत्र्य के लक्ष्य की ओर उनके सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक योगदान की अधिक विस्तार से चर्चा करेंगे।

इकाई 29 एम. एन. रॉय : मार्क्सवाद और क्रांतिकारी मानवतावाद

भारत में मार्क्सवादी चिंतन एवं व्यवहार के संदर्भ में एम. एन. रॉय के महत्व को ध्यान में रखते हुए यह इकाई उनके योगदानों पर केंद्रित है जो आरंभिक मार्क्सवादी रुझानों के बाद क्रमशः एक नये राजनीतिक दर्शन की ओर मुड़े। कम्युनिस्ट कट्टरता और पूंजीवादी उदारवाद दोनों को ही अस्वीकार करने वाला उनका यह दर्शन क्रांतिकारी मानवतावाद के नाम से जाना जाता है।

इकाई 30 समकालीन मार्क्सवादी चिंतन (भारत)

इस इकाई के अंतर्गत आपका परिचय समकालीन मार्क्सवादी चिंतन की प्रमुख सारणियों से कराया जायेगा। स्वातंत्र्योत्तर काल में भाकपा, माकपा, भाकपा (मा.ले.), आई.पी.एफ., फॉरवर्ड ब्लाक इत्यादि विभिन्न मार्क्सवादी पार्टियों की विचारधारा और व्यवहार पर विशेष बल देते हुए।

इकाई 31 राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति : एक अवलोकन

इस इकाई के अंतर्गत आप साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रवादी संघर्ष के संदर्भ में सामाजिक क्रांति के प्रश्न पर समाजवादियों और कम्युनिस्टों के विचारों के सामान्य महत्व की जानकारी प्राप्त करेंगे। यहां हम समाजवादियों और कम्युनिस्टों के बीच विभेद-बिंदुओं और स्वतंत्र भारत के भावी सामाजिक रूपांतरण के लिए इन विरोधितापूर्ण विचारों के महत्व पर प्रकाश डालेंगे।

इकाई 27 राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति II (साम्यवादी) : प्रस्तावना

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य
27.1 प्रस्तावना
27.2 आर्थिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि
27.2.1 आर्थिक पृष्ठभूमि
27.2.2 राजनीतिक पृष्ठभूमि
27.3 भारत में मार्क्सवादी राजनीतिक चिंतन
27.3.1 स्वातंत्र्य-पूर्व काल
27.3.2 स्वातंत्र्योत्तर काल
27.4 सारांश
27.5 शब्दावली
27.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
27.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

27.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप :

- बीसवीं सदी के भारत में औपनिवेशिक शासन अधीन समाज में हुए आर्थिक एवं राजनीतिक विकास की व्याख्या कर सकेंगे, जिसने विविध प्रकार के कम्युनिस्ट साहित्य के सृजन के लिए उर्वर आधार क्षेत्र का प्रयोग किया।
- भारत में मार्क्सवादी राजनीतिक चिंतन के व्यापक परिदृश्य को समझ सकेंगे और
- भारत में मार्क्सवादी राजनीतिक चिंताधारा के योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे।

27.1 प्रस्तावना

भारत में मार्क्सवादी विचारों का प्रवर्तन 1917 की रूसी क्रांति के परिणामस्वरूप हुआ। भारत में तत्कालीन साम्राज्यवादी सरकार के उत्पीड़न तंत्र के कारण यह एक दुस्साध्य प्रक्रिया थी। आरम्भ में दीर्घकाल तक एक गुप्त अवैध संगठन के रूप में सक्रिय कम्युनिस्ट पार्टी अंततः राष्ट्रीय स्वाधीनता और सामाजिक-आर्थिक न्याय के लिए निरंतर संघर्ष के फलस्वरूप अपने लिये आधार प्राप्त करने में समर्थ हुई। स्वातंत्र्य-संघर्ष के इतिहास में इसका अद्वितीय स्थान सामाजिक क्रांति के गतिरूपों के बोध के एक अत्यंत-नवीन, मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य इंगित करने की दृष्टि से है। निस्संदेह इसमें अनेक कमियां थीं, लेकिन मार्क्सवादियों तथा कम्युनिस्टों के अनवरत संघर्ष के बिना भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम में मज़दूरों-किसानों के महत्वपूर्ण वर्गीय हितों को उपयुक्त स्थान नहीं मिल पाता। इस प्रकार कम्युनिस्टों ने आधुनिक भारत के राजनीतिक चिंतन को समृद्ध बनाया। इसीलिए आगामी अनुभागों में हमने इस नई बौद्धिक विरासत का महत्व आंकने का प्रयास किया है— कम्युनिस्ट जिसके मशाल वाहक बने थे।

27.2 आर्थिक एवं राजनैतिक पृष्ठभूमि

रूस की अक्तूबर क्रांति से प्रेरित होने के बावजूद भारत में कम्युनिज़्म का विकास बाह्य कारकों का ही परिणाम नहीं था। इसके विपरीत, प्रथम विश्वयुद्ध के आरंभ से ही आंतरिक,

आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति ने धीरे-धीरे किंतु नियत रूप में भारतीय भूमि पर कम्युनिस्ट विचारों के उदय के लिए अनुकूल आधार बना दिया। दुर्भाग्यवश, अंतर्राष्ट्रीयतावाद के प्रति अति-उत्साह के चलते भारतीय कम्युनिस्ट जन्मभूमि के प्रति सच्चे नहीं रह सके। इसका प्रतिफल प्रायः राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय कार्यभारों से संबंधित विभ्रम के रूप में हुआ। इस विभ्रम के मूल कारणों के समुचित बोध के लिये हमें भारत में कम्युनिस्ट विचारों के आरंभ काल में विद्यमान राजनीतिक-आर्थिक स्थिति को समझना होगा।

27.2.1 आर्थिक पृष्ठभूमि

राष्ट्रीय पूंजीवाद के विकास ने भारत में मार्क्सवादी मंडलियों के उभार की आर्थिक पृष्ठभूमि बना दी थी। प्रथम विश्वयुद्ध के पहले भारत में पूंजीवाद के विकास के लिए परिस्थितियां परिपक्व नहीं हुई थीं। 1914 के पहले औद्योगिक क्षेत्र में कपास और जूट उद्योगों का प्रभुत्व था। युद्ध की अवधि में एक ओर तो कच्चे जूट के निर्यात की मात्रा में अत्यधिक कमी आई, और दूसरी ओर कपास से बने माल का आयात भी घट गया। परिणामस्वरूप, दोनों ही उद्योग क्षेत्रों में पर्याप्त विकास हुआ। भारतीय पूंजीपतियों के प्रभुत्व के अधीन सूती-कपड़ा उद्योग में निवेश राशि युद्ध पूर्व 395 करोड़ से बढ़कर 1922 में 726 करोड़ हो गई। जूट उद्योग में, जो मुख्यतः ब्रिटिश उत्पादकों के नियंत्रण में था, उसी प्रकार वृद्धि हुई। यही नहीं, पंजीकृत कंपनियों की युद्ध-पूर्व संख्या 356 से बढ़कर 1920-21 में 1039 हो गई। इसके अतिरिक्त यूरोपीय व्यवसायियों के लिए भारतीय अर्थतंत्र पर नियंत्रण बनाये रखना अधिकाधिक कठिन हो गया; इस सीमा तक कि अनेक भारतीय उत्पादकर्ता इंजीनियरिंग, लोहा और इस्पात, कागज़, सीमेंट इत्यादि क्षेत्रों में पैठने लगे। इस प्रकार तीसरे दशक तक नये भारतीय औद्योगिक समूह उभरने लगे थे। 1916 में औद्योगिक आयोग के गठन और 1922 में आयोग द्वारा समर्थित सुझाई गई विभेदीकृत संरक्षण नीति ने निस्संदेह भारत के औद्योगिकीकरण का पथ प्रशस्त किया। लेकिन वास्तव में, उस समय औपनिवेशिक शासन के पास औद्योगिकीकरण की कोई सामान्य नीति नहीं थी। युद्ध संकट के समापन के बाद ही साम्राज्यवादी सरकार द्वारा अपनाये गये अधिकाधिक कड़े रुझान से यह स्पष्ट होता है। इस प्रकार, किन्हीं सामग्रियों की मांग में वृद्धि और बाहयविश्व के साथ भारत के वाणिज्य संबंधों में परिवर्तन भारत के औद्योगिक विकास के वास्तविक उत्प्रेरक सिद्ध हुई।

तीसरे दशक की अवधि में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग को और अधिक कठिनाइयों से गुज़रना पड़ा। इसलिए कि इस अवधि में चमड़ा तथा खाल पर निर्यात कम कर दिया, भारत के सागरीय तटों का भारतीय नौपरिवहन के लिए आरक्षण लगभग समाप्त कर दिया गया और विनिमय दर वांछित 1s 4d (1 शिलिंग 4 पैंस) के स्थान पर 1s 6d निश्चित कर दी गई। लेकिन 1922-30 के मंदी के वर्षों में साम्राज्यवादी अर्थतंत्र को गहरा आघात मिलने के साथ ही राष्ट्रीय पूंजीवाद ने अपने प्रसार की एक नई अवधि में प्रवेश किया। पाँचवे दशक के आरंभ तक भारत में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग ने भारत में अपना आर्थिक आधार समुचित रूप में सुदृढ़ कर लिया था।

27.2.2 राजनीतिक पृष्ठभूमि

भारतीय पूंजीवाद के विकास की अभिव्यक्ति राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग तथा मज़दूर वर्ग दोनों ही द्वारा अधिकाधिक राजनीतिक गोलबंदी के रूप में हुई। प्रथम विश्वयुद्ध के क्रम में उभरे भारतीय सर्वहारा वर्ग को मात्र जीवनयापन के लिये अथक संघर्ष करना पड़ा। युद्धोत्तर मुद्रास्फीति और मूल्य वृद्धि तथा औद्योगिक विवाद अधिनियम जैसे कानूनों के फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग ने हड़ताल अभियान चालू किए। इस प्रकार 1912-20 के वर्षों में 6 लाख से अधिक मज़दूर हड़तालों में शरीक हुए थे। 1926-27 में नौकरी के अवसरों में आकस्मिक गिरावट आने से मज़दूरों का आक्रामक रुझान कुछ कम हो गया। इसीलिए इस अवधि की अधिकांश हड़तालें आत्मरक्षात्मक वेतन में कटौती और छंटनी के विरुद्ध संघर्ष तक सीमित थीं। फिर भी, मज़दूर वर्ग अधिकाधिक वर्ग चेतन हो रहा था। 1920 में (ऐटक) आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस का गठन हुआ। यद्यपि ऐटक और उससे जुड़ी यूनियनें मुख्यतः आर्थिक संघर्ष चलाते थे। स्थानीय विवादों का प्रसार उद्योग के अन्य क्षेत्रों में भी होने की स्पष्ट प्रवृत्ति रेखांकित की जा सकती है। मज़दूर वर्ग ने असहयोग आंदोलन तथा साइमन कमीशन के बहिष्कार में भी सक्रिय भाग लिया। नवजात भारतीय सर्वहारा वर्ग में बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना की उपरोक्त तथ्य पुष्टि करते हैं।

राष्ट्रीय पूंजी की हलकों में भी इस अवधि में हलचल सामने आई। युद्ध के बाद स्वदेशी शासन की मांग साम्राज्यवादी सरकार द्वारा ठुकरा दिये जाने, जनविरोधी रौलेट एक्ट को जारी

रखने, जलियांवाला बाग हत्याकांड, मांटेगू-चेम्सफोर्ड सुधारों की अपर्याप्ता ने, और इन सबके साथ भारतीय अर्थतंत्र पर साम्राज्यवादी शिकंजे ने भारतीय पूंजीपति वर्ग को अपनी मांगों के पक्ष में व्यापक आंदोलन चलाने के लिए बाध्य कर दिया। इस अवधि में ही भारतीय पूंजीपति वर्ग की प्रमुख प्रवक्ता भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का राजनीतिक चरित्र एक अल्पसंख्यक उदारवादी संविधानिक निकाय से बदलकर व्यापक जनाधार वाली राजनीतिक पार्टी का हो गया। सक्रिय निम्न पूंजीवादी कार्यकर्ताओं के संचालन में किसानों के अनेक तबकों को शामिल करते हुए कांग्रेस पार्टी गांधी के सर्वोच्च नेतृत्व के अधीन भारतीय पूंजीपति वर्ग की राजनीतिक-आर्थिक स्थितियों को सुदृढ़ बनाने की दिशा में बढ़ी। आवर्ती जन अभियानों के माध्यम से इसने औपनिवेशिक शासन को अनेकानेक छूटें देने के लिए बाध्य कर दिया। नेहरू तथा सुभाष बोस जैसे वामपंथी कांग्रेसियों के होते हुए भी गांधी राष्ट्रीय आंदोलन की केंद्रीय शक्ति बने रहे। अपनी अहिंसावादी आस्था के साथ गांधी न केवल औपनिवेशिक शासन पर दबाव डालने में सफल हुए, बल्कि बुर्जुवा जनवादी आंदोलनों के बीच से सामाजिक क्रांति को लक्षित राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलनों के उभार को भी बार-बार तरीके से रोका। इस प्रकार कांग्रेस के अंतर्गत राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के संकीर्ण वर्गीय हितों के साथ जन समुदाय के व्यापक हितों का विचित्र संयोजन देखा जा सकता है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) तीसरे दशक में भारत के औद्योगिक विकास के वास्तविक प्रेरक क्या थे?

....
....
....
....

2) प्रथम विश्वयुद्ध के बाद देश की बदलती हुई राजनीतिक परिस्थिति की ओर भारतीय मज़दूर वर्ग की प्रतिक्रिया कैसी थी?

....
....
....
....

3) स्वतंत्रता संघर्ष में भारतीय राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग ने कौन सी रणनीति अपनाई?

....
....
....
....

27.3 भारत में मार्क्सवादी राजनीतिक चिंतन

भारत में आधुनिक राजनीतिक विचारों का विकास मुख्यतः पश्चिम, विशेषकर, ब्रिटेन से लिए गये उदारवादी सांविधानिक अवधारणाओं पर केंद्रित था। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन के प्रवर्तक पश्चिम में शिक्षा प्राप्त उदार बौद्धिक समुदाय थे, जिनकी विश्व दृष्टि लॉक, मिल, बेंथम और स्पैंसर जैसे मूर्धन्य चिंतकों की शिक्षाओं से बनी थी। एक ओर तो वे समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व के सिद्धांतों पर आधारित धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक दृष्टिकोण के विकास में लगे, दूसरी ओर उन्होंने शांतिपूर्ण सांविधानिक रीतियों के क्रमिक तथा नियमित प्रगति में आस्था को पुष्ट किया। यह सच है कि साम्राज्यवाद तथा भारतीय राष्ट्र के बीच बनते अंतर्विरोध ने उदारवादी सक्रिय चिंतकों को बहिष्कार, असहयोग और सिविल नाफरमानी (सविनय अवज्ञा) आंदोलन को दबाव की कार्यनीति के रूप में अपनाने के

लिए बाध्य किया। लेकिन राममोहन रॉय से लेकर गांधी तक उदारवादी राजनीतिक चिंताधारा ने संवैधानिकता का परित्याग कभी नहीं किया। जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चंद्र बोस और जयप्रकाश नारायण जैसे अत्यंत अग्र विचारकों ने भी वर्गीय शांति एवं वर्गीय सामंजस्य के सिद्धांतों को ही मान्यता दी। शक्ति तथा समाज के हितों के बीच समुचित सामंजस्य स्थापित करने संबंधी उनके सरोकार ने सामूहिकतावाद को अंध स्वीकृति देने साथ अति रूप में स्वीकार करने के प्रति सजग बनाया था।

उपरोक्त संदर्भ में ही भारत में मार्क्सवादी राजनीतिक चिंताधारा के योगदान को समझा जा सकता है। क्योंकि राष्ट्रवादी आंदोलन की कार्यसूची में पहली बार कम्युनिस्ट विचार ने महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक मसलों को शामिल किया जो उदारवादी राजनीतिक चिंतकों की दृष्टि से परे बने रहे थे।

27.3.1 स्वातंत्र्य-पूर्व काल

भारत में मार्क्सवाद का आरंभिक प्रचार-प्रसार एक राजनीतिक कार्यक्रम के रूप में हुआ था, न कि एक नई विश्व दृष्टि अथवा सांस्कृतिक अभियान के रूप में। विकसित देशों की भांति भारत में मार्क्सवाद पहले एक बौद्धिक शक्ति और फिर व्यावहारिक कार्यक्रम के रूप में विकसित नहीं हुआ। इसलिए कि भारत में मार्क्सवाद के प्रवर्तकों का ध्यान बौद्धिक सक्रियता की अपेक्षा राजनीतिक क्रियाकलाप की ओर अधिक केंद्रित था। इसीलिए भारत के मार्क्सवादियों की किसी एक महत्वपूर्ण कृति का साक्ष्य हम नहीं पाते, जिसे चिंतन के मौलिक योगदान की संज्ञा दी जा सके। कारण इस तथ्य में निहित है कि भारत के मार्क्सवादियों नें भारतीय सामाजिक यथार्थ से मार्क्सवाद के समन्वय का प्रयास नहीं किया। दूसरे शब्दों में, मार्क्सवादी अपने चिंतन का भारतीय परिस्थितियों में रचनात्मक उपयोग नहीं कर पाये। यांत्रिक रूप से "आधार-अधिरचना" विश्लेषण विधि अपनाने को आतुर भारतीय मार्क्सवादियों ने, माओ अथवा ग्राम्सी की भांति अधिरचना की सापेक्ष स्वायत्तता का प्रश्न अर्थात् सामाजिक चेतना के प्रभाव का प्रश्न नहीं उठाया। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के समूचे काल में सैद्धांतिक निर्देशन के लिए कॉमिन्टर्न तथा अन्य बिरादरना पार्टियों पर उनकी अत्यधिक निर्भरता का यह भी एक कारण था। स्वतंत्रता संघर्ष में प्रभावी हस्तक्षेप कर पाने में कम्युनिस्ट पार्टी की विफलता भी उपरोक्त कारण से थी। इस अवधि में मार्क्सवादी राजनीतिक चिंताधारा की सामान्य विशेषताओं को सारांश में निम्न प्रकार से दिया जा सकता है:

क) भारतीय मार्क्सवादियों ने राष्ट्रवाद तथा अंतर्राष्ट्रीयतावाद के सामंजस्य का प्रयास किया। कम्युनिस्ट के रूप में वे सभी सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद के पक्षधर थे। कॉमिन्टर्न के अनुदेशों का उन्होंने अंधानुशरन किया। लेकिन उनमें राष्ट्रवाद की भी असीम चेतना थी। उन्होंने सर्वाधिक प्रभावशाली रूप में ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा भारतीय राष्ट्रवाद के बीच अंतर्विरोध को रेखांकित किया। उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि राष्ट्रीय आंदोलन का लक्ष्य पूर्ण स्वातंत्र्य से कम कुछ नहीं हो सकता। दरअसल, "स्वराज" प्रस्ताव अपनाने के लिये भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को बाध्य करने में उनकी विशिष्ट भूमिका रही थी।

ख) मार्क्सवादी विचारकों ने ही भारत में पहली बार वर्ग आधारित राजनीतिक दृष्टिकोण का प्रवर्तन किया। एम. एन. रॉय इत्यादि का दृढ़ विश्वास था कि पश्चिम की भांति भारतीय सामाजिक विकास की व्याख्या के लिए भी ऐतिहासिक भौतिकवाद और वर्ग संघर्ष के सिद्धांतों का समुचित प्रयोग किया जा सकता है।

ग) भारत के सामाजिक विकास क्रम का एक निश्चित बोध भारतीय कम्युनिस्टों को था। उनके तर्कों के अनुसार प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारत में पूंजीवाद का पर्याप्त विकास हो चुका था। "डिकोलोनाइज़ेशन" सिद्धांत पर आधारित उनका अन्य तर्क यह था कि भारतीय पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद के साथ समझौता कर लिया था और इसलिए साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के नेतृत्व का नैतिक अधिकार उसे नहीं था। एम.एन. रॉय ने अपनी पुस्तक "इंडिया इन ट्रांज़िशन" में पहली बार यह सिद्धांत सूत्रबद्ध किया था। लेकिन इसके अधिक प्रखर प्रवक्ता थे सौम्येन्द्रनाथ ठाकुर जिन्होंने 1928 में यह प्रतिपादित किया कि "जिस सीमा तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत के पूंजीवादी विकास के रास्ते में अवरोधों को दूर किया है, उसी सीमा तक वह अधिकाधिक समझौतापरस्ती की ओर बढ़ रहा है और एक-एक करके उसके विभिन्न गुट साम्राज्यवाद के अनुचर बनते जा रहे हैं।" इस दृष्टिकोण के अनुसार भारतीय पूंजीपति वर्ग को

पूर्णतया प्रति क्रांतिकारी शक्ति माना जाना चाहिए था, राजनीतिक रूप से साम्राज्यवादी शिविर के साथ, क्योंकि साम्राज्यवादी शाखाओं की भांति वे भी देश के औद्योगिकीकरण के लिये प्रयत्नशील थे। इस तथ्य की ओर संकेत किया जाना चाहिए कि साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के हितों में इस प्रकार की स्थूल समानता दिखाने के फलस्वरूप चौथे और पाँचवें दशक में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने एक अतिवामपंथी रुझान अपना लिया था और साम्राज्यवाद तथा राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के बीच गहराते अंतर्विरोध को समझने में असफल रही।

घ) अपनी कमियों के बावजूद भारतीय मार्क्सवादियों ने मज़दूर वर्ग और किसान समुदाय, विशेषकर निर्धन एवं भूमिहीन किसानों के संयुक्त मोर्चे पर समुचित रूप में बल दिया। उनके अनुसार, केवल ऐसा मोर्चा ही राष्ट्रवादी आंदोलन को एक जनवादी सारतत्व प्रदान कर सकता था।

27.3.2 स्वातंत्र्योत्तर काल

1947 में भारत के स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद समूची स्थिति में मूलगामी परिवर्तन आया। ब्रिटेन अथवा किसी अन्य साम्राज्यवादी शक्ति को अब मुख्य शत्रु के रूप में चरित्रांकित नहीं किया जा सकता था। इसलिए भारतीय राज सत्ता के चरित्र का प्रश्न उभरकर सामने आया। इससे जुड़े रूप में क्रांति की मंज़िल का प्रश्न भी उठा। दुर्भाग्यवश, स्वतंत्रता के चालीस साल बाद भी कम्युनिस्ट पार्टियां भारतीय राज सत्ता का एक द्वंद्वात्मक परिपाटीबद्ध और व्यापक मार्क्सवादी विश्लेषण नहीं विकसित कर सके हैं। इस बिंदु पर मार्क्सवादी बौद्धिक भी एकमत नहीं हैं। संबंधित विवादों की चर्चा न करते हुए हम संक्षेप में उपरोक्त प्रश्न पर विभिन्न पार्टियों तथा बौद्धिकों के प्रमुख तर्क की रूपरेखा यहां देंगे :

क) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने भारतीय राज्य सत्ता का चरित्रांकन राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की राज्य सत्ता के रूप में किया है। भाकपा के अनुसार राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के अंतर्गत इज़ारेदार नहीं आते, जिनकी प्रकृति सामंतवाद तथा साम्राज्यवाद से समझौते की है। बल्कि साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में भागीदारी के कारण राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का एक हिस्सा अपने दृष्टिकोण तथा व्यवहार में प्रगतिशील बन चुका है। इस प्रगतिशील चरित्र के प्रतीक रूप में भाकपा छोटे तथा बड़े सार्वजनिक क्षेत्रीय उद्यमों, इज़ारेदारी-विरोधी (MRTP) अधिनियम, बैंक-राष्ट्रीयकरण, ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि सुधार और गुटनिरपेक्ष विदेश नीति की ओर संकेत करती है। उपरोक्त कारकों के चलते ही इज़ारेदार भारतीय राज्य की नीतियों पर निर्णायक प्रभाव नहीं डाल सकतीं। इस प्रकार राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के प्रगतिशील चरित्र से आश्वस्त भाकपा सामंतवाद, साम्राज्यवाद तथा इज़ारेदार घरानों के विरुद्ध लक्षित राष्ट्रीय जनवादी क्रांति के लिए आह्वान करती है। कम्युनिस्ट पार्टी पूंजीपति वर्ग को इस क्रांति में सहयोगी मानती है, जो गैर-पूंजीवादी विकास पथ अपनाकर शांतिपूर्ण साधनों से पूरी की जा सकती है।

ख) मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (माकपा) के अनुसार भारतीय राज्य बड़े पूंजीपतियों के नेतृत्व के अधीन पूंजीपति वर्ग तथा भू-स्वामियों के शासन का अभिकरण है। यह पूंजीपति वर्ग पूंजीवादी विकास को बढ़ावा देने के लिए विदेशी वित्तीय पूंजी से अधिकाधिक समझौता कर रहा है। अपने प्रतिगामी और समझौतावादी चरित्र के कारण भारत का शासक वर्ग जनवादी क्रांति संबंधी कार्यभारों को पूरा करने में असफल रहा है। उपरोक्त कार्यभार के अंतर्गत आता है भारत के सामंती, अर्ध-सामंती और साम्राज्यवादी तत्वों का उन्मूलन। इसको संपन्न करने के लिए जनता की जनवादी क्रांति की आवश्यकता है, जिसका सारतत्व सामंतवाद, साम्राज्यवाद तथा बड़े पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध संचालित कृषि क्रांति है। मज़दूर वर्ग ही इस क्रांति को नेतृत्व दे सकता है, निर्धन एवं भूमिहीन किसानों के साथ मोर्चा बनाकर। धनी किसान और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग इस क्रांतिकारी मोर्चे में सहयोगी की भूमिका निभा सकते हैं।

ग) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) के अनुसार भारतीय राज्य का चरित्र अर्ध-सामंती एवं अर्ध-औपनिवेशिक है और इसे अभी स्वतंत्रता प्राप्त करनी है। इसलिए यह सामंतवाद के विध्वंस, भूमिहीनों तथा काश्तकारों के बीच भूमि वितरण तथा देश की वास्तविक स्वतंत्रता की प्राप्ति को क्रांति की वर्तमान मंज़िल का मुख्य उद्देश्य मानती है। यह मंज़िल नक्सलवादी क्रांति की है जिसका सारतत्व कृषि क्रांति है। सामंतों, साम्राज्यवादियों और दलाल पूंजीपति वर्ग की सत्ता का समापन इस क्रांति से ही संभव है।

घ) के.एन. राज, हमज़ा अलवी और प्रणब बर्धन जैसे मार्क्सवादी विद्वान अर्थवादी और अभिकरणवादी दृष्टिकोणों से स्वयं को मुक्त कर सके हैं और उन्होंने भारतीय राज्य की

तुलनात्मक स्वायत्तता का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की स्थितियों में हुए विकासक्रमों ने भारतीय राज्य की सापेक्ष स्वायत्ता संभव बनाई है। ये विकास रूप हैं :

1) स्वतंत्रता के समय निम्न मध्यवर्गों का संख्या की दृष्टि से वर्चस्व 2) आर्थिक क्रियाकलापों में राज्य की व्यापक हिस्सेदारी 3) समाजवादी देशों से अन्तरण की सुलभता 4) स्वतंत्रता के समय साम्राज्यवादी सत्ता से विरासत रूप में एक अति विकसित राजतंत्र का मिलना 5) प्रभुत्वशाली वर्गों तथा उनकी पार्टियों, राज्यतंत्रों को अपने उपकरण के रूप में प्रयोग करने की असमर्थता 6) आर्थिक क्षेत्र में राज्य का प्रत्यक्ष स्वामित्व एवं नियंत्रण और 7) राज्यतंत्र से जुड़े अभिजन समुदाय को प्राप्त व्यापक प्रतिष्ठा और अपने विचारधारात्मक उद्देश्यों की उनके एक समुचित समग्र चेतना। इन विद्वानों के अनुसार उपरोक्त कारकों के फलस्वरूप राज्य को सापेक्ष स्वायत्तता प्राप्त है, जो इसे वर्गीय गठबंधनों को निश्चित रूप देने, नये वर्गों के लिए भौतिक आधार प्रदान करने और अर्थतंत्र में निर्णायक भूमिका निभाने में समर्थ बनाती है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) भारत में मार्क्सवादी सिद्धांत का विकास क्यों नहीं हो पाया?

....
....
....
....

2) भारत के मार्क्सवादयों ने अंतर्राष्ट्रवाद के साथ राष्ट्रवाद का सामंजस्य कैसे किया?

....
....
....
....

3) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी भारतीय राज्य सत्ता का चरित्रांकन कैसे करती है?

....
....
....
....

4) माकपा और भाकपा द्वारा किये गये भारतीय राज्य सत्ता के चरित्रांकनों में विभेद आप कैसे करेंगे?

....
....
....
....

5) भारतीय राज्य सत्ता की तुलनात्मक स्वायत्तता का विवरण दीजिए।

....
....
....
....

27.4 सारांश

इस इकाई का समापन हम भारत में मार्क्सवादी चिंताधारा की सामान्य प्रवृत्तियों की ओर संकेत के साथ करेंगे। स्वातंत्र्य-पूर्व काल में भारत के मार्क्सवादियों ने प्रत्यक्षत: उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष पर सबसे अधिक बल दिया। इसीलिए उन्होंने कॉमिटर्न के अधीन अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर वर्गीय आंदोलन के साथ एकजुटता की आवश्यकता अनुभव की थी। बहरहाल, इस प्रक्रिया में उन्होंने कॉमिटर्न के अनुदेशों के अनुपालन के प्रति अति-उत्साह का परिचय देते हुए भारतीय राजनीतिक यथार्थ की उपेक्षा की। भारतीय पूंजीपति वर्ग और साम्राज्यवाद के बीच अंतर्विरोधों के भ्रांति बोध ने उन्हें सविनय अवज्ञा आंदोलन और भारत छोड़ो के समय वामपंथी संकीर्णता की दिशा में मोड़ दिया। फलस्वरूप, वे व्यापक जनसमुदाय से अलग-थलग जा पड़े। स्वांतत्र्योत्तर काल में उन्होंने अपने पहले की गलतियां सुधारने का प्रयास किया और चुनाव तथा राष्ट्रीय जनवादी प्रक्रिया में भाग लिया। लेकिन तब भी राजसत्ता के चरित्र और क्रांति की मंज़िल से जुड़े महत्वपूर्ण प्रश्नों के सापेक्ष उनके बीच व्याप्त मतभेदों के कारण भारतीय कम्युनिस्ट विभाजित बने हुए हैं। इसलिये वे न तो भारतीय राजसत्ता के बारे में कोई समुचित सिद्धांत सूचित कर पाये हैं और न सत्ता के राजनीतिक गलियारे में बैठ पाये हैं। इस विवेचन का आशय भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के विश्लेषण में वर्गाधारित दृष्टिकोण का महत्व कम करना नहीं है। कम से कम इस दृष्टि से भारतीय कम्युनिस्टों का योगदान प्रशंसनीय हैं।

27.5 शब्दावली

राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग : स्वदेशी उद्योग तथा पूंजीपतियों का वह तबका जो विदेशी आर्थिक नियंत्रण से कमोबेश स्वतंत्र है और जो साम्राज्यवादी शिकंजे से अधिकाधिक वित्तीय स्वाधीनता के लिए संघर्षशील है।

अधिरचना की तुलनात्मक स्वायत्तता का आशय है कि राज्य, संस्कृति, विचारधारा इत्यादि जैसे सामाजिक अधिरचना के तत्व पूरी तरह अथवा एकतरफा रीति से समाज के आधार अथवा आर्थिक संरचना से ही निर्धारित नहीं होते, बल्कि वे भी किन्हीं स्थितियों में आधार को प्रभावित, निश्चित करते हैं।

डिकौलोनाइज़ेशन सिद्धांत के अनुसार प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के वर्षों में भारत का औपनिवेशिक शासन देश के औद्योगिकीकरण की नीति का अनुसरण कर रहा था। यह तथ्य स्वदेशी पूंजीपति वर्ग के हितों से संगति में सिद्ध हुआ। इसलिए दोनों के बीच और अधिक सहयोग देखने को मिला। फलस्वरूप राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग ने अपना क्रांतिकारी चरित्र खो दिया।

राज्य सत्ता की तुलनात्मक स्वायत्तता का आशय किन्हीं ऐतिहासिक प्रसंगों में राज्य को प्राप्त आंशिक स्वायत्तता, जबकि वर्ग शक्तियों का संयोजन इस प्रकार का बना हो कि कोई एक विशेष वर्ग राज्य तंत्र पर नियंत्रण और अपने ही हितों में उसका उपयोग न कर सके।

27.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

के.एन. पन्निकर (सं) : *नेशनल एंड लेफ्ट मूवमेंट इन इंडिया* (विकास, 1980)

जी.डी. ओवरस्ट्रीट तथा एम. विंडमिलर : *कम्युनिज़्म इन इंडिया* (बंबई, 1960)

जे.पी. हैथकाक्स : *कम्युनिज़्म एंड नेशनलिज़्म इन इंडिया* (प्रिंसटन, 1971)

बिपन चंद्र (सं) : *इंडियन लेफ्ट : क्रिटिकल अप्रेज़ल* (विकास, 1983)

बिपन चंद्र : *नेशनलिज़्म एंड कौलोनियलिज़्म इन इंडिया* (ओरियंट लौंगमैन, 1981)

एच. श्रीकांत : *ऑन रिलेटिव ऑटोनोमी ऑफ इंडियन स्टेट* (हैदराबाद, 1985)

27.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उत्तर के लिए देखें 27.2.1
2) उत्तर के लिए देखें 27.2.2
3) उत्तर के लिए देखें 27.2.3

बोध प्रश्न 2

1) उत्तर के लिए देखें 27.3.1
2) उत्तर के लिए देखें 27.3.1 क
3) उत्तर के लिए देखें 27.3.1 ग
4) उत्तर के लिए देखें 27.3.2 क
5) उत्तर के लिए देखें 27.3.2 ख और ग
6) उत्तर के लिए देखें 27.3.2 ख

इकाई 28 कम्युनिस्ट (वामपंथ) और राष्ट्रीय आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य
28.1 प्रस्तावना
28.2 भारत में वामपंथी राजनीति की उत्पत्ति
28.2.1 पृष्ठभूमि : विकासकालीन गुट
28.2.2 शुरुआती कम्युनिस्ट गुटों की गतिविधियां
28.2.3 कॉमिन्टर्न में वैचारिक बहस
28.2.4 मानवेंद्र नाथ रॉय की भूमिका
28.3 मज़दूर-किसान पार्टियां 1926-30
28.3.1 मज़दूर-किसान पार्टी, एम.एन. रॉय और कांग्रेस
28.3.2 मज़दूर-किसान पार्टियों के कार्य और साम्यवादी (कम्युनिस्ट) प्रभाव का विकास
28.3.3 मज़दूर-किसान पार्टियों का उग्र-वामपंथी झुकाव
28.4 संयुक्त मोर्चा, 1934-40
28.4.1 कांग्रेस के वामपंथी गुट
28.4.2 जन-आंदोलनों का विकास और संयुक्त मोर्चे की अवधारणा पर वैचारिक बहस
28.4.3 वामपंथी मोर्चे में फूट का दौर
28.5 द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान कम्युनिस्ट आंदोलन
28.5.1 "जनयुद्ध" की रणनीति
28.5.2 कम्युनिस्ट और पाकिस्तान का मुद्दा
28.6 सारांश
28.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
28.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

28.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में वामपंथी राजनीति की भूमिका पर प्रकाश डालना है। इसे पढ़ने के बाद आप निम्न बातें समझ सकेंगे :

- भारतीय कम्युनिस्टों की सामाजिक उत्पत्ति और उनकी वैचारिक दिशा,
- कांग्रेस और वामपंथी/समाजवादी राजनीतिज्ञों से उनके संबंध,
- भारत की आजादी की लड़ाई में उनका सैद्धांतिक और सक्रिय योगदान, और
- राष्ट्रीय आंदोलन को दिशा देने में भारतीय कम्युनिस्टों की असफलता।

28.1 प्रस्तावना

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में विभिन्न वामपंथी गुटों की भूमिका का मुद्दा बहुत जटिल है। ये गुट कांग्रेस के अंदर रहकर तो काम करते ही थे, अपनी स्वतंत्र गतिविधियां भी चलाते थे। इस दौर के वामपंथ में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (भाकपा) एम.एन. रॉय के समर्थक, और कांग्रेस-सोसलिस्ट पार्टी के अलावा वे जवाहरलाल नेहरू और सुभाष चंद्र बोस भी शामिल माने जाते थे। इन वामपंथी गुटों के आपसी संबंध भी काफी जटिल थे। हम उनके मतभेदों और एकता की चर्चा आगे करेंगे। इस इकाई में 1925-47 के दौरान वामपंथी गुटों और महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलनों के संबंधों के विभिन्न आयामों पर भी चर्चा की गई है।

28.2 भारत में वामपंथी राजनीति की उत्पत्ति

राष्ट्रीय आंदोलन में वामपंथी धारा की नींव रूसी क्रांति से प्रभावित राष्ट्रवादियों ने डाली। अलग-अलग पृष्ठभूमियों से आने वाले ये राष्ट्रवादी राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए नये रास्ते की तलाश में थे।

28.2.1 पृष्ठभूमि : विकासकालीन गुट

भारत में वामपंथी धारा की पृष्ठभूमि में प्रमुख रूप से निम्न 4 विकासकालीन गुट थे :

1) प्रथम विश्वयुद्ध (1914-18) के दौरान जर्मनी, अमेरिका, तुर्की, अफ़गानिस्तान आदि देशों में रहकर भारत में साम्राज्य विरोधी क्रांति की योजना लागू करने की कोशिश करने वाले भारतीय क्रांतिकारी। इस श्रेणी में वीरेंद्र नाथ चट्टोपाध्याय, एम. बरकतुल्ला, एम.पी.बी.टी. आचार्या, एम.एन. रॉय और अबनी मुखर्जी जैसे लोग प्रमुख थे।
2) सर्व-इस्लामी खिलाफत आंदोलन के राष्ट्रीय क्रांतिकारी जो युद्ध के दौरान (1914-16) विदेश चले गए और वे जो युद्धोपरांत के हिजरत आंदोलन में शरीक हुए थे। इस श्रेणी में मुहम्मद अली सेपासी, रहमत अली खां, फिरोजुद्दीन मंसूर, अब्दुल माजिद और शौकत उस्मानी आदि के नाम प्रमुख हैं।
3) अमेरिका के पंजाबी प्रवासी मज़दूरों द्वारा गठित गदर पार्टी जिसने कामा गाटा मारु जहाज के भारत पहुंचने पर असफल सशस्त्र क्रांति का प्रयास किया। गदर-क्रांतिकारियों में रतन सिंह और संतोख सिंह प्रमुख थे और काफी समय तक वे कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के सीधे संपर्क में रहे।
4) सबसे प्रमुख गुट राष्ट्रीय आंदोलन में शरीक क्रांतिकारियों का था। इनमें से अधिकांश कांग्रेस की वामपंथी धारा, आतंकवादी समूहों और पार्टियों, खिलाफत 1922 में असहयोग आंदोलन वापस लेने के बाद वे रूसी क्रांति के प्रभाव में वैज्ञानिक समाजवाद और किसानों और मज़दूरों के वर्ग-संगठनों की विचारधारा के प्रति आकर्षित हुए। बाद में उनमें से कई विभिन्न क्षेत्रों में शुरुआती कम्युनिस्ट गुटों के संस्थापक बने, जैसे, बंबई में एस.ए. डांगे, मद्रास में सिंगारवेल चेत्रियार, कलकत्ता में मुजफ्फर अहमद और लाहौर का इंकलाब गुट।

28.2.2 शुरुआती कम्युनिस्ट गुटों की गतिविधियां

शुरुआती दौर में कम्युनिस्ट गुटों का समन्वय ताशकंद में, कॉमिन्टर्न की दूसरी कांग्रेस के बाद 1 अक्टूबर 1920 को एम.एन. रॉय द्वारा गठित भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के आधार पर विदेश स्थित कम्युनिस्ट केंद्रों द्वारा होता था। ताशकंद स्थित यह केंद्र विचारधारात्मक और प्रचारात्मक कार्यों का संचालन करता था। यह केंद्र प्रगतिशील राष्ट्रवाद से साम्यवाद में विचारधारात्मक परिवर्तन का प्रमुख वाहक था।

28.2.3 कॉमिन्टर्न में वैचारिक बहस

भारतीय राजनीति पर पहली मार्क्सवादी बहस जुलाई 1920 में कॉमिन्टर्न के दूसरी कांग्रेस में मास्को में हुई। भारत की राजनैतिक स्थिति के बारे में लेनिन और एम.एन. रॉय में गंभीर मतभेद थे। लेकिन कुछ मूलभूत मुद्दों पर उनमें सहमति थी। मसलन राष्ट्रवाद और बुर्जुआ विचारधारा है और सर्वहारा आंदोलन को बुर्जुआ आंदोलन से स्वतंत्र और अलग होना चाहिए। दोनों के मतभेद राष्ट्रीय आंदोलन और सर्वहारा आंदोलन के आपसी संबंधों को लेकर थे। लेनिन के विचार से सर्वहारा आंदोलन को राष्ट्रीय आंदोलन के साथ सहयोग करना चाहिए जबकि रॉय का मानना था कि कम्युनिस्ट इंटरनेशनल को भारत में स्वतंत्र कम्युनिस्ट आंदोलन विकसित करने का प्रयास करना चाहिए। लेनिन को कम्युनिस्ट पार्टी के गठन के लिए भारत में स्थिति की अनुकूलता पर संदेह था जबकि रॉय की गणना के अनुसार भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन शुरू करने के लिए स्थितियां परिपक्व थीं।

उस समय लेनिन और बॉल्शेविकों को विश्व क्रांति अवश्यंभावी लग रही थी और वे सभी साम्राज्य-विरोधी आंदोलनों को इसकी प्रक्रिया में शरीक करना चाहते थे। उस समय रॉय राष्ट्रीय आंदोलन के समर्थन की लेनिन की राय से सहमत हो गये। भारत में यह असहयोग आंदोलन का दौर था। लेनिन व रॉय को गांधी की अहिंसक रणनीति में कोई आस्था नहीं थी

और चौरी-चौरा की घटना के संदर्भ में गांधी द्वारा आंदोलन वापस लेने के बाद तो वे खुलकर गांधीवाद का विरोध करने लगे। रॉय, गांधी को पूंजीपति वर्ग का नेता मानते थे और मानते थे कि इस वर्ग की प्रगतिशील क्षमता समाप्त हो चुकी थी। उनको पक्का विश्वास था कि सशस्त्र क्रांति ही भारत से अंग्रेजी राज की जड़ें उखाड़ सकती थी। और सशस्त्र क्रांति का नेतृत्व सुसंगठित कम्युनिस्ट पार्टी ही कर सकती थी। गांधी चूंकि हिंसा के विरुद्ध थे, इसलिये वे रॉय के विचार से क्रांति के भी विरुद्ध थे।

28.2.4 मानवेंद्र नाथ रॉय की भूमिका

रॉय, भारतीय सामाजिक यथार्थ की मार्क्सवादी व्याख्या करने वाले पहले लेखक थे।

1) राष्ट्रवाद, पूंजीवादी विचारधारा है और इसकी प्रगतिशील संभावनाएं समाप्त हो चुकी थीं। अतः रॉय के विचार से, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल को उपनिवेशों में चल रहे राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों का समर्थन करने की बजाय विरोध करना चाहिए।
2) प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति तक भारत में पर्याप्त पूंजीवादी विकास हो चुका था और मज़दूर वर्ग, स्वतंत्र रूप से साम्राज्य-विरोधी आंदोलन का नेतृत्व करने में सक्षम था। रॉय के अनुसार, साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन सफल हो सकता था।
3) कांग्रेस भारतीय पूंजीपतियों की पार्टी थी और गांधी पूंजीपति वर्ग के नेता। अतः मजदूरों के वर्ग संगठनों को गांधीवादी जन-आंदोलनों से दूर रहना चाहिए।
4) गांधीवादी शांतिपूर्ण जन-आंदोलनों से राष्ट्रीय आज़ादी नहीं मिल सकती, सशस्त्र विद्रोह के ही जरिये भारत में अंग्रेजी राज खत्म हो सकता था। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व मजदूरों का अनुशासित और गैर कानूनी संगठन ही कर सकता था। इसलिए भारत में कम्युनिस्ट पार्टी का गठन आवश्यक था जो प्रगतिशील तत्वों को कांग्रेस के प्रभाव से मुक्त कर सके।

रॉय की व्याख्या में एक मूलभूत गड़बड़ी यह थी कि वे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की पूंजीवादी सुधारवादी और राष्ट्रीय क्रांतिकारी धाराओं को अलग-अलग करके समझने में असफल रहे। इसी के चलते उन्होंने पिछड़े औपनिवेशिक देशों के सर्वहारा संगठनों द्वारा पूंजीवादी-सुधारवादी आंदोलनों के समर्थन की रणनीति का महत्व नहीं समझा।

लेकिन रॉय राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा से बिल्कुल ही कटे हुए नहीं थे। 1921 में अहमदाबाद में हुए कांग्रेस के आठवें अधिवेशन में एक प्रस्ताव भेजकर उन्होंने मांगों को वरीयता देने का अनुमोदन किया जिससे उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा से जोड़ा जा सके। 1922 के गया अधिवेशन में भी "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्य-योजना" शीर्षक से एक दस्तावेज भेजा जिसे अधिवेशन में हसरत मोहानी ने वितरित और पेश किया। इस दस्तावेज में पूर्ण राजनैतिक आजादी, जमींदारी प्रथा का अंत, वयस्क मताधिकार और उत्पादन, वितरण और विनिमय के प्रमुख साधनों पर सामाजिक स्वामित्व की मांगों पर जोर दिया गया था। अतः हम पाते हैं कि अपनी वामपंथी संकीर्णतावादी सीमाओं के बावजूद रॉय का योगदान महत्वपूर्ण है। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की मार्क्सवादी व्याख्या की शुरुआत की।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) उन प्रमुख गुटों के नाम बताइए जिन्होंने शुरुआती कम्युनिस्टों के उदय की पृष्ठभूमि प्रदान की।

....

....

....

....

2) भारत की राजनैतिक स्थिति के बारे में लेनिन और एम.एन. रॉय के मतभेदों के क्या कारण थे?

....

....

....

....

3) ताशकंद केंद्र का क्या महत्व था?

....

....

....

....

4) भारतीय सामाजिक यथार्थ की एम.एन. रॉय की व्याख्या की प्रमुख बातें क्या हैं?

....

....

....

....

5) रॉय की व्याख्या में मूलभूत गड़बड़ी क्या थी?

....

....

....

....

28.3 मज़दूर-किसान पार्टियां, 1926-30

1920-25 के दौरान एम.एन. रॉय का भारत में कम्युनिस्टों के साथ संपर्क बना रहा। मार्क्सवाद की अपनी समझ के अनुसार रॉय उन्हें दिशा-निर्देश देते रहते थे। अपने सभी प्रपत्रों में वे भूमिगत कम्युनिस्ट पार्टी के गठन पर जोर देते रहे। लेकिन अंग्रेज शासक "बालशेविक" साहित्य और क्रांतिकारियों के भारत में प्रवेश की निंगरानी के प्रति काफी चौकस थे। "पेशावर षड्यंत्र" (1922-24) और "कानपुर षड्यंत्र" (1924) के मुकदमें इसी चौकसी के परिणाम थे। सरकार के दमनकारी रवैये को देखते हुए, संवैधानिक रूप से कम्युनिस्ट पार्टी का गठन असंभव था। मार्क्सवादियों के सामने मुख्य समस्या इन स्थितियों में जन-साधारण तक अपनी बात पहुंचाने की कार्य नीति की थी। इसी संदर्भ में मजदूरों और किसानों की वैधानिक पार्टी "मजदूर-किसान पार्टी" (डब्लू.पी.पी.) के गठन पर पहली बार विचार हुआ जिसके अनुसार, व्यापक जन-आंदोलन वैधानिकता के ढांचे में ही खडा किया जा सकता था।

एम.एन. रॉय.के अनुसार, डब्लू.पी.पी. (वर्कर्स एंड पेजेंट्स पार्टी) "वर्ग हितों पर आधारित, राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए जन-आंदोलन का हिमायत करने वाली जन-साधारण की राजनैतिक पार्टी" थी। लेकिन इस वैधानिक पार्टी के केंद्र में अवैधानिक कम्युनिस्ट पार्टी थी जो इसे नेतृत्व और दिशा-निर्देश प्रदान करती। रॉय का मानना था कि पार्टी पर कम्युनिस्ट नियंत्रण से ही राष्ट्रीय आंदोलन में मजदूरों की नेतृत्वकारी भूमिका सुनिश्चित की जा सकती थी। इस दोहरे उद्देश्य वाली पार्टी—मज़दूर किसान पार्टी के गठन की बात रॉय ने 1922 में चलायी। रॉय के अनुसार, "मज़दूर-वर्ग के हितों की जागरूक प्रहरी" की भूमिका में इस वैधानिक पार्टी का प्रथम उद्देश्य था अंग्रेजी-राज से राष्ट्रीय स्वतंत्रता और फिर "सर्वहारा-तानाशाही" की स्थापना।

28.3.1 मज़दूर-किसान पार्टी, एम.एन. रॉय और कांग्रेस

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कांग्रेस की वामपंथी धारा में वे लोग थे जो रूसी क्रांति और उसके बाद के सामाजिक पुनर्निर्माण से प्रभावित थे। मज़दूरों और किसानों के आंदोलनों तथा समाजवादी आदर्शों के प्रति आकर्षित ये युवा-कांग्रेसी तीसरे इंटरनेशनल (कॉमिन्टर्न) के

प्रति प्रतिबद्ध नहीं थे, न ही इनके पास भारतीय क्रांति की कोई स्पष्ट रूपरेखा थी। अपनी साम्राज्य-विरोधी नीतियों के कारण, कॉमिन्टर्न, स्वाभाविक रूप से औपनिवेशिक लोगों का ध्यान आकर्षित करने लगा। वे बालशेविक के प्रशंसक तो थे किन्तु बालशेविक विचारों और उनकी भाषा उन्हें नहीं स्वीकार्य थी। उनके लिए रूसी क्रांति का महत्व नैतिक प्रेरणा के स्रोत के ही रूप में था, विचारों और रणनीति के नहीं।

रूसी अनुभव को आदर्श मानने वाले रॉय की शब्दावली में कांग्रेस के वामपंथी, नकली समाजवादी थे। और "नकली समाजवादियों" से अलग पहचान बनाने के लिए हिंसक क्रांति के सिद्धांत और कम्युनिस्ट पार्टी को वे आवश्यक मानते थे। रॉय के विचार में जो लोग हिंसक-क्रांति और भूमिगत कम्युनिस्ट पार्टी के गठन का समर्थन नहीं करते वे कम्युनिस्ट कहलाने के हकदार नहीं थे। इस दौरान रॉय भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का भारत में गठन करने के प्रयास में थे किन्तु उन्हें कामयाबी नहीं मिल पा रही थी। सरकार षड्यंत्र मुकदमों के तहत राष्ट्रवादियों को आतंकित कर रही थी। इस कारण मार्च-अप्रैल 1925 में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की कार्यकारिणी द्वारा पारित प्रस्ताव को कार्य रूप देने के उद्देश्य से उन्होंने मज़दूर-किसान पार्टी (डब्लू.पी.पी.) के गठन का फैसला किया।

जैसा कि बताया जा चुका है कि ज्यादातर जन-पक्षीय गुट कांग्रेस से ही निकले थे, इसलिए उनका कथित उद्देश्य कांग्रेस के नेतृत्व वाले आंदोलन को जन-पक्षीय बनाना था। इसके लिए वे मज़दूरों और गरीब किसानों की भागीदारी से कांग्रेस के जनाधार को व्यापक बनाना चाहते थे। 1922 में बंबई में श्रीपाद अमृत डांगे ने अपने पत्र "सोसलिस्ट" के माध्यम से कांग्रेस के अंदर भारतीय समाजवादी मजदूर पार्टी के गठन का सुझाव दिया। इसका उद्देश्य कांग्रेस में "निहित स्वार्थों के विरुद्ध एक सशक्त गुट" तैयार करना था। इस संगठन का अंतिम उद्देश्य तो समाजवाद की स्थापना करना था, इसके तत्कालिक उद्देश्य समाजवादी विचारों का प्रचार-प्रसार ट्रेड-यूनियनों का गठन और वैधानिक सुधार थे। इसी प्रकार मद्रास में एम. सिंगारवेलु ने "हिंदुस्तान की मज़दूर-किसान पार्टी" का गठन प्रस्तावित किया। बंगाल में हेंमत कुमार सरकार, काजी नजरूल इस्लाम और मुजफ्फर अहमद ने "मजदूर-किसान पार्टी (डब्लू.पी.पी.) का गठन किया। के.एन. जोगलेकर और आर.एस. निंबकर ने बंबई मे अब्दुल माजिद और सोहन सिह जोश ने पंजाब में और पी.सी. जोशी ने संयुक्त प्रांत में मजदूर-किसान पार्टियों का गठन किया। इन पार्टियों ने मजदूरों और किसानों के संघर्ष में, असहयोग, सत्याग्रह, रचनात्मक-कार्यक्रम और सिविल नाफरमानी (सविनय अवज्ञा) जैसे "गांधीवादी" तरीकों को भी उपयोगी माना।

इसी बीच सत्यभक्त ने 26 दिसंबर 1925 को कानपुर में कम्युनिस्ट पार्टी के गठन के लिए एक सम्मेलन का आयोजन किया। मज़दूर-किसान पार्टियों के गठन में व्यस्त कम्युनिस्टों को यह बात आश्चर्यजनक लगी। उल्लेखनीय है कि सत्यभक्त का न तो कम्युनिस्ट इंटरनेशनल से कोई ताल्लुक था और न ही कोई अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण, वे एक "राष्ट्रीय" कम्युनिस्ट पार्टी का गठन करना चाहते थे। इसलिए कम्युनिस्टों ने सम्मेलन में हिस्सा लेकर इस पर कब्जा करने का फैसला किया। इसलिए तकनीकी दृष्टिकोण से कम्युनिस्ट पार्टी का गठन 1925 में हुआ लेकिन वास्तव में संगठन का काम मज़दूर-किसान पार्टियों के माध्यम से ही होता रहा। वास्तव में, देखा जाए तो कम्युनिस्ट पार्टी का गठन 1928 में, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के निर्देश पर मजदूर-किसान पार्टियों के विघटन के बाद ही हुआ।

इसके पहले भारतीय कम्युनिस्ट, एम.एन. रॉय या कॉमिन्टर्न के आदेशों का पालन करने को तैयार नहीं थे। रॉय की इच्छा के विपरीत वे न तो भूमिगत कम्युनिस्ट पार्टी बनाने को राजी थे न ही कम्युनिस्ट इंटरनेशनल से संबद्ध होने को। उनका तर्क था कि परिस्थितियों की भिन्नता के चलते भारत में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की रणनीति उपयुक्त नहीं थी।

कांग्रेस के अंदर मज़दूर-किसान पार्टियों का आंदोलन तेजी से बढ़ रहा था। 1928 में एक अखिल भारतीय पार्टी गठित करने के उद्देश्य से कलकत्ता में भारत की सभी मज़दूर किसान पार्टियों में कम्युनिस्टों की भूमिका अहम् थी किन्तु इसका नेतृत्व सिर्फ कम्युनिस्टों के ही हाथ में नहीं था। इस सम्मेलन द्वारा गठित अखिल भारतीय मज़दूर-किसान पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के 16 निर्वाचित सदस्यों में से कम से कम 10 कम्युनिस्ट थे। 1928 के पहले किसी केंद्रीय संगठन के बिना ही विभिन्न प्रांतों की मज़दूर-किसान पार्टियों में लगभग सभी मुद्दों पर सहमति थी। कम्युनिस्ट नेताओं के बीच आपसी तालमेल बना रहता था। कम्युनिस्ट कार्यकर्ता, कांग्रेस में वामपंथी गुट के रूप में, अपने संगठनात्मक और प्रचार कार्यों के लिए कांग्रेस के मंच का उपयोग करते थे। थोड़े ही समय में जन साधारण में खासकर शहरों के मज़दूरों में उनका अच्छा-खासा आधार बन गया। देश के विभिन्न हिस्सों से उनके

मुख पत्र प्रकाशित होने लगे। इनमें, बंबई से क्रांति, बंगाल से जनवाणी और पंजाब से मेहनतकश और कीर्ति प्रमुख थे।

28.3.2 मज़दूर-किसान पार्टियों के कार्य और साम्यवादी (कम्युनिस्ट) प्रभाव का विकास

मज़दूर-किसान पार्टियां एक तो कांग्रेस के संगठनात्मक ढांचे में काम करते हुए कांग्रेस की नीतियों को जनोन्मुख बनाने का काम कर रही थीं और दूसरे मजदूरों को संगठित करके ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (एटक) को अपने प्रभाव क्षेत्र में लेने का प्रयास कर रही थी। 1927 के पहले एटक का नेतृत्व ऐसे उदारवादियों के हाथ में था जो राष्ट्रीय आंदोलन में मज़दूरों की भागीदारी के पक्ष में नहीं थे। चूंकि यह नीति औपनिवेशिक हितों के अनुकूल थी इसलिए इसे सरकारी प्रोत्साहन मिलता था और जनेवा स्थित अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर संगठन (आइ.एल.ओ.) के साथ इसके संबंधों पर सरकार को कोई आपत्ति नहीं थी। 1927 के अंत तक में कांग्रेस के मद्रास अधिवेश में इस पर डब्लू.पी.पी. का प्रभाव जाहिर होने लगा था। सब्जेक्ट्स कमेटी में जोगेलकर द्वारा प्रस्तावित और जवाहरलाल नेहरू द्वारा समर्थित पूर्ण-स्वराज्य का प्रस्ताव भारी बहुमत से पारित हो गया। खुले अधिवेशन में तो यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित हुआ। नेहरू और बोस जैसे जनपक्षीय राष्ट्रवादियों के सहयोग से, मुट्ठी भर कम्युनिस्ट, राष्ट्रीय आंदोलन को व्यापक पैमाने पर प्रभावित करने में सफल हो सके। औपनिवेशिक शासक डांगे और जोगेलेकर की ही तरह नेहरू को भी कम्युनिस्ट मानते थे।

1928 के अंत तक सरकार बंबई में "कम्युनिस्टों के बढ़ते प्रभाव" से चिंतित होने लगी और वामपंथी प्रभाव को खत्म करने के उपाय सोचने लगी। कलकत्ता में कम्युनिस्टों के नेतृत्व में लामबंद 30,000 मज़दूरों ने कांग्रेस पंडाल पर अधिकार कर लिया। 1927 तक मज़दूरों में वामपंथियों का कोई खास प्रभाव नहीं था लेकिन 1928 खत्म होते-होते वामपंथियों ने देश भर में, खासकर बंबई में तमाम ट्रेड यूनियनों पर वर्चस्व स्थापित कर लिया। 1928 में बंबई की कपड़ा मिलों के मज़दूरों की आम-हड़ताल लगभग 6 महीने तक चली। इस हड़ताल के चलते कम्युनिस्टों ने गिरवी कामगर यूनियन नाम से अपनी अलग यूनियन बना ली। इस समय दो अंग्रेज ट्रेड यूनियन नेता—ब्रैडले और हचिंसन भी भारतीय कम्युनिस्टों के साथ काम कर रहे थे। हड़ताल की शुरुआत में, 23 मई 1928 को पंजीकृत गिरनी कामगर यूनियन (जी.के.यू.) की सदस्य संख्या भाग 324 थी जो अप्रैल 1928 तक बढ़कर 54,000 हो गई। 1928 के अंत तक लगभग सभी ट्रेड यूनियनों में कम्युनिस्टों का वर्चस्व स्थापित हो गया। नगरपालिका, यातायात, डाक के कर्मचारियों और जी.आई.पी. रेलवे यूनियन भी कम्युनिस्टों के प्रभाव-क्षेत्र में आ गए। बंगाल में, कम्युनिस्टों और उनके समर्थकों ने जूट मज़दूरों, सफाई कर्मचारियों, रेलवे कर्मचारियों और इस्पात कारखानों के मज़दूरों को संगठित करना शुरू किया। मद्रास में सिंगारवेलु और के. आयगर ने वर्मा आयल कंपनी के मज़दूरों का संगठन बनाया।

एटक के सातवें अधिवेशन (1927) में एस.वी. घाटे इसके सहायक सचिव निर्वाचित हुए। आठवें अधिवेशन (नवंबर 1927) में पारित कई प्रस्तावों का अनुमोदन डब्लू.पी.पी. अध्यक्ष पद के लिए भी अपना उम्मीदवार खड़ा किया। इसके सदस्य मुजफ्फर अमहद और डी.बी. कुलकर्णी उपाध्यक्ष; डांगे और भाखले सहायक सचिव तथा ब्रैडले और स्प्रैट कार्यकारिणी के सदस्य पदों पर निर्वाचित हुए। एटक ने भारत को समाजवादी गणतंत्र बनाने का उद्देश्य घोषित किया। साइमन-विरोधी प्रदर्शनों में डब्लू.पी.पी. ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। यह पहला मौका था जब युवकों और मजदूरों ने राष्ट्रीय आंदोलन में व्यापक पैमाने पर हिस्सा लिया। 1929 में जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस और एटक दोनों के ही अध्यक्ष निर्वाचित हुए। राष्ट्रवादी और समाजवाद के समन्वय की यह एक सांकेतिक शुरुआत थी। अपने अध्यक्षीय भाषण में नेहरू ने सामाजिक और राजनैतिक आजादी के समन्वय की वकालत की।

राष्ट्रवाद और समाजवाद के समन्वय के अपने दृष्टिकोण के चलते नेहरू की छवि गांधीवादियों और कम्युनिस्टों दोनों से ही अलग थी। नेहरू ने साम्राज्य-विरोधी सभी ताकतों की एकताबद्ध संघर्ष का समाजवादी दिशा देने की हिमायत की। राष्ट्रीय आंदोलन को समाजवादी दिशा देने की बात अंग्रेज शासकों के लिए चिंता का विषय तो थी ही, यह बात एम.एम. जोशी जैसे एटक के उदारवादी नेताओं को भी खटकने लगी। 1929 के नागपुर अधिवेशन में उदारवादियों के विरोध के चलते एटक दो हिस्सों में बंट गई और मज़दूर वर्ग के आंदोलन का उफान थोड़ा धीमा पड़ गया।

मज़दूर संगठनों में डब्लू.पी.पी. सराहनीय भूमिका के प्रतिकूल किसानों में इसका काम नगण्य था। बंगाल और पंजाब के कुछ हिस्सों को छोड़कर किसानों को संगठित करने के मामले में इसका योगदान न के बराबर था। तमाम खामियों के बावजूद इस दौर में कम्युनिस्टों ने राष्ट्रवाद और समाजवाद समन्वित कार्यक्रम और संगठन के मामले में सराहनीय काम किया। बाद के दिनों में (1930-34) कम्युनिस्टों ने राष्ट्रवाद को पूंजीवादी विचारधारा करार दिया और इसें समाजवाद विरोधी बताना शुरू कर दिया।

28.3.3 मज़दूर-किसान पार्टियों का उग्र-वामपंथी झुकाव

1928 के अंत तक मज़दूर-किसान पार्टियों (डब्लू.पी.पी.) की राजनीति में बदलाव शुरू हो गया। कांग्रेस को भारतीय पूंजीपतियों की पार्टी के रूप में देखा जाने लगा और मज़दूर-किसान पार्टियों की स्वतंत्र भूमिका की वकालत की जाने लगी। यह कांग्रेस और मज़दूर-किसान पार्टियों के बीच संबंध विच्छेद की शुरुआत थी। यहां तक कि कांग्रेस की वामपंथी धारा अखिल भारतीय इंडीपेंडेंस लीग को भी जन-विरोधी करार दे दिया गया। वामपंथ को विभिन्न धाराओं के समन्वय के बजाय अखंडित धारा के रूप में परिभाषित किया जाने लगा। इस नई परिभाषा के अनुसार, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल से संबद्ध मज़दूरों की कम्युनिस्ट पार्टी ही वामपंथी कहलाने की हकदार थी और इसी पार्टी के नेतृत्व में ही अंग्रेजी शासन के खिलाफ सशस्त्र क्रांति हो सकती थी।

मज़दूर-किसान पार्टी की राजनीति में यह बदलाव जुलाई 1928 के कॉमिन्टर्न की छठी कांग्रेस द्वारा पारित कट्टरपंथी नीतियों का परिणाम था। कॉमिन्टर्न की नई नीति इस समझ पर आधारित थी कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पाश्चात्य देशों में पूंजीवाद गंभीर राजनैतिक संकट की दिशा में बढ़ रहा था। और क्रांति की संभावनाएं साकार होती नजर आ रही थीं। कम्युनिस्ट पार्टियों को वामपंथ की अन्य सभी धाराओं के प्रति गैर समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाने के निर्देश दिए गए क्योंकि वे क्रांति का भ्रम पैदा कर रही थीं। भारत के मामले में तीसरे इंटरनेशनल की नीति, कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा कांग्रेस तथा नेहरू और बोस के नेतृत्व वाले इसके वामपंथी गुट का विरोध करने की राय की समझ के ज्यादा करीब थी। दिसंबर 1928 में कलकत्ता में होने वाले अखिल भारतीय मज़दूर-किसान पार्टियों के सम्मलेन को कॉमिन्टर्न ने मज़दूर-किसान पार्टी को विघटित करने का निर्देश दिया क्योंकि यह एक केंद्रीकृत भूमिगत कम्युनिस्ट पार्टी के गठन में बाधक सिद्ध हो रहा था। शुरुआती हिचकिचाहट के बाद भारतीय कम्युनिस्टों ने मास्को से जारी निर्देशों पर अमल करना शुरू कर दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय कम्युनिस्ट अपने अनुभवों की उपेक्षा करके कॉमिन्टर्न नेतृत्व के अनुयायी बन गए।

इस नई नीति के तहत कम्युनिस्टों ने लाल झंडा यूनियनों का गठन करके जन-आंदोलनों की शुरुआत की। लाल झंडे तले उन्होंने किसान रैलियों का आयोजन शुरू किया। मज़दूर-किसान पार्टियों के इस अखिल भारतीय सम्मेलन ने उसी समय कलकत्ता में ही हो रहे कांग्रेस अधिवेशन में साम्राज्य-विरोधी, सामंत-विरोधी ओर जनतांत्रिक कार्यक्रमों के तहत पूर्ण स्वराज्य के लिए संघर्ष का आह्वान किया। 1928 के अंत तक मज़दूर आंदोलन भी अपने उत्कर्ष पर था। इन्हीं बातों से आतंकित होकर अंग्रेज शासकों ने कम्युनिस्ट आंदोलन को दबाने के लिए षड्यंत्र चलाने का फैसला किया।

इसी नीति के तहत सरकार ने मार्च 1929 में मेरठ षड्यंत्र के नाम से प्रसिद्ध मामले में 31 कम्युनिस्ट और ट्रेड यूनियन नेताओं को गिरफ्तार करके मुकदमा चलाया। इसी दौर (1930-34) में कम्युनिस्टों ने गांधी और नेहरू को प्रतिक्रियावादी घोषित किया। 27-29 दिसंबर 1929 को नई कार्यकारिणी की घोषणा की गई। इस कार्यकारिणी के सदस्य थे : एस.एस. मिराजकर, एस.ए. डांगे, आर.एस. निंबकेर, के.एन. जोगेलोकर, ए.वी. घाटे, मुजफ्फर अहमद, अब्दुल हलीम, शमसुल हूदा, अब्दुल माजिद और संतोख सिंह जोश। 1930 में बोस के नेतृत्व में बोस के नेतृत्व वाले एक से अलग होकर कम्युनिस्टों ने लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस का गठन किया। कॉमिन्टर्न से रॉय के निष्कासन के बाद ट्रेड यूनियन में कम्युनिस्टों की जगह रॉय के समर्थकों ने लेनी शुरू कर दी। रॉय 1930 में भारत आ गए और सात महीनों में उनके समर्थकों की संख्या काफी बढ़ गई। ट्रेड यूनियनों में आपसी फूट के चलते कम्युनिस्टों द्वारा शुरू की गई मज़दूरों की हड़तालें असफल रहीं। 1934 तक कम्युनिस्ट, मज़दूर आंदोलनों और राष्ट्रीय आंदोलन, दोनों ही मोर्चा पर अलग-थलग पड़ गए। 16 जनवरी 1933 को मेरठ षड्यंत्र मुकदमे का फैसला सुना दिया गया। इस मुकदमे का दूरगामी परिणाम कम्युनिस्टों के पक्ष में गया क्योंकि इसने कम्युनिस्टों को अखबारों के माध्यम से विचारधारा प्रसारित करने का उपयुक्त मंच प्रदान किया।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) 1927-29 में भारतीय कम्युनिस्टों ने मज़दूर-किसान पार्टियों का गठन क्यों किया?

....

....

....

....

2) एम.एन. रॉय और कांग्रेस के वामपंथी गुट के मतभेदों पर प्रकाश डालिए।

....

....

....

....

3) एम.एन. रॉय और भारतीय कम्युनिस्टों के मतभेदों पर प्रकाश डालिए।

....

....

....

....

4) मज़दूर-किसान पार्टियों के आंदोलनों की प्रमुख उपलब्धियां क्या थीं?

....

....

....

....

5) मज़दूर-किसान पार्टियों को विघटित करने के क्या कारण थे?

....

....

....

....

28.4 संयुक्त मोर्चा, 1934-40

जुलाई, 1934 में सरकार ने कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रतिबंध लगा दिया। यह प्रतिबंध 1942 तक लगा रहा। 1934-35 में पी.सी. जोशी कम्युनिस्ट पार्टी के नए महासचिव बने। इस दौरान दूसरे देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों की सलाह, राष्ट्रीय आंदोलन में अलग-थलग पड़ जाने की स्थिति ओर सरकारी दबाव की स्थितियों में भारतीय कम्युनिस्ट, ट्रेड यूनियन में संयुक्त मोर्चा की रणनीति पर विचार करने को बाध्य हो गये। 1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी (सी.एस.पी.) के गठन ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

28.4.1 कांग्रेस के वामपंथी गुट

नागरिक अवज्ञा आंदोलन के दौरान युवा-वर्ग संघर्ष की अग्रिम पंक्ति में था। इस दौर में जब नेहरू कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं में समाजवादी विचारों का प्रसार कर रहे थे, युवा-वर्ग जन-पक्षीय विचारों को आत्मसात कर रहा था। 1933-35 के दौरान कांग्रेस के अंदर समाजवादी प्रवृत्तियों उभर रही थीं। कम्युनिस्टों की ही तरह, कांग्रेस के समाजवादी भी गांधी की अहिंसा,

खादी और ग्रामोद्योग की नीतियों के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपना रहे थे। समाजवादियों का उद्देश्य राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में और भारत की परिस्थितियों के अनुकूल मार्क्स और लेनिन द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों के आधार पर वर्ग संघर्ष के जरिये सोवियत रूस के ढांचे पर समाजवादी राज्य की स्थापना करना था। लेकिन वे कॉमिन्टर्न से संबद्ध नहीं थे। सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस लेने के बाद सभी वामपंथी गुट गांधी की नीतियों को क्रांति के रास्ते की रुकावट मानने लगे थे। मई, 1933 में सुभाष चंद्र बोस और विट्ठल भाई पटेल ने वियना से गांधी की अप्रासंगिकता की घोषणा कर दी। उन्होंने कांग्रेस में नेतृत्व परिवर्तन और इसके पुनर्गठन की वकालत की। नेहरू, बाकी वामपंथी गुटों के नेतृत्व परिवर्तन के विचार से असहमत थे। उनका मानना था कि भारत की आजादी की लड़ाई गांधी के ही नेतृत्व में लड़ी जा सकती थी। वे गांधी को गरीबों और किसानों के हिमायती के रूप में देखते थे। बाद की घटनाओं से स्पष्ट हो गया कि समाजवादियों के गांधी-विरोधी रवैये से समाजवादी उद्देश्य को नुकसान पहुंचा। उनके गांधी से अनेक मतभेद थे किन्तु उनका मानना था कि जनता में खासकर किसानों में अभूतपूर्व लोकप्रियता के चलते स्वतंत्रता संग्राम के नेतृत्व के प्रश्न पर गांधी का कोई और विकल्प नहीं था।

1933 में नासिक जेल में, जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन, मीनु मसानी, एन.जी. गोरे, अशोक मेहता, एस.एम. जोशी और एम.एल. दांतवाला जैसे युवा समाजवादियों ने कांग्रेस के भीतर ही एक अखिल भारतीय समाजवादी संगठन बनाने पर विचार शुरू किया। उनका प्रमुख उद्देश्य कांग्रेस की नीतियों को सामाजिक दिशा प्रदान करना था। नेहरू और बोस ने भी इस विचार का स्वागत किया। इन समाजवादियों ने जमींदारी उन्मूलन, जमीन पर राज्य के स्वामित्व, बैंकों और उद्योगों के राष्ट्रीयकरण और मज़दूरों के लिए न्यूनतम मज़दूरी के कार्यक्रम प्रस्तावित किये। 17 मई 1934 का आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में पहला सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन ने कांग्रेस से गरीबों और दलितों के आर्थिक उद्धार के कार्यक्रम अपनाने का आग्रह किया। शीघ्र ही कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी की इकाईयां देश के विभिन्न भागों में गठित कर ली गई और जयप्रकाश नारायण इसके प्रमुख प्रवक्ता बन गये। दक्षिणपंथियों को यह बात अच्छी नहीं लगी। उनके सी.एस.पी. का पहला वार्षिक अधिवेशन 21-22 अक्तूबर को बंबई में हुआ जिसमें 13 प्रांतों के 150 प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। समाजवादियों का मानना था कि सभी वामपंथियों को कांग्रेस के भीतर ही लामबंद होकर इसकी नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास करना चाहिए। संयुक्त वाम मोर्चा की अपनी समझ के तहत कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी ने रॉय समर्थकों और कम्युनिस्टों को व्यक्तिगत रूप से पार्टी में शामिल होने का निमंत्रण दिया। इस तरह एक बार फिर सी.एस.पी. के माध्यम से कम्युनिस्टों ने कांग्रेस में प्रवेश किया। उनमें से कई अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य भी बन गये। नेहरू की अध्यक्षता में कई सदस्य कांग्रेस कार्य समिति में भी शामिल किए गये। कांग्रेस समाजवादी 1936 में होने वाले चुनावों में कांग्रेस की हिस्सेदारी के फैसले के विरुद्ध थे। बाद में वे चुनाव में हिस्सेदारी के लिए तो राजी हो गए पर कांग्रेस द्वारा मंत्रिमंडल बनाने का विरोध करते रहे। लेकिन इस मुद्दे पर कांग्रेस का बहुमत उनके साथ नहीं था। परिणामस्वरूप, सात प्रांतों में कांग्रेस ने मंत्रिमंडल बना लिया। लेकिन इस मुद्दे पर मतदान से पता चलता है कि कांग्रेस में समाजवादियों का प्रभाव बढ़ रहा था। रॉय समर्थक और कम्युनिस्ट सी.एस.पी. का हिस्सा होते हुए भी अपनी अलग अस्मिता बनाए हुए थे और तीनों गुटों में आपसी प्रतिद्वंद्विता भी जारी थी। इसके चलते आपसी झगड़े शुरू हो गये और 1940 के अंत तक संयुक्त वाम मोर्चा पूरी तरह से टूट गया।

28.4.2 जन-आंदोलनों का विकास और संयुक्त मोर्चे की अवधारणा पर वैचारिक बहस

संयुक्त मोर्चे का दौर किसानों, मज़दूरों और युवा-वर्ग में अभूतपूर्व जागृति का दौर था। एन.जी. रंगा, इंदू लाल याग्निक, स्वामी सहजानंद सरस्वती आदि के नेतृत्व में अखिल भारतीय किसान सभा की पहली बैठक 1936 में लखनऊ में हुई। किसान संगठनों ने जमींदारी उन्मूलन और लगान में कमी की मांग की। तीन धड़ों में बंटे एटक में फिर से एकता कायम हुई। 1936 और 1940 के बीच कई महत्वपूर्ण हड़तालें हुईं। 1936 में किसान सभा की सदस्य संख्या 2,95,781 थी जो 1944 में बढ़कर 5,33,427 हो गई। बिहार में तो किसान आंदोलन बहुत ही सशक्त था। 1938 में बिहार किसान सभा की सदस्य संख्या 80,000 थी। 1943 में एटक की सदस्य संख्या 2,69,803 थी। 1935 में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की सातवीं कांग्रेस ने विश्व स्तर पर संयुक्त मोर्चे की नीति अपनाई। इस नीति के तहत पूंजीवादी देशों में सर्वहारा के नेतृत्व में फासीवाद विरोधी मोर्चा और औपनिवेशिक और अर्ध-औपनिवेशिक देशों में साम्राज्य-विरोधी संयुक्त मोर्चे की हिमायत की गई।

भारतीय कम्युनिस्टों के लिए आर.पी. दत्त और बेन ब्रैडले ने संयुक्त मोर्चे की रूपरेखा तैयार की। इस प्रस्तावित संयुक्त मोर्चे को निम्न जिम्मेदारियां सौंपी गई :

1) पूर्ण स्वराज्य के लिए संघर्ष के लिए कांग्रेस के सभी संगठनों—ट्रेड यूनियनों, किसान और युवा संगठनों में एकता स्थापित करना,
2) स्वतंत्रता आंदोलन के कार्यक्रम में मज़दूरों और किसानों की मांगों को शामिल करना,
3) सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार और प्रत्यक्ष मतदान के आधार पर संविधान सभा की मांग।

1936 के बाद सभी वामपंथी गुट कांग्रेस के अंदर दक्षिण पंथी गुटों के एकताबद्ध होना शुरू किया। 1939 में कांग्रेस अध्यक्ष पद के चुनाव में वामपंथियों की एकता के फलस्वरूप पट्टाभि सीतारामैया के विरुद्ध सुभाष चंद्र बोस विजयी रहे। वामपंथियों की समझ से बोस की विजय गांधीवादी नेतृत्व को बेदखल करने के संघर्ष का हिस्सा थी। बोस ने दक्षिणपंथियों पर आरोप लगाया कि वे साम्राज्य-विरोधी संघर्ष के प्रति गंभीर नहीं थे। और वे औपनिवेशिक सरकार के साथ समझौतावादी दृष्टिकोण अपना रहे थे। नेहरू, वामपंथियों द्वारा पुराने नेतृत्व की निंदा करने की नीति से सहमत नहीं थे उनकी राय में इन नेताओं की संकीर्णतावादी विचारधारा के बावजूद उनकी साम्राज्य-विरोधी प्रतिबद्धता पर संदेह नहीं किया जा सकता था। उनके अनुसार अध्यक्षीय चुनाव की खींचातानी से साम्राज्य-विरोधी आंदोलन कमजोर होता। इसीलिए नेहरू इस मुद्दे पर तटस्थ बने रहे।

28.4.3 वामपंथी मोर्चे में फूट का दौर

29 जनवरी 1939 को कांग्रेस के अध्यक्षीय चुनाव में बोस सीतारामैया के 1375 मतों की तुलना में 1580 मतों से विजयी हुए। इसमें वामपंथियों के एकताबद्ध प्रयासों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। इससे पता चलता है कि कांग्रेस में वामपंथी और उनके समर्थक काफी शक्तिशाली थे। गांधी ने घोषणा की, "सीतारामैया की हार मेरी हार है।" गांधी के निर्देश पर दक्षिणपंथी नेताओं ने बोस के अध्यक्षता में वर्किंग कमेटी में शामिल होने से इन्कार कर दिया। इससे कांग्रेस के विभाजन का खतरा पैदा हो गया। ऐसे समय में समाजवादियों ने तटस्थता की नीति अपना ली। परिणामस्वरूप बोस को अध्यक्ष पद से इस्तीफा देना पड़ गया।

3 मई 1939 को अध्यक्ष पद से इस्तीफा देने के बाद बोस ने एक नई पार्टी फारवर्ड ब्लाक की स्थापना की। इस पार्टी का उद्देश्य कांग्रेस के अंदर सभी जनपक्षीय और साम्राज्य-विरोधी प्रगतिशील ताकतों को लामबंद करना था। एम.एन. रॉय ने रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी नाम से एक अलग पार्टी की स्थापना की। दक्षिण भारत की कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी की इकाईयां कम्युनिस्टों के प्रभाव क्षेत्र में चली गई जिससे समाजवादियों और कम्युनिस्टों के आपसी संबंधों में कटुता और भी बढ़ गई। 1939 में वामपंथी गुटों ने संयुक्त कार्यक्रमों के लिए लेफ्ट कंसालिडेशन कमेटी बनायी जो ज्यादा दिनों तक नहीं चल सकी।

इस तरह हम देखते हैं कि द्वितीय विश्वयुद्ध की पूर्व संध्या पर भारत में वामपंथ कई गुटों में बंट चुका था। ये गुट समाजवाद के प्रति प्रतिबद्धता तो जाहिर करते थे किंतु उनकी यह प्रतिबद्धता काफी हद तक अमूर्त थी जिसके चलते वे राष्ट्रीय आंदोलन और गांधी के नेतृत्व क सही विश्लेषण नहीं कर सके। यह उनमें फूट का मुख्य कारण था। वे समाजवाद और राजनीतिक आजादी के समन्वय की कोई साझी रणनीति तैयार करने में भी असफल रहे। वे कांग्रेस के अंदर अलग-अलग उद्देश्यों और परिप्रेक्ष्यों के तहत काम कर रहे थे। हर गुट अन्य गुटों की कीमत पर आगे बढ़ना चाहता था। समाजवादी, कांग्रेस के बाहर एक अलग पार्टी बनाने के कम्युनिस्टों के विचार से असहमत थे। नेहरू का निश्चित मत था कि समाजवाद की स्थापना आजादी के बाद ही संभव थी। इस बीच उन्होंने समाजवादियों को सलाह दी कि वे दक्षिणपंथियों और गांधी के साथ मिलकर साम्राज्य-विरोधी संघर्ष को तेज करें और साथ ही समाजवादी विचारों का प्रचार भी करते रहे। वामपंथ का उद्देश्य कांग्रेस के समाजवादीकरण की बजाय इसे सही अर्थों में जनता की पार्टी बनाना होना चाहिए। अन्य वामपंथी गुट नेहरू की इस सलाह को मानने के लिए तैयार नहीं थे।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) वामपंथी, गांधी के नेतृत्व का क्यों विरोध करते थे?

....

....

....

....

2) अन्य वामपंथी गुटों के साथ नेहरू के क्या मतभेद थे?

....

....

....

....

3) भारतीय कम्युनिस्टों ने संयुक्त मोर्चे की नीति क्यों अपनायी?

....

....

....

....

4) सुभाष चंद्र बोस ने कांग्रेस अध्यक्ष पद से क्यों इस्तीफा दिया था?

....

....

....

....

5) संयुक्त मोर्चा दौर में वामपंथी गुटों में फूट के कारणों पर प्रकाश डालिए।

....

....

....

....

28.5 द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान कम्युनिस्ट आंदोलन

14 सितंबर 1939 को द्वितीय विश्वयुद्ध में भारत की भूमिका पर विचार करने के लिए कांग्रेस कार्य समिति की बैठक हुई। बैठक ने युद्ध को साम्राज्यवादी बताते हुए घोषणा की कि भारत और अन्य जगहों पर साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए लड़ी जा रही इस लड़ाई से भारत को अलग रहना चाहिए। एक स्वायत्त संप्रभु संविधान सभा के जरिये आत्म निर्णय के अधिकार पर भी जोर दिया गया। बैठक ने प्रस्ताव पारित करके अंग्रेजी शासन से मांग की कि वह भारत के संदर्भ में युद्ध के अपने उद्देश्यों का खुलासा करें। भारतीय कम्युनिस्टों को उस समय हिटलर के फासीवाद और पाश्चात्य जनतंत्रों में कोई फर्क नहीं नजर आया। उन्होंने इसे साम्राज्यवादी बताया और कांग्रेस से तुरंत नागरिक अवज्ञा आंदोलन शुरू करने की मांग की।

युद्ध के शुरुआती दौर में कम्युनिस्टों ने कांग्रेस के साथ संयुक्त मोर्चे की नीति अपनायी। कम्युनिस्ट नेताओं को उम्मीद थी कि आंदोलन के प्रथम चरण में कांग्रेस नेताओं की गिरफ्तारी के बाद नेतृत्व की जिम्मेदारी उनके कंधों पर आ जाएगी। इसके आलावा, उन्हें लगता था कि जन आंदोलन आगे चलकर क्रांतिकारी रास्ता अपनाता।

मार्च 1940 में कांग्रेस के रामगढ़ अधिवेशन ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता की शर्त पर युद्ध में मित्र राष्ट्रों को समर्थन देने का प्रस्ताव पारित किया। कांग्रेस समाजवादियों ने इस प्रस्ताव का

समर्थन किया किंतु कम्युनिस्टों को कांग्रेस की देखो और इंतजार करो, की नीति पसंद नहीं आई। बोस ने गांधी पर अंग्रेजी शासन के साथ समझौता परस्ती का आरोप लगाया। गांधी ने कहा, ''बोस का यह आरोप कि मैं अंग्रेजों के साथ समझौता करने को उत्सुक हूँ, सही है, यदि समझौता सम्मान के साथ हो सके।'' शीघ्र ही कम्युनिस्टों ने ''गांधीवाद का पर्दाफाश'' करने और ''गांधीवादी नेतृत्व के सशक्त विरोध'' की नीति पर जोर देना शुरू किया। अकेले एम.एन. राय का गुट ही अंग्रेजों के युद्ध प्रयासों को पूर्ण समर्थन दे रहा था।

''सर्वहारा पथ'' (प्रोलिटैरियन पाथ) पर सशस्त्र विद्रोह के उद्देश्य से कम्युनिस्टों ने प्रमुख उद्योगों में आम राजनैतिक हड़तालों को आयोजित करना शुरू किया। गांधी और नेहरू की ''निष्क्रियता'' की निंदा के साथ ही कम्युनिस्टों ने बोस और कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी की भी आलोचना करना शुरू की। अकेले राष्ट्रीय आंदोलन चलाने की कम्युनिस्टों की नीति को कामिटर्न का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। अपनी इस नीति के चलते कम्युनिस्ट एक बार फिर, कांग्रेस के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय आंदोलन में अलग-थलग पड़ गये। सरकार ने कम्युनिस्टों पर दमन के विभिन्न भागों से 480 प्रमुख कम्युनिस्ट कार्यकर्ता गिरफ्तार कर लिए गए फलस्वरूप पार्टी लगभग अपंग हो गई। ज्यादातर गिरफ्तार कम्युनिस्टों को देवली कैंप में रखा गया।

28.5.1 ''जनयुद्ध'' की रणनीति

जून 1941 में जब हिटलर ने सोवियत संघ पर आक्रमण कर दिया तो पाश्चात्य देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों ने अपनी सरकारों के युद्ध प्रयासों का समर्थन करना शुरू किया। ऐसे में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा भी युद्ध संबंधी नीति में परिवर्तन की जरूरत महसूस की जाने लगी। विडम्बना यह थी कि जहां एक तरफ ब्रिटेन और सोवियत संघ के हितों में साम्य था वहीं भारत ब्रिटेन का अभी भीं उपनिवेश था। कामिटर्न के युद्ध के प्रयासों के समर्थन को लेकर पार्टी दो धड़ों में बंट गई। जो कम्युनिस्ट पी.सी. जोशी के नेतृत्व में अभी जेल के बाहर रह रहे थे और युद्ध विरोधी गतिविधियों में संलग्न थे उनका मानना था कि भारत की स्थितियों में चूंकि कोई परिवर्तन नहीं हुआ था इसलिए युद्ध विरोध की पुरानी नीति जारी रखनी चाहिए। दूसरा धड़ा, जिसके ज्यादातर सदस्य जेल में थे, उनका विचार था कि सोवियत संघ की विजय के महान उद्देश्य के लिए, अंदरूनी संघर्ष फिलहाल छोड़ देना चाहिये। उनका तर्क था कि नई परिस्थितियों में, साम्राज्यवादी युद्ध का चरित्र बदल गया था और अब वह जनता की लड़ाई थी। अन्ततोगत्वा यही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की अधिकारिक नीति बन गई। लेकिन कुछ ऐसे भी कम्युनिस्ट थे जो इस नीति से सहमत नहीं थे। परिणामस्वरूप कम्युनिस्टों ने औपनिवेशिक शासन के युद्ध प्रयासों का समर्थन करना शुरू कर दिया। उत्पादन जारी रखने के लिए वे कारखानों में हड़तालों न होने देने का यथासंभव प्रयास करने लगे। किसान मोर्चे पर उन्होंने अधिक अन्न उपजाओ का नारा दिया। सामंत-विरोधी अंतर विरोधों को तेज करने की भी नीति मुल्तवी कर दी गई।

9 अगस्त 1942 के बाद से गांधी के नेतृत्व में शुरू हुए ''भारत छोड़ो'' आंदोलन को दबाने के उद्देश्य से, सरकार ने कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार करना शुरू कर दिया। इसी बीच पार्टी के महासचिव पी.सी. जोशी ने सरकारी अधिकारियों से मिलकर बंदी कम्युनिस्टों को छोड़ने का आग्रह किया। विभिन्न जेलों से बहुत से कम्युनिस्टों को रिहा कर दिया गया।

1942 में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी से प्रतिबंध हटा लिया गया और वह वैधानिक पार्टी के रूप मे काम करने लगी। कांग्रेस पार्टी के प्रतिबंधित होने की वजह से कम्युनिस्ट पार्टी की गतिविधियों के लिए राजनैतिक क्षेत्र खाली था। 1942-43 के दौरान कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्य संख्या में तो वृद्धि हुई लेकिन जनता में इसकी प्रतिष्ठा काफी गिर गई।

पार्टी का पहला वैधानिक अधिवेशन 1943 में हुआ, इस समय तक इसकी सदस्य संख्या लगभग 5000 तक पहुंच गई थीं।

28.5.2 कम्युनिस्ट और पाकिस्तान का मुद्दा

1945 में युद्ध समाप्त होने के बाद कम्युनिस्ट पार्टी के राजनैतिक विरोधियों ने इसकी ''जनयुद्ध'' की नीति की राष्ट्र विरोधी नीति कहकर निंदा करना शुरू किया। राष्ट्रीय मुख्यधारा के विरुद्ध कम्युनिस्टों की एकमात्र यही नीति नहीं थी। दूसरा महत्वपूर्ण मुद्दा पाकिस्तान आंदोलन के समर्थन का था। कम्युनिस्टों ने पाकिस्तान की मांग को सांप्रदायिक या

अलगाववादी कहने वालों का विरोध करते हुए इसे राष्ट्रीय आत्म-निर्णय की मांग बताया। उन्होंने प्रचार करना शुरू किया कि पाकिस्तान के निर्माण की मांग जनतांत्रिक थी इसलिए कांग्रेस को यह मांग मान लेनी चाहिए। इससे वे राष्ट्रीय मुख्य धारा के जनमत और भी अलग थलग पड़ गए।

अब तो यह सर्वविदित है कि आर.पी. दत्त की सलाह पर कम्युनिस्टों ने एकाएक मार्च 1946 से पाकिस्तान की मांग का विरोध करना शुरू कर दिया। दिसंबर 1945 में पार्टी की केंद्रीय समिति ने संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चा बनाने की नीति का अनुमोदन किया। इसमें कम्युनिस्टों को कांग्रेस और मुस्लिम लीग से साथ मिलकर संयुक्त मोर्चा बनाने की बात कही गई।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) द्वितीय विश्व युद्ध के मुद्दे पर कांग्रेस कार्य समिति ने क्या नीति अपनाई?

....

....

....

....

2) युद्ध के प्रति कम्युनिस्टों का क्या दृष्टिकोण था?

....

....

....

....

3) कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा "जनयुद्ध" की नीति अपनाने के पीछे क्या कारण थे?

....

....

....

....

4) कम्युनिस्ट पार्टी ने पाकिस्तान की मांग का समर्थन क्यों किया?

....

....

....

....

28.6 सारांश

भारतीय वामपंथियों और खासकर कम्युनिस्टों ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में उल्लेखनीय भूमिका निभायी। वामपंथियों के दबाव के ही चलते कांग्रेस ने पूर्ण-स्वराज्य का प्रस्ताव स्वीकार किया। स्वतंत्रता आंदोलन के साथ मज़दूरों और किसानों की मांगों को जोड़ने का श्रेय भी प्रमुख रूप से कम्युनिस्टों को जाता है। अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर आंदोलन से भारतीय मज़दूर आंदोलन को जोड़ने का काम भी कम्युनिस्टों ने ही किया।

लेकिन स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भारत की वामपंथी ताकतें कई धाराओं में बंटी हुई थी। इन धाराओं की सबसे बड़ी गलती यह थी कि इन्होंने महात्मा गांधी को अपना प्रमुख विरोधी माना। नेहरू ही ऐसे वामपंथी थे जिन्होंने गांधी की महत्ता को समझा। बहुत बार वे एक

दूसरे के ही संग खींचने में व्यस्त थे। आपसी फूट के कारण ही वे एक सशक्त मज़दूर किसान आंदोलन खड़ा कर पाने में असफल रहे। इससे सिर्फ समाजवादी समाज की स्थापना के उद्देश्य के साथ ही राष्ट्रीय आंदोलन को भी क्षति पहुंची।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) भारत के स्वतंत्रता संग्राम में कम्युनिस्टों का प्रमुख योगदान क्या था?

....

....

....

....

28.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

पैंथम थॉमस और डौयश कैनेथ एल., *मॉडर्न इंडियन पॉलिटिकल थॉट* सेज पब्लिकेशंस नई दिल्ली

पन्निकर के.एन. (संपा), *इंडियन लेफ्ट मूवमेंट : अ क्रिटिकल अप्रेज़ल,* विकास नई दिल्ली 1980

28.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

देखें भाग 28.2 उपभाग 28.2.1-28.2.4

बोध प्रश्न 2

देखें भाग 28.3 और उपभाग 28.3.1-28.3.3

बोध प्रश्न 3

देखें भाग 28.4 और उपभाग 28.4.1-28.4.3

बोध प्रश्न 4

देखें भाग 28.5 और उपभाग 28.5.1-28.5.2

बोध प्रश्न 5

देखें उपभाग 28.5.2 और सारांश

इकाई 29 एम.एन. रॉय : मार्क्सवाद और क्रांतिकारी मानवतावाद

इकाई की रूपरेखा

29.0 उद्देश्य
29.1 प्रस्तावना
29.2 कामिटर्न (कम्युनिस्ट इंटरनेशनल) और उपनिवेशवाद का मुद्दा
29.3 रॉय और भारतीय राजनीति
 29.3.1 "संक्रमणकालीन भारत" में संक्रमण के बारे में
 29.3.2 संगठन के बारे में
 29.3.3 रॉय और द्वितीय विश्व युद्ध
 29.3.4 विचार प्रणाली की समस्याएं
29.4 क्रांतिकारी मानवतावाद
 29.4.1 मार्क्सवाद की समीक्षा
 29.4.2 राजनीति का मानवतावादी प्रारूप
 29.4.3 दलविहीन जनतंत्र
29.5 मूल्यांकन
29.6 सारांश
29.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
29.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

29.0 उद्देश्य

राष्ट्रीय आंदोलन में भारतीय कम्युनिस्टों की भूमिका के बारे में आप पढ़ चुके हैं। भारतीय राजनीति में मार्क्सवाद को प्रवेश दिलाने वाले नेताओं में एम.एन. रॉय का नाम अग्रणी है। बाद में वे क्रांतिकारी मानवतावादी बन गए। इस इकाई में मार्क्सवाद से क्रांतिकारी मानवतावाद तक की एम.एन. रॉय की वैचारिक यात्रा के बारे में चर्चा की गई है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन के विकास में एम.एन. रॉय की भूमिका समझ सकेंगे और मार्क्सवाद व्याख्याओं का वस्तुपरक मूल्यांकन कर सकेंगे।

29.1 प्रस्तावना

इस शताब्दी के भारतीय राजनैतिक चिंतन की लगभग सभी घटनाएं उपनिवेशवाद के ऐतिहासिक अंतर्विरोधों से पैदा हुई है। एम.एन. रॉय भारत के पहले कम्युनिस्ट चिंतक थे, जिन्होंने औपनिवेशिक शासन से मुक्ति के आंदोलन का मार्क्सवाद पर आधारित विकल्प तैयार करने का प्रयास किया। उनका बचपन का नाम नरेंद्रनाथ भट्टाचार्य था। 1910 के दशक में बंगाल के क्रांतिकारी आंदोलन में सक्रिय होने पर एम.एन. रॉय का छद्म नाम धारण किया और आगे चलकर इसी नाम से वे जाने जाने लगे। उनका जन्म 1887 में बंगाल के एक गांव अबेलिया में हुआ था। जब वे बड़े हो रहे थे तो बंगाल और अन्य जगहों पर साम्राज्यवादी विरोधी आंदोलन भी बढ़ रहे थे। ये वे दिन थे जब संवैधानिक आंदोलन पर प्रश्न चिन्ह लगने लगे थे और ज्यादा से ज्यादा युवा कार्यकर्त्ता उग्र राष्ट्रवाद का पक्षधर होता जा रहा था। उग्र राष्ट्रवाद से प्रभावित नरेंद्रनाथ ने भूमिगत आंदोलन के लिए बम बनाने और बैंक लूटने में शिरकत की। 1910 में "हावड़ा शिवपुर षड्यंत्र" मुकदमें में नरेंद्रनाथ एवं अन्य कार्यकर्त्ताओं को नौ महीने की सजा हुई।

जेल से छूटने के बाद क्रांतिकारी आंदोलन में एम.एन. रॉय की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। संगठन में उनकी स्थिति इतनी सुदृढ़ हो गई कि उन्हें हथियारों का सौदा करने जर्मनी भेजा गया। वे पहले अमेरिका गए जहां उनकी मुलाकात अमेरिका के वामपंथियों समाजवादियों,

अराजकतावादियों और श्रमिकसंघवादियों से हुई। मेक्सिको में, सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य एम. बोरोदिन से मुलाकात के बाद वे सामाजिक क्रांति के जरिए भारतीय जनता की मुक्ति के लिए प्रतिबद्ध हो गए। अतीत का मूल्यांकन करने पर उन्हें अपने पहले के दृष्टिकोण की संकीर्णता का एहसास हुआ और वे कार्मिटर्न की दूसरी कांग्रेस में शिरकत करने के उद्देश्य से मास्को की यात्रा पर निकल पड़े। मास्को में एम.एन. रॉय ने राष्ट्रीय और औपनिवेशिक मुद्दों पर लेनिन की अवधारणा का आलोचनात्मक मूल्यांकन करते हुए वैकल्पिक दस्तावेज पेश किया, जिसे कांग्रेस में संशोधन के बाद लेनिन के दस्तावेज के पूरक दस्तावेज के रूप में स्वीकार किया गया। कार्मिटर्न के एक प्रतिनिधि मंडल को लेकर उन्होंने चीन की यात्रा की। इस बीच रॉय और कार्मिटर्न के मतभेद बढ़ते गए और रॉय को कार्मिटर्न और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी दोनों से निष्कासित कर दिया गया।

रॉय, 1930 के आस-पास भारत वापस आने पर गिरफ्तार कर लिए गए और छः साल जेल में रहे। कारावास से छूटने पर उनके कार्यक्रमों को प्रभावित करने के उद्देश्य से कांग्रेस में शामिल हो गए। इस प्रयास में असफलता के बाद, 21 दिसम्बर 1943 को उन्होंने रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की। पार्टी के असफल होने पर उन्होंने नव मानवतावाद नाम से एक नया सांस्कृतिक राजनैतिक आंदोलन की शुरुआत की।

29.2 कार्मिटर्न (कम्युनिस्ट इंटरनेशनल) और उपनिवेशवाद का मुद्दा

राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्न, सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी और कार्मिटर्न के लिए निरंतर सरोकार के विषय थे। कार्मिटर्न के नेताओं को इन प्रश्नों के संतोषप्रद समाधान नहीं मिल रहे थे। मुख्य मुद्दा उपनिवेशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के लिए रणनीति तय करना था जिसे वे कार्मिटर्न के निर्देशों पर अपने देशों में लागू कर सकें। अलग-अलग देशों के लिए वहां की वस्तुगत भौतिक परिस्थितियों एवं शक्ति संबंधों के अनुसार अलग-अलग रणनीति तय करनी थी। लेकिन प्रायः कार्मिटर्न और स्थानीय कम्युनिस्ट पार्टी के वस्तुगत परिस्थितियों के मूल्यांकनों में अंतर होता था।

भारत और चीन जैसे विभिन्न देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों ने मार्क्सवाद के ही मूल्यों के आधार पर अपने-अपने समाजों का मूल्यांकन किया। चूंकि उनके अपने समाजों में ही तथ्यों के अलग-अलग आयाम थे इसलिए उनके मूल्यांकन पर प्रश्न चिन्ह लगने लगे। मसलन, भारत में, पिछड़ी हुई पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के चलते, कम्युनिस्ट पार्टी के समक्ष जो प्रश्न थे उनके हल मार्क्सवाद के मानकों के परे थे। वहां पूंजीवाद उत्पादन पद्धति से संबंद्ध वर्गों की संरचना और वर्ग-संघर्ष का स्वरूप, पाश्चात्य पूंजीवादी समाजों से बिल्कुल भिन्न था। औपनिवेशिक शासन और विदेशी पूंजी के वर्चस्व के कारण यहां की अर्थव्यवस्था एक विकृत अर्थव्यवस्था थी। किन्तु अपने समाज का मूल्यांकन करने के बजाय यहां के कम्युनिस्ट कार्मिटर्न के निर्देशों पर निर्भर रहते थे। कार्मिटर्न के पास इन समाजों की पर्याप्त जानकारी के अभाव के कारण परिणाम प्रायः प्रतिकूल ही हुए। धीरे-धीरे इन देशों के राजनैतिक आंदोलनों ने कार्मिटर्न की यूरोप-केंद्रित इतिहास की समझ को चुनौती देना शुरू किया।

मार्क्सवाद के अनुसार क्लासिकी (आदर्श) बुर्जुआ क्रांति में बुर्जुवा वर्ग सफलतापूर्वक क्रांति का नेतृत्व करता है और उसकी परिणति तक ले जाता है। बुर्जुआ क्रांति का एक और स्वरूप भी है– "दूसरा रास्ता" का स्वरूप। इसमें बुर्जुआ वर्ग क्रांतिकारी शक्तियों पर वर्चस्व स्थापित कर पाने में असमर्थ होता है और बुर्जुआ क्रांति के नेतृत्व का दायित्व सर्वहारा के कंधों पर होता है। भारत के कम्युनिस्टों की बहस बुर्जुआ वर्ग के वर्चस्व के इर्द-गिर्द ही घूमती रही।

कार्मिटर्न की दूसरी कांग्रेस में औपनिवेशिक समाजों के अपने मूल्यांकन के आधार पर उपनिवेशवाद के मुद्दे पर एक दस्तावेज पेश किया गया। इस दस्तावेज के अनुसार, भारत का औपनिवेशिक बुर्जुआ वर्ग क्रांति का नेतृत्व करने में समर्थ था। लेनिन का तर्क था कि औपनिवेशिक समाजों में पिछड़े हुए औपनिवेशिक पूंजीवाद का यह मतलब नहीं हुआ कि वहां का बुर्जुआ वर्ग भी जर्मनी जैसे पिछड़े यूरोपीय देशों के बुर्जुआ वर्ग की ही तरह प्रतिक्रियावादी है। इसलिए, लेनिन के अनुसार, पिछड़े और औपनिवेशिक देशों में कम्युनिस्टों को अपना अस्तित्व बचाए रखकर वहां के बुर्जुआ वर्ग से अस्थाई समझौता कर लेना चाहिए।

लेनिन के अनुसार इन समाजों के साम्राज्य विरोधी आंदोलनों में किसानों की महत्वपूर्ण भूमिका होगी।

रॉय के तर्क इससे अलग थे। उन्होंने एक वैकल्पिक दस्तावेज पेश किया, जिसमें राष्ट्रीय आंदोलनों के साथ कम्युनिस्ट पार्टियों और कामिंटर्न द्वारा सहयोग के विचार का विरोध किया गया था। इस दस्तावेज के अनुसार औपनिवेशिक देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को, राष्ट्रीय आंदोलनों से अलग रह कर मजदूरों और किसानों के संगठन विकसित करने पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। लेनिन की समझ के विपरीत, रॉय का तर्क था कि पिछड़े हुए औपनिवेशिक पूंजीवादी व्यवस्था ने कमजोर बुर्जुआ (पूंजीपति) वर्ग और सशक्त सर्वहारा वर्ग पैदा किए और सर्वहारा वर्ग क्रांति का नेतृत्व करने के लिए सक्षम था। रॉय ने साम्राज्य-विरोधी आंदोलन में सर्वहारा वर्ग की ताकत और भूमिका की अतिरंजित व्याख्या की। देशी बुर्जुआ वर्ग की भूमिका को नगण्य बताते हुए उन्होंने किसानों की भूमिका की अहमियत पर भी संदेह व्यक्त किया। दस्तावेज का निष्कर्ष यह था कि भारत का मजदूर वर्ग अपने बल-बूते पर साम्राज्य-विरोधी क्रांति का नेतृत्व करने में समर्थ था। सघन बहस के बाद रॉय के संशोधित दस्तावेज को कांग्रेस ने "पूरक दस्तावेज" के रूप में स्वीकार किया।

स्टालिन के नेतृत्व में कामिंटर्न के अनुशासन के तहत कामिंटर्न में रॉय का उत्साह घटने लगा। जैसे-जैसे विश्व क्रांति के आसार धूमिल पड़ने लगे, कामिंटर्न सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी का प्रतिनिधि बनता गया। 1928 में कामिंटर्न की छठी कांग्रेस ने उन्हें निष्कासित कर दिया। इसी कांग्रेस में राष्ट्रीय आंदोलनों से सहयोग की नीति छोड़कर, सर्वहारा के नेतृत्व में टकराव की नीति तय की गई।

छठी कांग्रेस में उनके "अनौपनिवेशिकरण" (decolonization) के सिद्धांत को लेकर रॉय की आलोचना हुई। इस सिद्धांत के अनुसार औपनिवेशिक शासन औद्योगिकरण में बाधक नहीं था। इसके अनुसार यह साम्राज्यवाद के बदलते चरित्र का द्योतक था, इसमें मुनाफे का एक हिस्सा, देशी पूंजीपतियों को भी प्राप्त होता।

कामिंटर्न से निष्कासन के बाद रॉय भारत लौट आए और 21 जुलाई 1931 से 20 नवंबर 1936 तक जेल में बंद रहे।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) उपनिवेशवाद के मुद्दे पर कामिंटर्न के साथ एम.एन. रॉय के मतभेदों पर प्रकाश डालिए।

....

....

....

29.3 रॉय और भारतीय राजनीति

29.3.1 "संक्रमणकालीन भारत" के बारे में

1922 में एम.एन. रॉय ने "इंडिया इन ट्रांजिशन" शीर्षक से भारतीय समाज के बारे में एक पुस्तक लिखी। भारतीय समाज की उनकी समझ अन्य व्याख्याओं से बिल्कुल अलग थी। उदारवादियों, राष्ट्रवादियों और उग्र-राष्ट्रवादियों की व्याख्या से अलग रॉय ने भारतीय समाज की मार्क्सवादी व्याख्या की। इस प्रकार रॉय भारतीय राजनीति की वर्ग संरचना के संदर्भ में मार्क्सवादी व्याख्या करने वाले पहले चिंतक थे।

पहले की मान्यताओं में विदेशी पूंजीपति वर्ग को ही भारतीय जनता का शोषक चित्रित किया गया था, रॉय ने इस मान्यता का खंडन करते हुए देशी पूंजीपति वर्ग को भी जनता का शोषक बताया। विश्व युद्ध के बाद की स्थिति में जिससे राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग और साम्राज्यवाद के बीच समझौते की संभावनाओं पर जोर देते हुए जुझारु जन-आंदोलन का प्रस्ताव किया।

1922 में गया कांग्रेस से पहले रॉय ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लिए एक कार्यक्रम का मसौदा भेजा। इस मसौदे में प्रमुख रूप से निम्न मुद्दों पर चर्चा थी:

1) जमींदारी उन्मूलन
2) लगान घटाना
3) खेती के आधुनिकीकरण के लिए राजकीय सहायता
4) अप्रत्यक्ष करों का उन्मूलन
5) सार्वजनिक उपयोग के प्रतिष्ठानों का राष्ट्रीयकरण
6) आधुनिक उद्योगों का विकास
7) न्यूनतम मज़दूरी और दिन में 8 घंटे के काम से संबंधित कानून
8) अनिवार्य और नि:शुल्क शिक्षा
9) राजनीति को धर्म से मुक्त रखना

29.3.2 संगठन के बारे में

राष्ट्रीय स्तर पर अपने अस्तित्व का अहसास, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी 1935 में ही करा पाई। इसके पहले इसकी ज्यादातर इकाइयां क्षेत्रीय दलों के रूप में थीं। "फ्यूचर ऑफ इंडियन पालिटिक्स" (भारतीय राजनीति का भविष्य) शीर्षक की पुस्तक में वर्ग संगठनों के अलावा एक जन संगठन की जरूरत पर जोर दिया गया। 1925 में बनी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, जन समर्थन जुटाने में असमर्थ थी। इसके अलावा, ज्यादातर समाजवादी और कम्युनिस्ट या तो बंदी जीवन की यातना झेल रहे थे या एक दूसरे से अलग-थलग दूर दराज के इलाकों में पड़े थे। भूमिगत भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की इस जन संगठन के नीति निर्धारण में अहम भूमिका रहेगी। सार्वजनिक अभियानों में संलग्न यह जन संगठन कम्युनिस्ट पार्टी की दिशा-निर्देश पर काम करेगा। दोहरे संगठन की योजना इस उद्देश्य से की गई कि वैधानिक जन संगठन में सभी दलित वर्गों का संगठन होगा और कम्युनिस्ट पार्टी केवल मज़दूरों का। रॉय के अनुसार इस अनौपचारिक संगठन का कार्यक्रम कम्युनिस्ट पार्टी का न्यूनतम कार्यक्रम होगा। इसी योजना के तहत देश के विभिन्न हिस्सों में "मज़दूर किसान पार्टी" (वर्क्स एंड पेजेंट्स पार्टी) का गठन किया गया। कम्युनिस्ट पार्टी के हर सदस्य को मज़दूर किसान पार्टी (WPP) के सदस्य के रूप में उसके अनुशासन का पालन करना पड़ेगा। "डब्लू.पी.पी." से कम्युनिस्टों को ट्रेड यूनियन एवं अन्य सांस्कृतिक-राजनीतिक मोर्चों पर काम करने का अवसर मिला। संयुक्त मोर्चा के दौर में "डब्लू.पी.पी." और कम्युनिस्ट पार्टी के संबंध बने रहे।

कामिंटर्न की छठी कांग्रेस में संयुक्त मोर्चा की नीति में परिवर्तन आया और "आल इंडिया कान्फरेंस ऑफ वर्कर्स" को एक संदेश भेजकर, वर्गीय आधार पर सर्वहारा का स्वतंत्र संगठन बनाने को कहा गया।

29.3.3 रॉय और द्वितीय विश्व युद्ध

नवंबर 1936 में जेल से छूटने के बाद रॉय ने कांग्रेस के झंडे के नीचे एकजुटता से लामबंद होने का आह्वान किया। उनके समर्थक पहले से ही कांग्रेस में शामिल होने लगे थे। 1936 में उन्होंने कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन को संबोधित किया। किन्तु कांग्रेस को जनपक्षीय बनाने में वे असफल रहे।

1937 में उन्होंने "इंडिपेंडेंट इंडिया" नाम से एक साप्ताहिक पत्र शुरू किया। 1949 में इसका नाम बदलकर "रैडिकल ह्यूमनिस्ट" कर दिया। पहले अंक के संपादकीय में उन्होंने लिखा, "राजनैतिक स्वतंत्रता साध्य नहीं, बल्कि भारतीय समाज के क्रांतिकारी परिवर्तन के उद्देश्य का साधन मात्र है।"

दूसरे विश्व युद्ध के दौरान कम्युनिस्ट पार्टी के वैचारिक विकास और मज़दूर वर्ग की भूमिका की समझ की दिशा में काफी परिवर्तन देखने को मिले। हिटलर द्वारा सोवियत संघ पर आक्रमण के बाद युद्ध विरोधी संयुक्त मोर्चा की वकालत करने वाले कम्युनिस्टों ने युद्ध के लिए समर्थन जुटाना शुरू कर दिया। नारों के संदर्भ में "साम्राज्यवादी युद्ध" "जनयुद्ध" में बदल गया। 1942 के "भारत छोड़ो" आंदोलन के दौरान कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने सदस्यों को सरकार के साथ सहयोग का निर्देश दिया। एम.एन. रॉय भी कम्युनिस्ट पार्टी की ही तरह भिन्न-भिन्न देशों की सेनाओं के लिए समर्थन जुटाने की वकालत कर रहे थे। उसके

अनुसार, युद्ध दो राज्यों के बीच न होकर दो विचारधाराओं के बीच था। रॉय ने युद्ध के फासीवाद-विरोधी चरित्र पर जोर देते हुए इसे साम्राज्य-विरोधी आंदोलन से अलग करके देखने को कहा। रॉय ने युद्ध के दौरान अंग्रेजी शासन का विरोध करने के लिए कांग्रेस की कटु आलोचना की।

युद्ध के दौरान "जनयुद्ध" नीति लागू करने के लिए, अंग्रेजी शासन ने, सारे कम्युनिस्ट बंदियों को रिहा कर दिया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को कानूनी घोषित कर दिया, जिससे इसकी सदस्य संख्या भी बढ़ी। कम्युनिस्ट पार्टी की इस नीति के चलते इसकी प्रतिष्ठा जन-मानस में गिर गई और इसके कार्यकर्त्ताओं पर लोगों की विश्वसनीयता घट गई। कम्युनिस्ट आंदोलन के लिए यह अपूरणीय क्षति थी।

29.3.4 विचार-प्रणाली की समस्याएं

साम्राज्य-विरोधी संघर्ष के दौरान एम.एन. रॉय और अन्य कम्युनिस्ट नेताओं ने क्रांति के एक नए स्वरूप का खाका बनाने के प्रयास किए। रॉय का प्रयास मार्क्सवाद के केंद्रीय मूल्यों के आधार पर भावी क्रांति की रूपरेखा तैयार करने का था। भारतीय समाज का विश्लेषण, उन्होंने मार्क्सवादी ढांचे में मौजूद श्रेणियों के ही आधार पर किया। लेकिन भारत एक अलग ही ऐतिहासिक दौर से गुजर रहा था। इतिहास की गति समझ पाने में असमर्थता की वजह से, औपनिवेशिक संदर्भ में मज़दूर वर्ग के संरचनात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया को नहीं समझ सके। रॉय का भारतीय समाज का विश्लेषण विकसित पूंजीवादी देशों के विश्लेषण में प्रयुक्त अवधारणाओं पर आधारित था। उन्होंने भारतीय मज़दूर वर्ग की कई विशिष्टताओं की अनदेखी कर दी।

मार्क्सवाद, पूंजीवादी समाजों में मज़दूरों में वर्ग चेतना पैदा करने पर जोर देता है। किंतु भारतीय मज़दूर वर्ग एक समरूप वर्ग नहीं था। समुदाय, जाति, धर्म आदि के प्रति उसकी पारंपरिक वफादारी बरकरार रही। औपनिवेशिक श्रम-बाज़ार के संदर्भ में देखा जाए तो बहुत से मज़दूरों की हालत विस्थापित मज़दूरों की थी जबकि प्लांटेशन या खदानों के मज़दूर अस्थाई थे और उन्हें साल में कुछ ही महीने काम मिलता था। इन मज़दूरों को "अर्ध-सर्वहारा" और "अर्ध-किसान" कहा जा सकता था क्योंकि जमीन से उनका संबंध बना हुआ था। इसके अलावा, इस शताब्दी के शुरू में औद्योगिक सर्वहारा की संख्या नगण्य थी। बंबई, कलकत्ता, लखनऊ, कानपुर और जमशेदपुर जैसे औद्योगिक नगरों में ही इनकी संख्या अधिक थी। यहां के मज़दूर वर्ग की विशिष्टताओं को स्थापित मार्क्सवादी मूल्यों के ही आधार पर समझना मुश्किल था विश्लेषण की इस गलती के चलते, रॉय, समाजवाद और राष्ट्रवाद की मांगों को मिलाकर क्रांति का कोई खाका बनाने में असफल रहे।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) भारतीय समाज की रॉय की व्याख्या किन अर्थों में भिन्न थी?

....

....

....

....

2) "फ्यूचर ऑफ इंडियन पालिटिक्स" में रॉय के विचारों पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

....

....

....

....

29.4 क्रांतिकारी मानवतावाद

29.4.1 मार्क्सवाद की समीक्षा

रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के विसर्जन के बाद उन्होंने अपने विचारों का पुनर्मूल्यांकन किया। इस पुनर्मूल्यांकन के बाद कई आधारों पर उन्होंने मार्क्सवाद की आलोचना करनी शुरू कर दी।

युद्ध के दौरान और उसके बाद रॉय मानने लगे कि सोवियत संघ में समाजवाद, राष्ट्रवाद में बदल चुका था और स्टालिन के नेतृत्व में कम्युनिस्ट पार्टी निरंकुश हो गई थी। असहमति और विरोध के सभी तरीकों का दमन होने लगा था। रॉय के अनुसार, पूर्वी यूरोपीय देशों में कम्युनिस्ट तानाशाही स्थापित करने जैसे सोवियत नेताओं के कारनामें उनकी महाशक्ति बनने के मंसूबों के संकेत थे।

एम.एन. रॉय ने मार्क्स के इतिहास की आर्थिक व्याख्या की भी आलोचना की। उनकी रॉय में, व्यक्ति को समूह का हिस्सा मात्र मानकर, मार्क्सवाद व्यक्ति की स्वायत्ता का निषेध करता है रॉय के अनुसार सामाजिक संगठनों की मौजूदगी से यह साबित होता है कि व्यक्ति का अस्तित्व समूह से पहले का है।

उनके तर्क के अनुसार एक सभ्य समाज का आदर्श साम्यवाद या समाजवाद की बजाय आजादी का होना चाहिए। इस संदर्भ में "क्रांतिकारी मानवतावाद" की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा, "व्यक्ति का वजूद हमारी योजना के केंद्र में है, जबकि दूसरे सामूहिकता के नाम पर उसके स्वतंत्र अस्तित्व को कुर्बान कर देते हैं।"

नए संदर्भ में क्रांति का मार्क्सवादी स्वरूप पुराना पड़ चुका था। आधुनिक राज्यों की सैन्य क्षमता को देखते हुए उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि सशस्त्र क्रांति की संभावनाएं खत्म हो चुकी थीं। उन्होंने इसके स्थान पर, सार्वभौमिक आग्रह से सहमति द्वारा क्रांति का विचार प्रस्तुत किया।

रॉय के जीवन के अंतिम दिन (1947-54) उनके क्रांतिकारी मानवतावाद के दिन थे। टुरगाट और कन्डारसेट जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों की तरह रॉय भी सोचते थे कि विज्ञान की प्रगति ने मानव की रचनात्मक क्षमताओं को मुक्त कर दिया है। उनकी राय में भारत की समस्याओं की समझ विकसित करने में मौजूद दार्शनिक धारणाएं सफल नहीं हो सकीं इसलिए एक नए दर्शन की जरूरत थी। उनके अनुसार उनका क्रांतिकारी मानवतावाद का दर्शन "व्यक्ति और नैतिक मूल्यों को अहमियत देता है" और किसी भी समाज व्यवस्था को प्राप्त "व्यक्तिगत आजादी के आधार" पर करता है।

राजनीति, उनके अनुसार, अवसरवादिता के चलते दूषित हो चुकी थी और नैतिक मूल्यों के समावेश से ही इसका शुद्धीकरण संभव था। उनका मानना था कि राजनीति में हिस्सेदारी का अधिकार महज वोट देने का अधिकार था। पूर्ण जनतंत्र की स्थापना के लिए उन्होंने राजनीति के पुनर्मूल्यांकन पर जोर दिया।

29.4.2 राजनीति का मानवतावादी प्रारूप

राजनीति के नए प्रारूप का रॉय का सिद्धांत अध्यात्मवाद, राष्ट्रवाद, साम्यवाद की विचारधाराओं का निषेध करता है और भौतिकवाद की हिमायत। इसके अनुसार भौतिकवाद ही संभव दर्शन है क्योंकि यह प्रकृति के वास्तविक अस्तित्व की जानकारी देता है।

नैतिकता और आजादी, इस नए मानवतावाद के प्रमुख तत्व हैं। रॉय के अनुसार मनुष्य अपने वातावरण का अधीनस्थ है किंतु उसका विवेक उसे प्राकृतिक घटनाओं को बेहतर एवं तार्किक व्याख्या करने को बाध्य करता है। विवेकशील प्राणी के रूप में मनुष्य भौतिक अस्तित्व के लिए संघर्ष करता है। यह संघर्ष एक स्तर पर भौतिक जरूरतों को पूरा करने का संघर्ष दूसरे स्तर पर यह स्वतंत्रता का संघर्ष है। रॉय के अनुसार, स्वतंत्रता एक पूर्ण विचार न होकर एक प्रक्रिया है। स्वतंत्रता के संघर्ष में विवेकशील होने के कारण, मनुष्य प्रकृति पर नियंत्रण करना चाहता है। स्वतंत्रता का मतलब "व्यक्ति की सभी मानवीय क्षमताओं पर से किसी भी तरह के नियंत्रण की समाप्ति" है। मनुष्य की स्वतंत्रता उनके चिंतन का केंद्र बिंदु है, व्यक्ति को इससे वंचित करने वाली सभी विचारधाराओं की उन्होंने आलोचना की। वे व्यक्ति की संप्रभुता पर आधारित नए समाज की रचना करना चाहते थे।

29.4.3 दलविहीन जनतंत्र

दलीय राजनीति के अनुभवों के आधार पर रॉय ने सत्ता-केंद्रित राजनीति की आलोचना करते हुए कहा "राजनीति का अस्तित्व संगठित सामाजिक जीवन के अस्तित्व जितना ही पुराना है... इसलिए राजनीति और राजनैतिक दलों का संबंध स्वयं सिद्धि नहीं है।" उन्होंने राजनैतिक दलों के अस्तित्व के बिना ही राजनैतिक गतिविधियों की संभावनाओं पर विचार किया।

रॉय के अनुसार दलीय व्यवस्था लोगों के प्रतिनिधित्व का उपयुक्त माध्यम नहीं है। इसमें व्यक्तियों के किसी भी प्रभावी राजनैतिक हिस्सेदारी की संभावना नहीं रहती। इसके अलावा, दलीय शासन का मतलब लोगों के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले एक अल्पसंख्यक समूह का शासन है। वोट देने का अधिकार एक औपचारिकता मात्र बन कर रह गया है। निर्वाचित सरकार सिर्फ सत्ताधारी दल का प्रतिनिधित्व करती है। और बड़ी से बड़ी पार्टी के सदस्यों की संख्या, जनसंख्या का एक बहुत छोटा अंश ही होती है। रॉय के विचार से, दलीय व्यवस्था, चूंकि लोगों के बजाय नेताओं के हितों की रक्षा करती है जिससे बेईमानी और भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है।

संसदीय जनतंत्र की कमियों को दूर करने के लिए, उन्होंने नागरिकों की भागीदारी से संगठित जनतंत्र का विचार पेश किया। जनतंत्र के इस प्रारूप को सफल बनाने के लिए नई आर्थिक व्यवस्था की जरूरत पर भी जोर दिया। रॉय के अनुसार, राज्य के कार्य चैतन्य लोगों के स्वतंत्र और स्वैच्छिक संगठन करेंगे, यह समस्या का आंशिक समाधान है। परामर्शदाता की हैसियत से राज्य लोगों द्वारा बनाई गई नीतियों की देख-रेख करने के साथ प्रशासनिक जिम्मेदारियां निभाएगा। स्थानीय समितियों में हिस्सेदारी से लोगों में अपने संप्रभु अधिकारों के प्रति जागरुकता पैदा होगी।

इस नई सामाजिक व्यवस्था की आर्थिक गतिविधियों की तीन प्रमुख विशिष्टताएं हैं:

क) सहकारी अर्थव्यवस्था

ख) केंद्रीय योजना

ग) विज्ञान और टेक्नोलाजी (अभियांत्रिकी)

रॉय पूंजीवाद और राज्य-नियंत्रित समाजवाद दोनों के विरुद्ध थे, उन्होंने व्यापक सहयोग और विकेंद्रीकरण के सिद्धांतों पर आधारित एक नई अर्थव्यवस्था का प्रारूप तैयार किया। गांव, जिला, क्षेत्र और राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक गतिविधियों के संचालन की जिम्मेदारी बहुउद्देशीय सहकारी समितियों की होगी। इसी प्रकार योजना की शुरुआत जन साधारण के स्तर से होनी चाहिए। विज्ञान और टेक्नोलाजी का इस्तेमाल आर्थिक विकास और स्वतंत्रता की चाहत के बीच ताल -मेल बैठाने का होना चाहिए।

इस तरह, मार्क्सवाद से क्रांतिकारी मानवतावाद तक की रॉय की वैचारिक यात्रा "सर्वहारा की तानाशाही" से "दलविहीन जनतंत्र" तक की राजनैतिक व्यवस्था की यात्रा है। इस पूरी वैचारिक यात्रा में यह मान्यता है कि क्रांति का सूत्रपात सदा क्रांतिकारी विचारों द्वारा ही होता है और राजनैतिक क्रांति के लिए दार्शनिक क्रांति आवश्यक है। "रैडिकल डेमोक्रेसी" के सिद्धांतों के अनुसार समाज का पुनर्गठन इस तरह किया जाना चाहिए जो व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं की सुरक्षा करते हुए जन-साधारण के विकास और समृद्धि का पथ प्रशस्त करे। इस प्रकार, क्रांति का सत्ता-संघर्ष या हिंसा से कोई संबंध नहीं है, क्रांति का उद्देश्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण बदलना और दार्शनिक पुनर्निर्माण होना चाहिए।

29.5 मूल्यांकन

एम.एन. रॉय पहले राजनैतिक चिंतक थे, जिन्होंने समकालीन बौद्धिक परंपराओं को निरस्त करके औपनिवेशिक शासन की नई व्याख्या की। उन्होंने मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य से भारतीय समाज की व्याख्या का प्रयास किया। इसके बावजूद, उन्हें भारतीय इतिहास का त्रासद व्यक्तित्व कहा जाता है। उनका राजनैतिक जीवन असफलताओं से भरा था। यदि हम रॉय का मूल्यांकन उनके लेखन ही के आधार पर करें तब भी बहुत गड़बड़ियां नजर आती हैं।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि चिंतन की दिक्कतें रॉय की विचार प्रणाली में ही थी। उन्होंने क्रांतिकारी मानवतावादी चरण में अपनी पुरानी मार्क्सवादी आस्थाओं का पूरी तरह निषेध किया। साथ ही, उन्होंने संसद, चुनाव, दलीय व्यवस्था जैसे उदारवादी विचारों की भी आलोचना की। यह नया दर्शन एक ऐसी व्यवस्था की कल्पना करता है जिसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण, शिक्षा और सहयोग की भावना के जरिए व्यक्तियों में परस्पर सामंजस्य पैदा किया जा सकता है।

रॉय ने भारत की सामाजिक समस्याओं का अध्ययन तो किया किंतु उनके समाधान का कोई दर्शन न दे सके। समाज का जो खाका उन्होंने बनाया उसमें तार्किक निरंतरता का अभाव था। यही कारण है कि उन्हें नेहरू और गांधी के श्रेणी का चिंतक नहीं माना जा सकता।

29.6 सारांश

इस इकाई में आपने भारतीय समाज की मार्क्सवादी (वर्ग) विश्लेषण की शुरुआत करने वाले चिंतक एम.एन. रॉय के विचारों के बारे में पढ़ा। आपने रॉय के मार्क्सवाद से मोहभंग के बारे में भी पढ़ा। मोहभंग के बाद रॉय ने क्रांतिकारी मानवतावाद का दर्शन दिया। अंत में आपने रॉय के विचारों की कमियों और खूबियों के बारे में भी पढ़ा। इससे आपको एम.एन. रॉय के मौलिक और रुमानी विचारों को समझने में मदद मिली होगी।

29.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

समरेन रॉय, *एम.एन. रॉय द टवाइस बार्न हेरेटिक*

वी.बी. कार्निक, *बायोग्राफी ऑफ एम.एन. रॉय*

जे.सी. जौहरी, *द ग्रेट रैडिकल ह्यूमनिस्ट*

जे.बी.एच. वाडिया, *एम.एन. रॉय*

थामस पेंथम (सं), *इंडियन पालिटिकल थाट*

29.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

देखें 29.2

बोध प्रश्न 2

देखें 29.3.1 और 29.3.2

इकाई 30 समकालीन मार्क्सवादी चिंतन (भारत)

इकाई की रूपरेखा

30.0 उद्देश्य
30.1 प्रस्तावना
30.2 भारतीय मार्क्सवादी चिंतन की विशिष्टता
30.3 भारतीय मार्क्सवादी और ऐतिहासिक भौतिकवाद
30.4 औपनिवेशिक शासन के बारे में भारतीय मार्क्सवादियों के विचार
30.5 भारतीय मार्क्सवादी और भारतीय स्वतंत्रता की प्रकृति
30.6 भारतीय राजसत्ता और शासक वर्ग के बारे में मार्क्सवादियों के विचार
30.6.1 भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन में विभाजन
30.6.2 भारतीय मार्क्सवादी और भारतीय राज
30.7 भारतीय मार्क्सवादी और विदेश नीति
30.8 भारतीय मार्क्सवादी और कांग्रेस
30.9 भारतीय मार्क्सवादी और जाति व्यवस्था
30.10 भारतीय मार्क्सवादी और राष्ट्रीयता का प्रश्न
30.11 भारतीय मार्क्सवादी और संगठनिक रणनीति
30.12 सारांश
30.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें
30.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

30.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप समझ पायेंगे :

- भारतीय मार्क्सवादियों के चिंतन की विशिष्टता
- ऐतिहासिक भौतिकवादी, भारतीय इतिहास की मंजिलें, भारतीय स्वतंत्रता की प्रकृति, भारतीय राज्यसत्ता और शासक वर्ग के चरित्र, विदेश नीति, कांग्रेस पार्टी, जाति व्यवस्था, और राष्ट्रीयता के प्रश्नों के सापेक्ष भारतीय मार्क्सवादियों की स्थिति, तथा
- सांगठनिक रणनीति के प्रसंग में भारतीय मार्क्सवादियों के विचार।

30.1 प्रस्तावना

इस इकाई में समकालीन मार्क्सवादी चिंतन की चर्चा की गई है। इसके अंतर्गत मुख्य कम्युनिस्ट पार्टियों—भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी लेनिनवादी) को लिया गया है। इन पार्टियों के दृष्टिकोण से आपके समकालीन मार्क्सवादी चिंतन का एक सामान्य बोध हो जायेगा।

30.2 भारतीय मार्क्सवादी चिंतन की विशिष्टता

भारत में मार्क्सवादी चिंतन का पश्चिम की भांति एक सुविकसित स्तर नहीं है। मार्क्सवाद पाश्चात्य बौद्धिक परंपरा की उपज है। पाश्चात्य विश्व में बौद्धिक विकास का तर्क एक निर्णायक मंजिल तक आ चुका है। पुनर्जागरण सुधार आंदोलन और प्रबोधन प्रयासों ने

पश्चिम के बौद्धिक इतिहास को एक सृजनात्मक चरण, मार्क्सवाद, तक पहुंचाया। इस नये चिंतन की आधारशिला मार्क्स और एगेल्स ने रखी थी। भारत में हमें वैसी समृद्ध बौद्धिक परंपरा नहीं मिलती। हमारी बौद्धिक परंपरा में मौलिक चिंतन के लिए अति अल्प अवकाश मिलता है। एक मार्क्सवादी के लिए मौलिक और रचनात्मक होना अत्यंत दुष्कर सिद्ध होता है। इसके बावजूद, तीसरी दुनिया के अनेक देशों की तुलना में भारतीय मार्क्सवादी परंपरा कुछ बुरी नहीं है। इसका एक लंबा इतिहास है। भारत के मार्क्सवादी बौद्धिक मुख्यतः कम्युनिस्ट पार्टियों के आसपास हैं। इनमें से कुछेक अन्य सृजनात्मक क्षेत्रों में ही मिलते हैं।

30.3 भारतीय मार्क्सवादी और ऐतिहासिक भौतिकवाद

भारत के कम्युनिस्ट हमेशा से एक मार्क्सवादी ढांचे के अंतर्गत व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रयासशील रहे हैं। दार्शनिक चिंतन के लिए बहुत कम समय वे निकाल पाये हैं। उनका आधारभूत सरोकार भारतीय परिस्थितियों में ऐतिहासिक भौतिकवाद के प्रयोग से रहा है। अधिकांश भारतीय मार्क्सवादियों का संवाद भारतीय समान संबंधी मार्क्स की रचनाओं में रहा है। भारतीय इतिहास के निरूपण में मार्क्स ने दो महत्वपूर्ण बिंदु सामने रखे थे। पहला यह कि अंग्रेजी शासन के पहले भारतीय समान एक अवरुद्ध/जड़ताग्रस्त समाज था। ग्रामीण-सामुदायिक और जाति आधारिल समाज ऐसा सामाजिक ढांचा प्रदान कराते थे जिसके अंतर्गत भारतीय अर्थव्यवस्था अपरिवर्तनशील बनी रही थी। दूसरा यह कि भारतीय समाज के उपरोक्त पहलू के विध्वंस में सहायक होकर अंग्रेजी शासन परोक्ष रूप से वरदान सिद्ध हुआ और उसने पुनसृजन की परिस्थितियां रचीं। स्वयं मार्क्स की उक्ति इस प्रकार है : ''भारत में उनके (अंग्रेजों के) शासन के इतिहास के पृष्ठों से उपरोक्त विध्वंस से अधिक कुछ का शायद ही पता चलता है। पुनसृजन का कार्य मलबे के ढेर से शायद ही संभव होता है। फिर भी इस प्रक्रिया की शुरुआत हो चुकी है।

अंग्रेजी शासन अपने ही द्वारा प्रवर्तित परिवर्तनों की प्रक्रिया रोक नहीं सकता था। इन परिवर्तनों की स्वाभाविक परिणति राष्ट्रीय एकता के रूप में होनी थी। और फिर प्रेस की स्वतंत्रता और अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार ने भारतीय समाज व्यवस्था में मूलगामी परिवर्तन किए। नवीन विचारों से युक्त शिक्षित समुदाय ने इस समाज के राजनीतिक रूपांतरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। किसी भी इतिहास का बोध प्राप्त करने के लिए मार्क्सवादियों के पास एक ऐतिहासिक ढांचा है। ऐतिहासिक विकास की कुछ विशेष मंजिलें हैं। जैसे आदिम साम्यवादी, दास व्यवस्था, सामंतवाद और पूंजीवाद—प्रत्येक समाज का ऐतिहासिक विकास इन मंजिलों से गुजरता है। कुछेक प्रमुख कम्युनिस्टों ने उपरोक्त ऐतिहासिक ढांचे का यांत्रिक रूप से प्रयोग किया। अपनी पुस्तक 'भारतः आदिम समाजवाद से दास प्रथा तक', में श्रीपाद अमृत डांगे ने भारतीय इतिहास में दास प्रथा का अस्तित्व स्वीकार किया। लेकिन, अधिकांश भारतीय कम्युनिस्ट इस दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हुए भारतीय इतिहास को बौद्धिक रचनात्मक दृष्टि से समझने का प्रयास करते हैं। ये सभी इस बात से सहमत हैं कि भारतीय इतिहास में दास व्यवस्था का अस्तित्व नहीं था। दास प्रथा की मंजिल से गुजरे बिना ही आदिम समाज जाति आधारित समाज व्यवस्था में रूपांतरित हो जाता है। भारतीय सामंतवाद ने जाति-व्यवस्था को अपने में अंतर्भुक्त कर लिया। योरोप के सामंतवाद से इसकी समानता इस बात में है कि यहां अर्ध-दासता की स्थिति नहीं मिलती जो योरोपीय सामतवाद का अभिन्न अंग है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिए उत्तर के आधार पर करें।

1) श्रीपाद अमृत डांगे से अधिकांश भारतीय मार्क्सवादियों का मतभेद किस बिंदु पर है?

....

....

....

....

30.4 औपनिवेशिक शासन के बारे में भारतीय मार्क्सवादियों के विचार

सभी भारतीय मार्क्सवादी इस बिंदु पर सहमत हैं कि औपनिवेशिक शासन के अधीन भारत पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया से गुजरा था। अंग्रेजी शासन ने भारतीय समाज में कुछ मूलगामी रूपांतरण किए। सामाजिक प्रगति के लिए बाधक बन चुकी कुछ सामाजिक संस्थाओं जैसे ग्रामीण समुदायों को उसने विध्वंस किया। औपनिवेशिक नीति ने दस्तकार समुदाय को प्रभावित किया। औपनिवेशिक शासन की **डि-इंडस्ट्रियलाइज़ेशन (विऔद्योगिकरण)** नीति के चलते वे घोर दरिद्रता की स्थिति में ठेल दिए गए। अंग्रेजी शासन के सकारात्मक पहलुओं को भी पहचानना आवश्यक है, जिनके फलस्वरूप आधुनिक उद्योगों के विकास की परिस्थितियां बनीं। भारत में रेलवे की शुरुआत के साथ, मार्क्स की प्रत्याशा के अनुरूप भारत औद्योगिकीकरण की मंजिल से अनिवार्यतः गुजरना था यद्यपि अंग्रेजी शासन का ऐसा कोई इरादा मंतव्य नहीं था। मार्क्स के पर्यवेक्षण के अनुसार "लोहे और कोयले से भरपूर किसी देश के संचार माध्यम में मशीनतंत्र का प्रवर्तन करने के बाद आप इसे इसके Fabrications से वंचित नहीं रख सकते। रेलवे संचार की फौरी तथा वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आवश्यक औद्योगिक प्रक्रियाओं के बिना रेलवे का जाल नहीं बनाए रखा जा सकता। और उपरोक्त आवश्यकताओं के फलस्वरूप ही रेलवे से प्रत्यक्ष रूप से नहीं जुड़े उद्योग-क्षेत्रों में मशीनतंत्र के प्रयोग को बल मिलता है। इसलिए रेलवे प्रणाली, वस्तुतः भारत में आधुनिक उद्योगों की प्रवर्तक सिद्ध होगी। रेलवे प्रणाली में प्रतिफलित आधुनिक उद्योग उस "आनुवंशिक/पारंपरिक श्रमविभाजन को समाप्त कर देगा जिस पर ही भारत की प्रगति एवं शक्ति के सामने निर्णायक अवरोध, जाति व्यवस्था टिकी हुई है।"

अंग्रेजी शासन भारत की आर्थिक प्रगति रोक नहीं पाया। भारत में पूंजीवादी विकास ने एक मंजिल प्राप्त की। दो विश्व युद्धों के बीच की अवधि में बड़े पैमाने पर औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया पूरी हुई। इससे भारत की स्वाधीनता अभियान को समर्थन देने के लिए भारतीय पूंजीपति वर्ग को आर्थिक संबल मिला।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिए उत्तर के आधार पर करें।

1) भारतीय समाज पर अंग्रेजी शासन के सकारात्मक/नकारात्मक प्रभाव क्या थे?

....

....

....

....

30.5 भारतीय मार्क्सवादी और भारतीय स्वतंत्रता की प्रकृति

भारत के स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भारतीय स्वतंत्रता की प्रकृति मार्क्सवादियों के बीच विवाद का बिंदु बन गई। इस मसले से संबंधित विवाद से कम्युनिस्टों के मतभेद उभर कर आए। स्वतंत्रता के प्रकृति के बारे में मूलतः तीन प्रकार के विचार थे। कम्युनिस्टों के एक हिस्से ने भारतीय स्वतंत्रता को धोखाधड़ी का नाम दिया। भारत अंग्रेजी शासन के अधीन एक उपनिवेश था और तथाकथित स्वतंत्रता के बाद अंग्रेजी तथा अमरीकी साम्राज्यवाद के नव उपनिवेश में बदल गया था। दूसरे समूह के विचारों के अनुसार भारत ने सही अर्थों में स्वतंत्रता प्राप्त की थी और अब स्वतंत्र आर्थिक विकास के माध्यम से वह साम्राज्यवादी विश्व के शिकंजे से पूरी तरह स्वतंत्र हो सकेगा। तीसरे समूह की वैचारिक स्थिति उपरोक्त दोनों के बीच की है। यह भारत की स्वतंत्रता को स्वीकार तो करता है, लेकिन इस बात पर भी बल देता है कि साम्राज्यवाद को खतरा बराबर बना हुआ है जिससे निपटने के लिए सदिच्छा मात्र पर्याप्त नहीं है।

30.6 भारतीय राजसत्ता और शासक वर्ग के बारे में मार्क्सवादियों के विचार

30.6.1 भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन में विभाजन

भारतीय राजसत्ता और शासक वर्ग के चरित्र के प्रश्न पर भारत के कम्युनिस्टों के बीच मतभेद उभरे थे। स्वातंत्र्योतर इतिहास में कांग्रेस पार्टी की भूमिका भी एक विचारणीय बिंदु है। स्वतंत्रता के बाद हुए राजनीतिक रूपांतरण से कम्युनिस्टों के बीच व्यापक विवादों को जन्म दिया और अंततः पार्टी को विभाजन की स्थिति का सामना करना पड़ा। प्रत्येक गुट पार्टी के अंतर्गत एक विशेष राजनीतिक प्रवृत्ति बना रहा। 1964 तक कम्युनिस्ट पार्टी एक मंच के रूप में क्रियाशील रही। अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में पड़ी फूट ने मतभेदों को और उग्र बना दिया। कम्युनिस्ट पार्टी का औपचारिक रूप से विभाजन 1964 में हुआ। लेकिन यह क्रिया यहीं नहीं रुकी। वर्ष 1967 में एक और विभाजन हुआ। वर्तमान समय में समूचे भारत में अनेक विभाजित समूह हैं। लेकिन कम्युनिस्ट राजनीति के अंतर्गत तीन प्रमुख समूह ऐसे हैं, जिनका राजसत्ता योजना और शासक वर्ग संबंधी मसलों पर मतभेद गंभीर चर्चा की अपेक्षा करता है।

30.6.2 भारतीय मार्क्सवादी और भारतीय राज

राजसत्ता के चरित्र के प्रश्न पर भारतीय कम्युनिस्टों का दृष्टिकोण उपकरणवादी है। राजसत्ता शासक वर्गों का उपकरण है और उनके हितों के संरक्षण एवं संवर्धन के लिए कार्य करती है। भारतीय राजसत्ता के संबंध में प्रत्येक कम्युनिस्ट पार्टी का एक राजनीति सिद्धांत है। शासक वर्ग की एक समय भारतीय राजसत्ता के चरित्रांकन में सहायक हो सकती है। भारत में हम तीन कम्युनिस्ट पार्टी पाते हैं : भा.क.पा., मा.क.पा. और भा.क.पा. (मा-ले)। हमें भारतीय राजतंत्र के चरित्र के प्रश्न पर प्रत्येक पार्टी के दृष्टिकोण को समझना होगा। भा.क.पा. की प्रस्थापना इस प्रकार है : "भारत में राजसत्ता समग्र रूप में राष्ट्रीय पूंजीपतियों के वर्गीय शासन का अभिकरण है, और इसके अंतर्गत बड़े पूंजीपतियों का शक्तिशाली प्रभाव है। यह वर्गीय शासन भूस्वामियों से जुड़ा हुआ है। उपरोक्त कारक राजकीय सत्ता के अंतर्गत प्रतिक्रियावादी शक्तियों को बढ़ावा देते हैं।"

उपरोक्त वक्तव्य के दो भाग हैं। पहला यह कि राजसत्ता बड़े पूंजीपति वर्ग के हाथ में है, जो राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के रूप में उभरा। ग्रामीण भारत के भूस्वामियों से अपने संबंध उसने समाप्त नहीं किए हैं। यह तथ्य भारतीय राजनीति में प्रतिगामी शक्तियों के उभार का प्रोत्साहन मिलता है। राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की प्रगतिशील भूमिका को वे स्वीकार करते हैं। शासक कांग्रेस पार्टी इसी वर्ग की पार्टी होने के नाते सामाजिक प्रगति का अभिकारक बन सकती है। आधारभूत रूप में, कांग्रेस पार्टी ग्रामीण भारत के सामंती हितों के विरुद्ध संघर्ष में समर्थ हो सकती है।

मा.क.पा. की प्रस्थापना इस प्रकार है : "वर्तमान भारतीय राजसत्ता, बड़े पूंजीपतियों के नेतृत्व पूंजीपतियों और भूस्वामियों के वर्गीय शासन का औजार है जो पूंजीवादी विकास को प्रोत्साहित करने के लिए विदेशी वित्तीय पूंजी से अधिकाधिक समझौते कर रहे हैं। हमारे राष्ट्रीय जीवन में राजसत्ता की भूमिका और प्रकार्य उपरोक्त वर्गीय चरित्र से ही सारभूत रूप में निश्चित होते हैं।"

मा.क.पा. की दृष्टि में शासक वर्ग का संयोजन पूंजीपतियों और भूस्वामियों से हुआ है। भारतीय राजसत्ता में इन दोनों की साझेदारी है। और फिर, भारतीय पूंजीपति विदेशी पूंजीपतियों से गंठजोड़ कर रहे हैं। राजसत्ता, पूंजीपतियों और भूस्वामियों का उपकरण है। कांग्रेस पार्टी इन्हीं वर्गों की पार्टी है। भारतीय राजनीति में प्रगतिशील भूमिका निभाने का इसका सामर्थ्य बहुत कम है। सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक प्रगति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, जब तक कि इस राज्यसत्ता को क्षीण, ध्वस्त करके इसके स्थान पर जनता के जनावाद की स्थापना नहीं की जाती।

मा.क.पा. (मा-ले) कोई समरूप राजनीतिक समूह नहीं है। इस सामान्य मंच के अंतर्गत अनेक समूह सक्रिय हैं। पार्टी के अंदर प्रभुत्वशाली विचार सारणी इस प्रकार ही है : "कांग्रेसी शासन के अंतर्गत भारत कहने मात्र के लिए स्वतंत्र है तथ्यतः यह अर्ध-औपनिवेशिक और अर्ध-सामंती देश से अधिक कुछ नहीं है। कांग्रेस पार्टी प्रशासन भारतीय सामंती नरेशों, बड़े

भूस्वामियों और दलाल नौकरशाह पूंजीपतियों के हितों का प्रतिनिधित्व करती है। दूसरे शब्दों में भारतीय शासक वर्ग का एक दलाल चरित्र है। वे अमरीकी और रूसी साम्राज्यवाद के अधीन बने हुए हैं। पूंजीपतियों और भूस्वामियों के बीच मित्रवत संबंध हैं। भारतीय राज्यसत्ता इन वर्गों का ही उपकरण है, जो भारतीय जन समुदाय के हित में कभी काम नहीं करते। इस राज्यसत्ता का चरित्र प्रतिक्रियावादी है। वर्तमान भारतीय राज्यसत्ता और कांग्रेस पार्टी सामाजिक परिवर्तन के अभिकरण नहीं हो सकते।

भा.क.पा. और मा.क.पा. दोनों ही भारतीय राज्यसत्ता की एक सीमा तक स्वायत्तता स्वीकार करते हैं। वर्तमान वर्गीय संयोजन के अंतर्गत समाज के विकास में राज्य एक निर्णायक भूमिका निभा सकता है। दोनों ही पार्टियां योजनाबद्ध विकास को कार्यक्रम स्वीकार करती हैं। यह योजनाबद्धता भारतीय पूंजीपति वर्ग की शक्ति के लिए संपूरक बनती है। अपने विलंबित विकास के कारण भारतीय पूंजीपति वर्ग के पास स्वतंत्र विकासपथ अपनाने के लिए पर्याप्त पूंजी और तकनीक नहीं है। राजकीय अथवा सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम उन्हें अपने विकास में सहायता पहुंचा सकते हैं। भारतीय अर्थतंत्र में सार्वजनिक क्षेत्र ने पूंजी प्रधान उद्योगों को अपनाया है।

इस तथ्य ने भारतीय पूंजीपति वर्ग को विदेशी पूंजी पर निर्भरता कम करने में सहायता की है। अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में एक सीमा तक जोड़-तोड़ का सामर्थ्य भी उन्हें प्राप्त हुआ है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिए गए उत्तर के आधार पर करें।

1) मा.क.पा. के अनुसार भारत के शासक वर्ग का संयोजन किन-किन वर्गों से हुआ?

....

....

....

....

30.7 भारतीय मार्क्सवादी और विदेश नीति

विदेश नीति के क्षेत्र में भा.क.पा. और मा.क.पा. दोनों ही गुट-निरपेक्षता नीति का समर्थन करते हैं। भारत पश्चिमी देशों अथवा सोवियत किसी भी गुट का सदस्य नहीं है। स्वतंत्रता के बाद भारत ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक स्वतंत्र पथ अपनाया है। राष्ट्रीय हितों के बेहतर संरक्षण में यह तथ्य सहायक बना है। सोवियत संघ और अमेरिका से उन्हें आर्थिक अनुदान मिलता है।

30.8 भारतीय मार्क्सवादी और कांग्रेस

नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस पार्टी द्वारा योजनाबद्ध विकास और विदेश नीति के प्रसंग में सीधा सपाट और स्वतंत्र दृष्टिकोण अपनाने से कम्युनिस्ट पार्टी जनों में संभ्रम की स्थिति बन गई। भा.क.पा. के अनुसार नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करती थी। इंदिरा गांधी काल तक उनकी यह विचारसरणी बनी रही। कांग्रेस पार्टी ने गुट-निरपेक्षता नीति का अनुसरण किया। भारतीय अर्थतंत्र के क्षेत्र में इतने सार्वजनिक क्षेत्र को प्राथमिकता दी। यहां पर मा.क.पा. का दृष्टिकोण भा.क.पा. से कुछ भिन्न है। गुट-निरपेक्षता नीति भारतीय पूंजीपति वर्ग के, जो तीसरी दुनिया के देशों में समुचित विकास प्राप्त वर्ग है, चरित्र का परिणाम है। योजनाबद्ध विकास नीति का अनुसरण उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय पूंजी के सापेक्ष स्वायत्तता बनाये रखने के लिए किया। यह संभावना अवश्य है कि आर्थिक संकट में अधिकाधिक उतरने के साथ-साथ भारतीय पूंजीपति वर्ग विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी विदेशी पूंजी संस्थानों पर निर्भर करे।

भा.क.पा. और मा.क.पा. इस बात पर सहमत हैं कि कांग्रेस एक धर्मनिरपेक्ष पार्टी है लेकिन प्रायः साम्प्रदायिक शक्तियों के साथ समझौता कर लेती है। नेहरू, इंदिरा जैसे व्यक्तित्वों के कांग्रेस राजनीति में वर्चस्व ने पार्टी को अधिक अधिनायकत्ववादी स्वरूप दे दिया। इंदिरा गांधी के अधीन तो कांग्रेस पार्टी में नेतृत्व को किसी आंतरिक संगठनिक चुनाव का सामना नहीं करना पड़ा। इसीलिए मा.क.पा कांग्रेस का चरित्रांकन अधिनायकत्ववादी पार्टी के रूप में करती है, यद्यपि भा.क.पा. इस चरित्रांकन से सहमत नहीं है।

भा.क.पा. और मा.क.पा. दोनों ही के पास साम्प्रदायिकता और जाति व्यवस्था संबंधी कोई राजनीतिक सिद्धांत नहीं। राष्ट्रीय आंदोलन की अवधि में अधिकांश नेताओं ने अपने अनुभवों से ही एक बोध का स्तर प्राप्त किया था। उपरोक्त दोनों मसलों पर उनका बोध उदारवादी परंपराओं से भिन्न नहीं दिखता। भारत एक बहु सामुदायिक समाज है। वर्गीय राजनीति के समुचित व्यवहार के लिए अंतर्सामुदायिक सद्भाव आवश्यक है। जन राजनीति के मूलगामी स्वरूप अपनाने के साथ ही सांप्रदायिक राजनीति को शिकस्त मिलेगी।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिए उत्तर के आधार पर करें।

1) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के अनुसार कांग्रेस किन वर्गीय हितों का प्रतिनिधित्व करती है?

....

....

....

....

30.9 भारतीय मार्क्सवादी और जाति व्यवस्था

जाति व्यवस्था के प्रश्न पर उनके दृष्टिबोध का एक ऐतिहासिक आयाम है। आदिवासी समाज से किसान समाज में रूपांतरण की प्रक्रिया में भारत ने जाति-व्यवस्था को अंतर्भुक्त कर लिया है। जातियां, आधारभूत रूप में श्रम विभाजन पर आधारित उद्यम समूह हैं। पूंजीवाद के अंतर्गत जाति व्यवस्था रूपांतरित होगी। वर्गाधारित राजनीति जातिगत राजनीति पर अंकुश लगाने में समर्थ होगी। जातिगत राजनीति शासक वर्गीय राजनीति का ही अंग है। जैसा कि बी.टी. रणदिव ने अपना पर्यवेक्षण सामने रखा है : "धर्मांधता साम्प्रदायिकता और जातिवाद की निरंतरता उस समझौतापरस्ती से ही जुड़ी हुई है जिसके चलते पहले के भूमि/कृषि संबंध बने रहे हैं।" क्रमशः जातिवाद के प्रश्न पर उनके बोध में परिवर्तन आ रहा है। जाति व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष विचारात्मक एवं राजनीतिक स्तरों पर चलाया जाता है। जातिगत स्वरूपों की वैधता उच्चजातियों द्वारा निचली जातियों का शोषण संभव बनाती है। जाति व्यवस्था के विचारधारात्मक वर्चस्व के विरुद्ध संघर्ष चलाया जाना चाहिए। विषमता मूलक जाति व्यवस्था को ध्वस्त करने के भा.क.पा और मा.क.पा दोनों ही जातीय आधार पर आरक्षण नीति का समर्थन करते हैं।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिए उत्तर के आधार पर करें।

1) जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष के लिए मार्क्सवादी किस प्रकार के सुझाव देते हैं?

....

....

....

....

30.10 भारतीय मार्क्सवादी और राष्ट्रीयता का प्रश्न

भा.क.पा, मा.क.पा और भा.क.पा. (माले) सभी राष्ट्रीयताओं की स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं। भारत राष्ट्र विभिन्न राष्ट्रीयताओं का समुच्चय है। प्रत्येक राष्ट्रीयता सांस्कृतिक परंपरा से पुष्ट अलग पहचान पर आधारित है। इसीलिए सभी कम्युनिस्ट इस बात से एक सीमा तक सहमत हैं कि विभिन्न सांस्कृतिक समूहों को विकास का अवसर देने के लिए भारतीय यथार्थ को एक संघ का स्वरूप दिया जाना चाहिए। नवें दशक में भारतीय राजनीति में Ethnicity का सवाल उभरकर आया है। अपनी किसी पृष्ठभूमि के नाते जनजातीय समुदायों ने केंद्रीय (मध्य) भारत के क्षेत्रों में झारखंड जैसे जनजातीय राज्यों की मांग उठाई हैं। कम्युनिस्ट पार्टियां इससे सहमत हैं कि सभी ethnic समूहों को अपने क्षेत्र में स्वायत्त कार्य की अनुमति मिलनी चाहिए, जिसकी गारंटी हमारा संविधान भी करता है। कम्युनिस्ट मंडलियों में ethnicity के प्रश्न पर कोई स्पष्ट चिंतन सामने नहीं आया है।

30.11 भारतीय मार्क्सवादी और सांगठनिक रणनीति

राजनीतिक गोलबंदी के स्तर पर भा.क.पा और मा.क.पा. ने स्पष्ट रणनीति अपनाई है, जबकि भा.क.पा. (माले) संभ्रम का शिकार बनी हुई है। भा.क.पा. (माले) के कुछ गुट संसदीय मार्ग अपनाना नहीं चाहते और अन्य, विशेषकर इंडियन पीपुल्स फ्रंट (आई.पी.एफ.) संसदीय मार्ग को स्वीकार करती है। सभी पार्टियां संसदीय तरीकों और क्रांतिकारी जनदिशा के बीच तालमेल की समस्या का सामना कर रहे हैं। भा.क.पा. ने चुनावी राजनीति बेहिचक अपना ली है जबकि मा.क.पा. ने चुनावी राजनीति और जनाधारित राजनीति के बीच तालमेल का प्रयास किया है, लेकिन क्रमशः चुनावी राजनीति के चंगुल में फंस गई है। भा.क.पा. (माले) इस प्रश्न पर संभ्रमित रही है। फिर भी वह निचली जातियों और निम्न वर्गों को राजनीतिक गोलबंदी के लिए साथ लाने में सक्षम हुई है। बिहार के संदर्भ में मताधिकार की मांग एक मूलगामी राजनीतिक नारा बन जाता है क्योंकि निचली जातियों को प्रायः मतदान करने ही नहीं दिया जाता। एक जटिल जातिवाद ग्रस्त समाज में वर्गाधारित राजनीतिक रणनीति कोई सरल कार्य नहीं सिद्ध होती।

राजनीतिक संघर्ष की प्रक्रिया में ही कोई स्पष्टतर रणनीति उभर कर आ सकती है।

बोध प्रश्न 6

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिए उत्तर के आधार पर करें।

1) राजनीतिक गोलबंदी के लिए समुचित रणनीति के प्रश्न पर भारतीय मार्क्सवादियों के बीच मतभेदों की ओर संकेत कीजिए।

....
....
....
....

30.12 सारांश

भारतीय मार्क्सवादी चिंतन की योरोप के मार्क्सवादी चिंतन की भांति कोई समृद्ध परंपरा नहीं है। भारतीय इतिहास के काल विभाजन के प्रश्न पर भारतीय मार्क्सवादियों के बीच मतभेद रहे हैं। लेकिन वे इस बात पर सहमत हैं कि भारतीय इतिहास में दास प्रथा का अस्तित्व कभी नहीं था। वे इस बात पर भी सहमत हैं कि औपनिवेशिक काल में भारत पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया से गुजरा। भारतीय स्वतंत्रता की प्रकृति, भारतीय राजसत्ता और शासक वर्ग के चरित्र संबंधी प्रश्नों पर उनके बीच मतभेदों का परिणाम था भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन में विभाजन। भारतीय मार्क्सवादी जाति व्यवस्था का बोध एक प्रकार के (श्रम) विभाजन के रूप

में करते हैं। जबकि भा.क.पा. और मा.क.पा. दोनों ही राजनीतिक गोलबंदी के संसदीय तरीकों के विरुद्ध नहीं हैं, मा.क.पा. गोलबंदी की रणनीति के प्रश्न पर संभ्रमित दृष्टिकोण अपनाती रही है।

30.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बी.टी. रणदिव, *दी इंडिपेंडेंस स्ट्रगल एंड आफ्टर*, नई दिल्ली, 1988
मैथ्यू कुरियन (सं) *इंडिया—स्टेट एंड सोसाइटी*, नई दिल्ली 1975।

30.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें 30.4

बोध प्रश्न 2

1) देखें 30.4.1

बोध प्रश्न 3

1) देखें 30.6.2

बोध प्रश्न 4

1) देखें 30.8

बोध प्रश्न 5

1) देखें 30.9

बोध प्रश्न 6

1) देखें 30.11

इकाई 31 राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति : एक अवलोकन

इकाई की रूपरेखा

31.0 उद्देश्य
31.1 प्रस्तावना
31.2 राष्ट्रीय आंदोलन, समाजवाद और सामाजिक-क्रांति : एक अवलोकन
  31.2.1 जवाहरलाल नेहरू
  31.2.2 सुभाष चंद्र बोस
  31.2.3 समाजवादी
31.3 मार्क्सवाद, समाजवाद और सामाजिक-क्रांति : एक अवलोकन
  31.3.1 कम्युनिस्ट
  31.3.2 एम.एन. रॉय
31.4 सारांश
31.5 शब्दावली
31.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
31.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

31.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम सामाजिक क्रांति की समाजवादी और कम्युनिस्ट अवधारणाओं पर चर्चा करेंगे। सामाजिक-क्रांति को मुद्दा बनाने वाली दोनों ही धाराएं, राष्ट्रीय आंदोलन की उपज होने के नाते उससे प्रभावित थीं। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्न बातें समझ सकेंगे :

- दो धाराओं के प्रतिनिधियों के विचारों में अंतर
- एक ही धारा के विभिन्न प्रतिनिधियों के विचारों में अंतर, और
- इन विचारों का आजादी की लड़ाई में योगदान।

31.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों में जवाहरलाल नेहरू, सुभाष बोस, जयप्रकाश नारायण आदि चिंतकों के विचारों के अलावा कम्युनिस्ट पार्टी और एम.एन. रॉय की राष्ट्रीय आंदोलन की विभिन्न अवधारणाओं पर चर्चा की गई है। राष्ट्रीय आंदोलन और सामाजिक-क्रांति के अंतःसंबंधों की एक व्यापक समझ विकसित करने में इनका तुलनात्मक अध्ययन मददगार साबित होगा।

गौर तलब है कि ये सभी विचारक साम्राज्य विरोधी थे और समाजवादी आदर्शों पर एक आधुनिक स्वतंत्र भारत का निर्माण करना चाहते थे। सरोकार की इस समानता के बावजूद समाजवाद की समझ में मतभेदों के चलते अंग्रेजी राज के विकल्प की उनकी अवधारणाएं एक दूसरे से भिन्न थीं। यह इकाई इन विचारों का एक तुलनात्मक अध्ययन है।

31.2 राष्ट्रीय आंदोलन, समाजवाद और सामाजिक क्रांति : एक अवलोकन

राष्ट्रीय आंदोलन में समाजवादी धारा का प्रतिनिधित्व प्रमुख रूप से, जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेंद्र देव, जयप्रकाश नारायण एवं कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी के अन्य चिंतक करते हैं।

ये विचारक, गैर-बराबरी, शोषण और अन्याय समाप्त करने वाले समाजवादी नैतिकता के आदर्शों से प्रभावित थे। लेकिन इनकी वरीयता क्रम में अहिंसक राष्ट्रीय आंदोलन सर्वोपरि था और ये रूसी क्रांति के हिंसक तरीकों के हिमायती नहीं थे। वे भारतीय राष्ट्रवाद के ही परिप्रेक्ष्य में भारत में समाजवादी समाज की रचना करना चाहते थे। वे हिंदू पुनरुत्थानवाद के विरोधी थे और धर्मनिरपेक्ष भारतीय राष्ट्रवाद के वैचारिक ढांचे में समाजवाद की उनकी समझ विकसित हुई।

31.2.1 जवाहरलाल नेहरू

सामाजिक परिवर्तन की नेहरू की समझ का आधार, भारतीय समाज के आधुनिकीकरण का उनका धर्मनिरपेक्ष और वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। नेहरू के समक्ष आधुनिकीकरण के दो ढांचे थे : पश्चिमी देशों का मुक्त-बाजार अर्थव्यवस्था वाला पूंजीवादी ढांचा और सोवियत संघ का नियोजित अर्थव्यवस्था वाला सामाजिक ढांचा। नेहरू के विचार अनुसार, दोनों ही ढांचो में कुछ-न-कुछ कमियां थीं। पाश्चात्य पूंजीवादी ढांचा उन्हें इसलिए स्वीकार्य नहीं था कि यह गैर-बराबरी और शोषण के अमानवीय मूल्यों पर आधारित है। वे सोवियत संघ के समाजवादी ढांचे में नियोजित अर्थव्यवस्था के प्रशंसक थे। सोवियत संघ की समाजवादी आर्थिक नीतियों से अत्यधिक प्रभावित थे और उनका मानना था कि शोषण, अन्याय और असमानता के शिकंजे से देश की मुक्ति के लिए समाजवाद ही एकमात्र विकल्प था। 1936 के लखनऊ कांग्रेस में उनका अध्यक्षीय भाषण उनकी समाजवादी रुझान का परिचायक है। लेकिन सोवियत संघ में समाजवादी पुनर्रचना में इस्तेमाल हो रहे तरीकों के वे हिमायती नहीं थे। वे एक ही दल द्वारा सत्ता के केंद्रीकरण और व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अधिकारों पर प्रतिबंध के भी विरोधी थे। शोषण की व्यवस्था खत्म करने के लिए वे सशस्त्र क्रांति और वर्ग-संघर्ष को आवश्यक नहीं मानते थे।

मोटे तौर पर, समाजवाद की उनकी अवधारणा निजी उपक्रमों पर सीमित सार्वजनिक नियंत्रण, नियोजित अर्थनीति, बहुलतावाद, व्यक्तिगत स्वतंत्रता जैसे मूल्यों पर आधारित थी। समाजवाद की उनकी यह अवधारणा राष्ट्रवादी ढांचे में जनतांत्रिक समाजवाद के फेबियन आदर्शों से प्रभावित थी। नेहरू, पारस्परिक सहयोग, शांतिपूर्ण विकास और धार्मिक सहिष्णुता जैसे परंपरागत मूल्यों के आधार पर समाजवादी समाज का निर्माण करना चाहते थे किंतु राष्ट्रवाद की उनकी समझ हिंदू पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद का विरोधी था।

असमानता को दूर किए बिना, नेहरू न्याय पर आधारित शोषण मुक्त समाज की रचना करना चाहते थे। साथ ही, छोटे-बड़े गरीब-अमीर सभी के वैयक्तिक अधिकारों और आजादी के हिमायती भी थे। यह एक ऐसा मानवतावाद है जो गैर-बराबरी खत्म किए बिना, शोषित और शोषक में पारस्परिक सहयोग का उपदेश देता है जिस पर अमल करना लगभग असंभव है। नेहरू का दर्शन चूंकि परस्पर विरोधी मूल्यों में समझौता कराने का प्रयास करता है इसलिए इसको कार्य रूप देना मुश्किल है। कुल मिलाकर देखें तो नेहरू का राष्ट्रवाद उनके समाजवाद पर हमेशा हावी रहा। उनके समझौतावादी आचरण और क्रांतिकारी दृष्टिकोण के अंतर्विरोधों के चलते सामाजिक क्रांति की संभावनाएं और भी धूमिल हो गईं।

31.2.2 सुभाष चंद्र बोस

सामाजिक परिवर्तन में सुभाष चंद्र बोस के विचार प्रखर राष्ट्रवादी भावना और व्यावहारिक राजनीति की उनकी समझ से उपजे थे। उनके विचार से राजनैतिक आजादी की लड़ाई का उद्देश्य जनसाधारण की आर्थिक और सामाजिक मुक्ति होनी चाहिए। उनका मानना था कि स्वतंत्र भारत में पूंजीपतियों और जमींदारों के निहित स्वार्थों की बजाय मज़दूरों और किसानों के हितों का पक्षधर होगा। बोस जमींदारी उन्मूलन, जमीन के न्यायपूर्ण पुनर्वितरण और नियोजित एवं एक समान लगान के हिमायती थे। विकास के मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था वाले पूंजीवादी रास्ते के वे विरोधी थे और समाजवाद की क्रांतिकारी विचारधारा के समर्थक। लेकिन आध्यात्मिक पृष्ठभूमि, विवेकानंद के प्रभावों और व्यावहारिक राजनीति की अपनी समझ के चलते, भौतिकवाद और वर्ग-संघर्ष के मूल्यों पर आधारित समाजवाद के मार्क्सवादी स्वरूप को उन्होंने कभी अंगीकार नहीं किया। इसीलिए अन्याय और शोषण के खिलाफ समाजवाद की प्रतिबद्धताओं के प्रति आकर्षित होने के बावजूद वे समाजवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मार्क्सवादी रणनीति के हिमायती नहीं थे।

उग्र राष्ट्रवादी भावनाओं के चलते बोस का वैचारिक परिवेश संकीर्ण होता गया। राष्ट्रवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वे शीघ्र और प्रभावी परिणाम देने वाले छोटे रास्ते की तलाश में

लग गए। राजनीति में व्यवहारवाद पर ज्यादा जोर देने की वजह से ही उन्होंने केंद्रीकृत राज्य-नियंत्रण और सैन्यवाद पर आधारित फासीवादी विचारधारा से हाथ मिलाया। मार्क्सवाद के समतावादी मूल्यों और फासीवाद के उग्र राष्ट्रवाद, अनुशासन और राज्य के कड़े नियंत्रण के सिद्धांतों का समन्वय, सामाजिक परिवर्तन का सबसे छोटा रास्ता है। इस मामले में बोस के विचार नेहरू एवं अन्य समाजवादियों से भिन्न थे जो फासीवाद के अमानवीय कृत्यों के प्रखर विरोधी थे।

बोस ने लेकिन स्पष्ट नहीं किया कि फासीवाद और मार्क्सवाद के परस्पर विरोधी विचारों का समन्वय कैसे किया जाएगा? फासीवाद मूलतः पूंजीवादी निहित स्वार्थों की कवच है और मार्क्सवाद पूंजीवाद का प्रबल विरोधी। परिणामस्वरूप अपने राष्ट्रवादी वैचारिक दृष्टिकोण के चलते बोस सामाजिक क्रांति की कोई साफ समझ विकसित करने में असफल रहे।

1.2.3 समाजवादी

राष्ट्रीय आंदोलन में समाजवादी धारा का प्रतिनिधित्व, प्रमुख रूप से आचार्य नरेंद्र देव, जय प्रकाश नारायण और राम मनोहर लोहिया जैसे चिंतक करते हैं। 1934 में इन लोगों ने कांग्रेस के अन्दर ही कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी का निर्माण किया और अपने क्रांतिकारी विचारों के कारण ये कांग्रेस के वाम-पक्ष के नाम से जाने जाते थे। नेहरू की ही तरह कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी भी केंद्रीकृत पार्टी तंत्र के लेनिन के विचारों से सहमत नहीं थी।

राष्ट्रवाद कांग्रेस सोशलिस्ट का प्रमुख सरोकार था और वे सहयोग और जनतांत्रिक विकेंद्रीकरण के सिद्धांतों पर एक ऐसी समाजवादी व्यवस्था के हिमायती थे जो सामाजिक न्याय और समानता के मूल्यों पर आधारित हो। विकास के लिए पूंजीवादी औद्योगिकरण की तुलना में ये ग्रामीण और कुटीर उद्योग के हिमायती थे। कांग्रेस सोशलिस्टों का मानना था कि गांव को आधार मानकर लघु उद्योगों के माध्यम से देश का बेहतर आर्थिक विकास हो सकता है। समाजवादी चिंतक भारत के विकास और सामाजिक परिवर्तन में कृषि की भूमिका को प्रमुख मानते थे। नेहरू के औद्योगीकरण और नियोजित-अर्थनीति के माध्यम से भारत के आधुनिकीकरण के विचारों के वे विरोधी थे।

कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी, जो भारत में समाजवाद की इस धारा का प्रतिनिधित्व करती है, धर्मनिरपेक्षता के मूल्यों की हिमायती थी और छुआछूत जैसी सामाजिक कुरीतियों का प्रखर रूप से विरोध करती थी। वह एक नैतिक और मानवतावादी समाजवाद की स्थापना करना चाहती थी। समाजवादी चिंतक भी सामाजिक क्रांति की दिशा में कोई महत्वपूर्ण योगदान इसलिए नहीं कर पाए क्योंकि वे असमान ऐतिहासिक परिस्थितियों में और सामाजिक सद्भावना के जरिए परिवर्तन चाहते थे। सहयोग की भावना और ग्रामीण विकास कार्यक्रम या विकेंद्रीकरण की योजनाएं भारत में सामाजिक क्रांति की दिशा में कोई महत्वपूर्ण योगदान करने में असफल रहे हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) नेहरू ने मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था या समाजवाद के सोवियत स्वरूप में किसी को नहीं स्वीकार किया, क्यों?

....

....

....

....

2) भारत में सामाजिक क्रांति के बारे में समाजवादियों के विचारों की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

31.3 मार्क्सवाद, समाजवाद और सामाजिक क्रांति : एक अवलोकन

स्वतंत्रता आंदोलन की एक और धारा मार्क्सवादी समाजवादियों की थी। कई मुद्दों पर समाजवादी विचार के राष्ट्रवादियों से उनके मतभेद थे। सामाजिक क्रांति के उनके विचार प्रमुख रूप से मार्क्सवाद के सिद्धांतों और 1917 की रूसी क्रांति पर आधारित थे। उनके विचार में चिंतन का राष्ट्रवादी ढांचा असमानता, शोषण और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने में असमर्थ था इसलिए वे नेहरू, नरेंद्र देव, जय प्रकाश नारायण आदि राष्ट्रवादियों द्वारा सुझाए गए रास्ते से असहमत थे। वे एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें राजनैतिक सत्ता मज़दूरों और किसानों के हाथ में हो। सामाजिक क्रांति के लिए मार्क्सवादी रास्ते के हिमायती थे। सामाजिक परिवर्तन की इस धारा का प्रतिनिधित्व भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, वरकर्स एंड पीजेंट्स पार्टी एवं मार्क्सवाद में आस्था व्यक्त करने वाले अन्य संगठन करते हैं, जिनमें एम.एन. रॉय और उनके अनुयायी प्रमुख हैं। गौर तलब है कि लंबे समय तक राय भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख विचारक और नेता थे। 1928 में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल से निष्कासन के बाद वे और उनके अनुयायी कम्युनिस्ट पार्टी और संबद्ध अन्य मज़दूर संगठनों से अलग हो गए।

31.3.1 कम्युनिस्ट

कम्युनिस्टों द्वारा अग्रसारित, सामाजिक क्रांति की वैकल्पिक रणनीति राष्ट्रवादी समाजवादियों के विचारों की आलोचना और मूल्यांकन पर आधारित थी। राष्ट्रवादी समाजवादियों की ही तरह वे भी हिंदू पुनरुत्थानवादी और छुआछूत जैसी सामाजिक कुरीतियों के विरोधी थे लेकिन उनका मानना था कि समाज के परंपरागत ढांचे को पूरी तरह तोड़े बिना भारत में सामाजिक क्रांति संभव नहीं थी। शोषण से मुक्ति, समानता, न्याय और स्वतंत्रता जैसे समाजवादी उद्देश्यों की प्राप्ति, नेहरू, बोस और कांग्रेस सोसलिस्टों के मध्यवर्गीय नेतृत्व में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन से संभव नहीं थी। वे राष्ट्रवादियों के प्रतिद्वंद्वी समूहों में आपसी सहयोग और सामंजस्य द्वारा सामाजिक क्रांति के विचारों से भी असहमत थे। वे भारत में मौजूद गैर-बराबरी की विषम परिस्थितियों में इस तरह के सहयोग और सद्भावना की बातों को अव्यावहारिक मानते थे। उनकी रॉय में राष्ट्रवाद चूंकि निहित स्वार्थों की रक्षा का विधान है इसलिए राष्ट्रवादी ढांचे में कोई भी सामाजिक परिवर्तन हो ही नहीं सकता।

इन विचारों से प्रेरित भारतीय कम्युनिस्टों ने सामाजिक क्रांति की एक वैकल्पिक समझ विकसित की। यह समझ वर्ग-संघर्ष की समझ थी जो राष्ट्रवादी समझ से बिल्कुल भिन्न थी। इस समझ के अनुसार आम आदमी की हालत तभी सुधर सकती है जबकि क्रांति का नेतृत्व मज़दूरों और किसानों के हाथों में हो। सहयोग और सामंजस्य की विचारधारा के विरुद्ध वे हिंसक क्रांति द्वारा सामाजिक परिवर्तन करना चाहते थे जिसमें मध्य वर्ग समेत धनी वर्गों को जबरन सत्ताच्युत कर दिया जाएगा। उनके विचार प्रमुख रूप से 1917 की रूसी क्रांति के मूल्यों से प्रभावित थे।

अपने क्रांतिकारी तेवर के बावजूद तमाम कारणों से सामाजिक क्रांति की यह समझ भी कारगर नहीं हो सकी। राष्ट्रवादी भावना लोगों के दिल में इस कदर बैठी थी कि कम्युनिस्टों द्वारा राष्ट्रवाद की प्रखर आलोचना भी उसे कम न कर सकी उल्टे इससे कम्युनिस्टों की प्रतिष्ठा ही गिरी। गांधी, बोस, नेहरू जैसे नेताओं को साम्राज्यवादी और पूंजीवादी दलाल के रूप में प्रचारित करने से भारत के कम्युनिस्ट राजनैतिक क्षितिज की मुख्यधारा से कटकर अलग-थलग पड़ गए। दूसरा प्रमुख कारण यह था कि यहां के कम्युनिस्ट रूसी क्रांति के ही ढर्रे पर भारत में भी क्रांतिकारी आंदोलन चलाना चाहते थे जबकि दोनों जगहों की भौतिक वस्तुस्थिति में मौलिक फर्क थे। तीसरा कारण यह था कि कम्युनिस्टों ने मजदूरों और किसान की क्रांतिकारी क्षमताओं और सभावनाओं का अतिरंजित मूल्यांकन किया। कुल मिलाकर कम्युनिस्टों का सामाजिक क्रांति का परिप्रेक्ष्य मशीनी और वास्तविकता से बेखबर था और इन्हीं कारणों से सामाजिक क्रांति का उनका दृष्टिकोण अव्यवहारिक साबित हुआ।

31.3.2 एम. एन रॉय

एम. एन. रॉय भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन शुरू करने वालों में थे और सामाजिक परिवर्तन की क्रांतिकारी समझ विकसित करने वाले पहले मार्क्सवादी चिंतक थे। रॉय की

समझ राष्ट्रवादी समझ से मेल नहीं खाती थी। शुरू में रॉय राष्ट्रीय आंदोलन को आंदोलन मानते थे और भारतीय राष्ट्रवाद को समुदायिक शक्ति। उनकी राय में भारत की मुक्ति मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में समाजवादी क्रांति से ही संभव थी। राष्ट्रवाद के प्रखर विरोधी होने के कारण उन्होंने गांधी और नेहरू जैसे राष्ट्रवादी नेताओं की तीव्र आलोचना की।

रॉय भारत में समाजवादी क्रांति के प्रति अत्यधिक आशावादी थे। उनकी इस आशावादिता के पीछे भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया की उनकी समझ थी। उनकी समझ से औपनिवेशिक राज्य की जरूरतों के चलते औद्योगीकरण की प्रक्रिया से क्रांतिकारी संभावनाओं से परिपूर्ण एक सशक्त मज़दूर वर्ग का उदय हो चुका था और क्रांति के लिए तैयार था। 1920 के दशक के औद्योगीकरण की गति और मज़दूरों के सशक्त वर्ग के रूप में उदय की उनकी अतिरंजित समझ से पता चलता है कि यूरोप से भारत में क्रांतिकारी आंदोलन का संचालन करने वाले रॉय वस्तुगत यथार्थ से कटे हुए थे। भारत के औद्योगीकरण में औपनिवेशिक शासन की कोई रुचि नहीं थी।

कामिन्टर्न से निष्कासन के बाद एम.एन. रॉय भारत लौट आए और इसी के साथ उनके चिंतन का दूसरा चरण शुरू हुआ। रॉय ने मार्क्सवाद की नए परिप्रेक्ष्य में व्याख्या और "क्रांतिकारी मानवतावाद" के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस चरण में भी राष्ट्रवाद के प्रति उनका आलोचनात्मक दृष्टिकोण बरकरार रहा और शायद इसी कारण कांग्रेस से उनकी दूरी बनी रही। अब रॉय के लिए मार्क्सवाद सशस्त्र क्रांति का राजनैतिक उपकरण मात्र नहीं था। उन्होंने भारत में सामाजिक क्रांति के लिए एक नई नैतिक चेतना की जरूरत पर जोर देना शुरू किया। उनके विचार से लोगों को नैतिक चेतना से लैस किए बिना कोई भी सामाजिक क्रांति असंभव थी। उनका मानवतावाद अमूर्त था और शायद इसलिए भारत में सामाजिक क्रांति में कोई सार्थक योगदान नहीं कर सका। उन्होंने जनता के बदले व्यक्तित्व के महत्व पर जोर देना शुरू किया। राजनैतिक सक्रियता छोड़कर वे अमूर्त मानवतावाद की वकालत करने लगे। मानवतावाद की अमूर्तता की अव्यवहारिकता के कारण रॉय के विचार भी सामाजिक क्रांति की दिशा में कोई महत्वपूर्ण योगदान करने में असफल रहे।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) कम्युनिस्टों द्वारा राष्ट्रवाद की आलोचना के कारण बताइए।

....
....
....
....

2) कम्युनिस्टों द्वारा प्रस्तावित सामाजिक क्रांति की वैकल्पिक समझ क्या थी?

....
....
....
....

3) कम्युनिस्टों द्वारा प्रस्तावित विकल्प की सीमाएं क्या थीं?

....
....
....
....

4) शुरुआती दौर में सामाजिक क्रांति के बारे में मानवेंद्र नाथ रॉय का क्या नज़रिया था?

....

....

....

....

5) क्रांतिकारी मानवतावादी के रूप में, क्या रॉय भारत में सामाजिक क्रांति का कोई संतोषजनक हल खोज सके?

....

....

....

....

31.4 सारांश

इस इकाई में भारत में सामाजिक क्रांति के मुद्दे पर समाजवादी रुझान के राष्ट्रवादियों और मार्क्सवादियों के दृष्टिकोणों के मूल्यांकन का प्रयास किया गया है। हिन्दू पुनरुत्थान, अंग्रेजी उपनिवेशवाद और पूंजीवादी मुक्त-बाजार अर्थव्यवस्था के दोनों ही विरोधी थे और समाजवादी मूल्यों के पक्षधर। उनके मतभेद मुख्य रूप से राष्ट्रवाद की समझ को लेकर थे। राष्ट्रवादी राष्ट्रीय मुक्ति को वरीयता क्रम में ऊपर रखते थे जबकि कम्युनिस्ट, राष्ट्रवाद को सामाजिक क्रांति की तुलना में गौण मानते थे। उनका मानना था कि राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य में कोई सार्थक सामाजिक क्रांति नहीं हो सकती। वर्ग संघर्ष पर जोर देते हुए कई बार कम्युनिस्टों ने राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति को परस्पर विरोधी बताया और परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा से अलग-थलग पड़ गए।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) समाजवादी रुझान के राष्ट्रवादियों और मार्क्सवादियों के विचारों में क्या समानताएं थीं?

....

....

....

....

2) उनके प्रमुख मतभेद क्या थे?

....

....

....

....

3) ऐसा क्यों हुआ कि सामाजिक क्रांति की राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी समझें अव्यवहारिक साबित हुईं?

....

....

....

....

31.5 शब्दावली

फासीवाद : संकटग्रस्त मुक्त-बाजार व्यवस्था की रक्षा के लिए हिंसा और आतंक पर आधारित विचारधारा।

मुक्त-बाजार व्यवस्था : इसे पूंजीवाद भी कहते हैं। इसमें स्वतंत्र विनिमय के नाम पर बाजार में विनिमय के नियम उत्पादन साधनों पर काबिज पूंजीपति वर्ग करता है।

पुनरुत्थानवाद : हिंदू धार्मिक परंपराओं का गौरव-गान करने वाली विचारधारा।

31.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चंद्र, बिपन एवं अन्य, 1972, *फ्रीडम स्ट्रगल*, नई दिल्ली

चंद्र बिपन एवं अन्य, 1988, *इंडियाज़ स्ट्रगल फॉर इंडिपेंडेंस : 1857-1947*, नई दिल्ली

देसाई, ए.आर, 1976, *सोशियल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज़्म*, बंबई.

सरकार, सुमित, *माडर्न इंडिया : 1885-1947*, मद्रास

वर्मा, वी.पी., 1980, *मार्डन पालिटिकल थॉट*, आगरा।

31.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें 31.2.1
2) देखें 31.2.3

बोध प्रश्न 2

1) देखें 31.3.1
2) देखें 31.3.1
3) देखें 31.3.1
4) देखें 31.3.2
5) देखें 31.3.2

बोध प्रश्न 3

1) देखें 31.4
2) देखें 31.4

Notes